

An International Registered Peer Reviewed Bilingual Research Journal

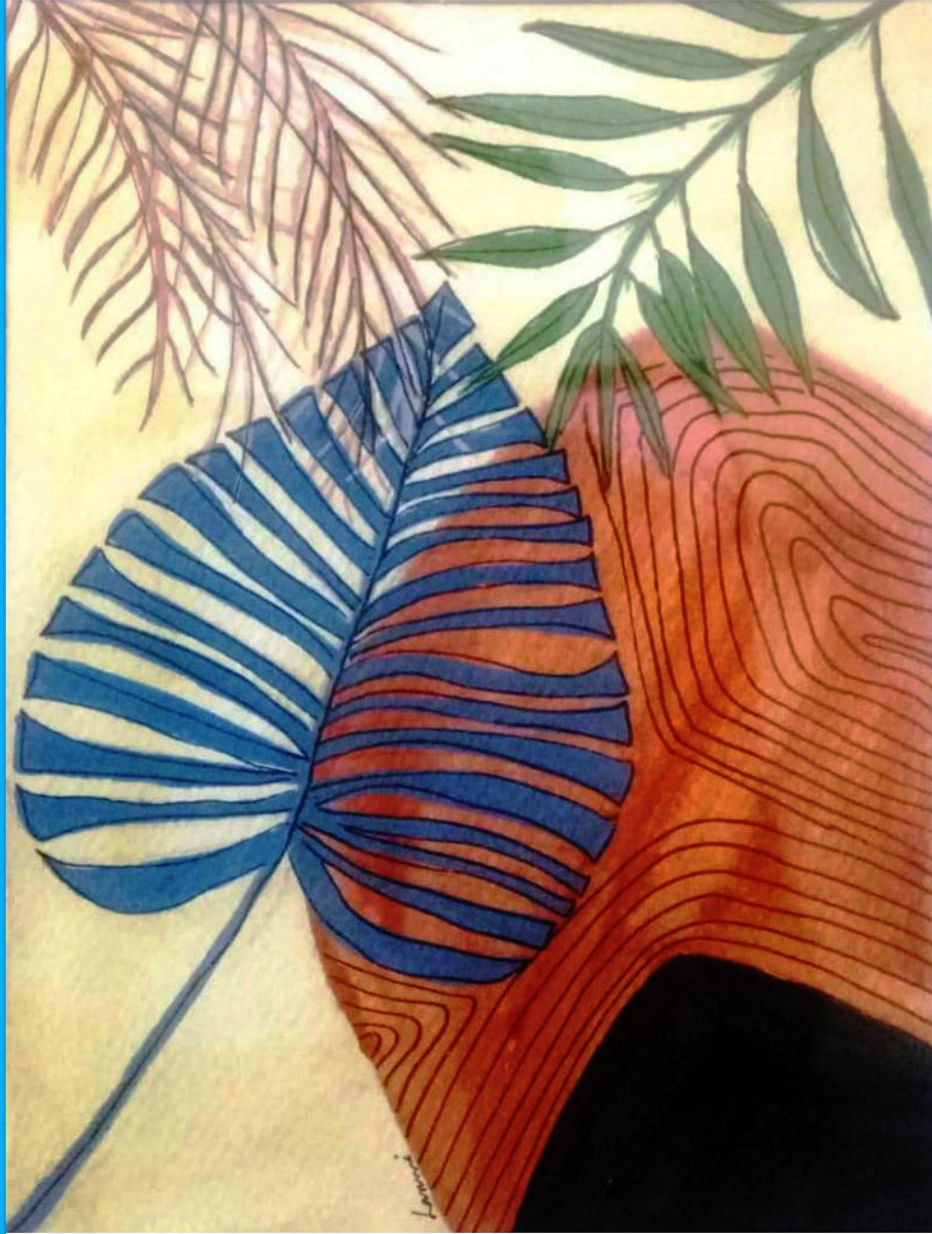
SATRAACHEE

ISSN 2348-8425

सत्राची

संयुक्तांक

वर्ष 8, अंक 26-27, जनवरी-जून, 2020



ISSN : 2348-8425

सत्राची

वर्ष 8, अंक 26-27, जनवरी-जून, 2020

संरक्षक

चंद्रावती सिंह
तेलानी मीना होरो
दिलीप राम

प्रधान संपादक

कमलेश वर्मा

संपादक

आनन्द बिहारी

समीक्षा संपादक

सुचिता वर्मा, आशुतोष पार्थेश्वर

सह-संपादक

जयप्रकाश सिंह

संपादन सहयोग

भावना मिश्रा

सलाहकार समिति व समीक्षा मंडल

मुक्तेश्वर नाथ तिवारी, राजू रंजन प्रसाद, अंजय कुमार, सुचिता वर्मा,
आशुतोष पार्थेश्वर, तेलानी मीना होरो, दिलीप राम, पुष्पलता कुमारी,
अरविन्द कुमार, नीरा चौधुरी, दिनेश बल्लभ, श्रीकांत पाठक।

□□□

सत्राची

मानविकी एवं सामाजिक विज्ञान की पूर्व समीक्षित त्रैमासिक शोध पत्रिका

मूल्य : एक प्रति 150 रुपए

सदस्यता शुल्क :

पंचवार्षिक	: 3000 रुपए (व्यक्तिगत)
	: 8000 रुपए (संस्थागत)
आजीवन	: 10,000 रुपए (व्यक्तिगत)
	: 20,000 रुपए (संस्थागत)

बैंक द्वारा सदस्यता शुल्क भेजने के लिए खाते का विवरण निम्नवत है :

ANAND BIHARI, A/C No.: 38557011778

IFSC : SBIN0006551, Boring Canal Rd.-Rajapool, East
Boring Canal Road, Patna, Bihar, Pin: 800001

© सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रकाशित रचनाओं से संपादक का सहमत होना आवश्यक नहीं है।

संपादन/प्रकाशन : अवैतनिक/अव्यावसायिक

संपादकीय संपर्क :

आनन्द बिहारी

केशव कुंज, फ्लैट नं. 1, निचला तल्ला

बॉलिया चौक, सलिमपुर अहरा,

कदमकुआँ, पटना, बिहार, पिन : 800003

E-mail : satraachee@gmail.com

: editor.satraachee@gmail.com

Mob. : 9661792414, 9470738162

website : www.satraachee.weebly.com



SATRAACHEE

इस अंक में...

संपादकीय

आलेख

- 07 :: 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' : आजीवक दर्शन को समझने के क्रम में दिनेश राम
44 :: प्रेमचंद की कहानियाँ : उर्दू-हिंदी पाठ भेद के कुछ उदाहरण आशुतोष पार्थेश्वर
और कुछ सवाल
62 :: 'उत्तरार्द्ध' लघु पत्रिका में प्रकाशित जनवादी काव्य सुरेश चंद्र
74 :: प्रेमचंद के आरंभिक उपन्यासों में स्त्री : असरारे-मआबिद से सेवासदन तक ज़ीनत ज़्या
80 :: समकालीन हिंदी दलित कविता देवचंद्र भारती 'प्रखर'
84 :: आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की दृष्टि में कबीर की भक्ति चंदन साव
92 :: मैला आँचल आज भी मैला कुमार भास्कर
98 :: रेणु के रिपोर्टाज में बिहार का सामाजिक यथार्थ जितेन्द्र कुमार यादव
104 :: मानस में दृश्यमूलक क्रियाओं की मार्मिक अन्विति आशुतोष मिश्र
111 :: प्रसाद की काव्य-दृष्टि मुकुल
116 :: स्वतंत्रता संग्राम में महिलाओं का योगदान कविता विकास

इतिहास दृष्टि

- 120 :: प्रेमकुमार मणि की इतिहास चेतना एस.एन. वर्मा

बहस

- 124 :: तेरा-मेरा-उसका कबीर डी.एन. यादव

संस्मरण

- 127 :: मैनेजर पांडेय : मौखिक व्यंग्य के शिखर पर खड़ा एक बड़ा आलोचक अंजय कुमार
135 :: गाँव के बहाने चट्टनियाँ बाबा का स्मरण केदार सिंह

वक्तव्य

- 139 :: प्रो. नंदकिशोर नवल : पाठ-केन्द्रित आलोचना के शिखर कमलेश वर्मा
लिप्यंतरण : सुशांत कुमार

व्यंग्य

- 149 :: कोरोना काल की तीन व्यंग्य रचनाएँ सजल प्रसाद

लघुकथा

- 154 :: छः लघु कथाएँ जगमोहन सिंह

शोधालेख

- 160 :: बिहार में बालश्रम : समस्या एवं समाधान सुनीति कुमारी

Research Paper

- 164 :: *Humanistic Approach and Celebration of 'Self' in Walt Whitman's 'Song of Myself'* Anjani Kumar Sharma



समकक्ष

कठिन है
अँधेरे को
आत्मा से अलग करना

क्योंकि
दोनों की आँख
आखिर
उजाले पर है!

— भवानीप्रसाद मिश्र

संपादकीय

प्रधान संपादक की कलम से....

हिन्दी आलोचना में अविस्मरणीय भूमिका पूरी करके प्रो. नन्द किशोर नवल इस नश्वर संसार से विदा हो गए। वे हममें से अनेक के गुरु थे और हमारे कई गुरुओं के भी गुरु! उनकी कृतियाँ आगे भी हिन्दी के साहित्यिक संसार का मार्गदर्शन करती रहेंगी। 'सत्राची' का संपादक-मण्डल उनके प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करता है।

हमेशा की तरह इस बार भी प्रयास किया गया है कि महत्वपूर्ण आलेखों से यह अंक सुसज्जित रहे! दिनेश राम का विस्तृत आलेख आजीवक दर्शन के बारे जो बातें रखता है, उसका महत्त्व यह है कि इस मार्फत 'मेरा बचपन मेरे कंधों पर' (श्यामराज सिंह 'बेचैन') आत्मकथा की गहरी छान-बीन की गई है। इस आत्मकथा पर इतनी विस्तृत बातचीत अब तक नहीं हुई थी। दिनेश राम के आलेखों की विशेषता होती है कि वे चयनित विषय या पुस्तक के बारे में अच्छी तरह से मनन-चिंतन करके खूब विस्तार से लिखते हैं। पुस्तकों के बारे में इतना समय देकर लिखने वाले लेखकों की कमी होती जा रही है।

पाठ को आधार बनाकर शोध-कार्य को ऊँचाई प्रदान करने में आशुतोष पार्थेश्वर की विशेष पहचान बनती जा रही है। इस अंक में भी प्रेमचंद की कुछ कहानियों के हिन्दी-उर्दू पाठ-भेद को उन्होंने सप्रमाण प्रस्तुत किया है। इस भेद के पीछे की दृष्टि पर भी उन्होंने विचार किया है।

प्रेमकुमार मणि ने पिछले दिनों 'फॉरवर्ड प्रेस' के लिए इतिहास से संबंधित शृंखला-लेख लिखे थे। इन लेखों से इतिहास को देखने की नई सामाजिक-दृष्टि मिलती है। देखा गया है कि गैर-पेशेवर लेखकों ने भी इतिहास को समझने-बूझने में सहायता प्रदान की है। मणि जी के कुछ लेखों को आधार बनाकर इतिहास के प्राध्यापक डॉ. एस. एन. वर्मा ने मूल्यांकन का प्रयास किया है।

अंजय कुमार अपने ढंग के संस्मरण लेखक हैं। 'सत्राची' के पिछले अंकों में वे वीर भारत तलवार और केदारनाथ सिंह पर सुंदर संस्मरण लिख चुके हैं। उनकी योजना है कि वे जिन लोगों को अपनी संवेदना के दायरे में महत्वपूर्ण मानते रहे हैं उन पर वे संस्मरण लिखेंगे। इनमें से कुछ लोग ऐसे भी हैं जिनकी परिधि अंजय कुमार के व्यक्तिगत जीवन-मात्र से जुड़ी है। ऐसे लोगों से वे हिन्दी समाज का परिचय कराना चाहते हैं। इस अंक में उन्होंने प्रसिद्ध आलोचक और प्राध्यापक मैनेजर पाण्डेय से जुड़े व्यक्तित्व-विश्लेषण-परक संस्मरण को प्रस्तुत किया है।

शोध-परक आलेख हमारी प्राथमिकता रहे हैं। आशा है इस अंक के आलेख भी आपको पसंद आएंगे।

डॉ. लक्ष्मी यादव की बनायी हुई पेंटिंग इस अंक के आवरण पर है। डॉ. लक्ष्मी यादव उत्तर प्रदेश के राजकीय महाविद्यालय (औराई, भदोही) में एसोसिएट प्रोफेसर (जंतुविज्ञान) के पद पर कार्यरत हैं। उनकी बनाई पेंटिंग्स में प्रकृति के सांकेतिक रूप मौजूद हैं।

- कमलेश वर्मा
(प्रधान संपादक)



आओ, हम सब एक होकर ज्ञान के ऊँचे शिखर पर अपने 'खुशहाली के घर' की मजबूत बुनियाद डालें। यह बुनियाद इतनी मजबूत हो कि हमारा खुशहाली का घर कभी भी गिरकर नष्ट न हो, कभी भी डगमगाए नहीं। उस बुनियाद या आधार को हम आत्मनिर्भरता कहते हैं, अपने पर निर्भर होना। अपनी उन्नति के लिए अब हमें दूसरों पर निर्भर नहीं होना चाहिए। प्रत्येक स्त्री को अपनी उन्नति के लिए अधिक से अधिक उद्यम करना चाहिए, अपने ऊपर अधिक से अधिक आत्मनिर्भर होकर।

—पंडिता रमा बाई



‘मेरा बचपन मेरे कंधों पर’

आजीवक दर्शन को समझने के क्रम में

○ दिनेश राम

[श्यामराज सिंह ‘बेचैन’ की आत्मकथा ‘मेरा बचपन मेरे कंधों पर’ 2009 में वाणी प्रकाशन नयी दिल्ली से प्रकाशित हुई थी. डॉ. दिनेश राम का यह लेख इस पुस्तक का मूल्यांकन तो करता ही है, इसमें आजीवक दर्शन के अनुसार जीवन और साहित्यिक रचना के विश्लेषण का प्रयास है.- प्र.सं.]

दलित साहित्य की अन्य विधाओं की तुलना में आत्मकथायें बहस के केन्द्र में ज्यादा रही हैं। शायद इसलिए कि ये छुआछूत और जातीय भेदभाव से जूझ रहे दलितों के जीवन को सीधे-सीधे सामने ले आयी हैं। तब, इन की प्रशंसा और आलोचना दोनों हुई हैं। आलोचना यह कि इन में रोने-धोने के अलावा कुछ नहीं—और यह भी कि इन में एक ही तरह की बातें आ रही हैं और बढ़ा-चढ़ा कर आ रही हैं। बावजूद इन सब के, दलित आत्मकथायें साहित्यिक शैली में आ रहीं, अच्छूत समाज के लोगों की इकबालिया बयान हैं, जिन की प्रामाणिकता को ले कर कोई सार्थक सवाल नहीं खड़े किये जा सकते। जिस तरह उपन्यास के अनुशासन में झूठ आधिकारिक रूप से अनुमत है, उस तरह आत्मकथा में नहीं। स्वयं को गिरा कर कोई आत्मकथा में झूठ लिखे तो लिखे, लेकिन उस में तथ्यों के साथ छेड़छाड़ करने की अनुमति बिल्कुल नहीं है। तब, प्रामाणिक साक्ष्य के रूप में ये मूक नायकों के लिखित बयान हैं जिन्हें इतिहास के लिए संजो कर रखा जाना है।

दलित आत्मकथाओं में एक कामन बात यह देखी गयी है कि अधिकांश आत्मकथाकार अत्यंत गरीबी से संघर्ष करते हुए आये हैं। इस से भी ज्यादा कि कथित मुख्यधारा के एक ऐसे समाज से जूझते हुए आये हैं जो उस के प्रति अकारण ही शत्रुता का भाव रखता है। तब, पता यह लगाया जाना है कि एक दलित आत्मकथाकार किस बिना पर खुद को अपने वर्तमान मुकाम तक ले आया है। आखिर, उस में ऐसा क्या है जो उसे यहाँ तक पहुँचा गया है। उस के परिवार और समाज की आंतरिक खूबियों में ऐसा क्या है, जो इतना बिखरे होने के बावजूद, प्रो. ‘बेचैन’ जैसे लोगों को अनवरत जन्म देती आ रही है।

वैसे, दलित आत्मकथाओं के अधिकांश आत्मकथाकार विपन्न परिस्थितियों से गुजर कर आये हुए हैं। लेकिन बालक श्यामराज की विपन्नता अन्यतम है। शायद ही कोई दलित आत्मकथाकार उन के जैसी गरीबी सह कर आया हो। उन की आत्मकथा, ‘मेरा बचपन मेरे कंधों पर’ उन के और उन के पिता के परिवार के प्रति करुणा पैदा करती है। जब वे चार साल के थे तो उन के पिता का देहान्त हो गया। परिवार भूमिहीन और मां अशिक्षित जिन के लिए खुद का पेट पालना मुश्किल था। परिवार में ताऊ और बाबा के रूप में दो पुरुष और दोनों ही अंधे। रोज कमाने और रोज खाने की जिन्दगी जिस में न कमाने का मतलब था, भूखों मरना। बालक श्यामराज के लिए एक अतिरिक्त दुख और कि उन का अपने सौतेले

पिता भिकारी के लिए अनचाहा हो जाना था।

खैर, दलित आत्मकथाओं को पढ़ते हुए, हमेशा मेरे जेहन में, दलित और दलित समाज की कमियाँ नहीं खूबियाँ रही हैं। इसलिए कि उन की खूबियों को खत्म कर के ही उन पर कमियाँ थोपी गयी हैं। सवाल है, गुलामी का अन्यतम दबाव क्या है—यही कि कोई व्यक्ति या कौम खूबियों के रूप में मानवीय मूल्यों को खो दे। यानी, अपनी गरिमा और मनुष्यता खो कर, हिंसक हो जाए और जरायम पेशे को अपना ले। लेकिन दलितों के साथ ऐसा नहीं हुआ है। अन्यतम दासता के बावजूद, दलित अपनी गरिमा और मनुष्यता को बचाते हुए आये हैं। उसे खोने नहीं दिया है। ऐसा कैसे और क्यों हुआ है, क्या मजबूरियों ने उसे असहाय बना रखा है या कि वह अपने मूल स्वभाव में सभ्य है? ये दो बड़े प्रश्न हैं जिन का उत्तर खोजा जाना है।

खैर, बालक श्यौराज के साथ उन की हालातों में बहुत से लोग रहे होंगे। लेकिन, वे सब प्रो. श्यौराज सिंह 'बेचैन' नहीं बने हैं। औरों से अलग उन में कुछ जरूर है जो उन्हें यहाँ तक ले आया है। व्यक्ति बुरा हो कर यहाँ तक गौरव और गरिमा के साथ नहीं पहुँच सकता। पहुँचेगा तो अच्छे मूल्यों को साध कर और मनुष्यता को पकड़ कर ही। तब, उन में, उन के परिवार और समाज में व्याप्त उन मूल्यों की पहचान की जानी है जिन के सहारे वे यहाँ तक पहुँचे हैं। उन्हें ही एक प्रेरक पाठ के रूप में लोगों तक पहुँचाया जाना है।

प्रो. बेचैन की आत्मकथा, 'मेरा बचपन मेरे कन्धों पर' डा. धर्मवीर ने 'बालक श्यौराज : महा शिलाखंडों का संग्राम' नाम से एक किताब लिखी है। इस के माध्यम से उन्होंने अछूतों और हिन्दुओं के सामाजिक पक्ष और उन के आपसी रिश्तों को समझने की कोशिश की है। लेकिन मैंने आजीवक दर्शन को समझने के क्रम में प्रो. बेचैन की आत्मकथा को अपने दायरे में लिया है। इस बहाने उन वैयक्तिक और सामाजिक मूल्यों की पहचान हो गयी है जिस के सहारे वे यहाँ तक पहुँचे हैं और जो सार्वभौमिक हैं। आजीवक दर्शन को समझने से पहले बालक श्यौराज के उन हालातों के बारे में जाना जाए जो उन्हें और उन के पिता के परिवार को मृत्यु के कगार पर लिए खड़े थे। इन में से अधिकांश तो मृत्यु के आगोश में चले भी गये। अंतर सिर्फ इतना है कि कोई थोड़ा पहले गया और कोई थोड़ा बाद में। बावजूद इस के, बालक श्यौराज और उन के पिता के परिवार ने मनुष्यता नहीं खोयी थी। मूल्यों को संजोए रखा था।

गरीबी का निम्नतम धरातल

मूलभूत आवश्यकताओं के रूप में एक व्यक्ति को क्या चाहिए—रोटी, कपड़ा और मकान। किसी व्यक्ति को इन तीनों के लाले पड़े हुए हों तो क्या हो—यही कि उस के साथ गरीबी की इंतेहाँ हुई पड़ी है। इस का मतलब है, व्यक्ति रोज कमाने और रोज खाने की जीवन रेखा पर है। यानी जिस दिन कमाये उस दिन खाये और जिस दिन न कमाये उस दिन भूखा रहे। गरीबी की इस लाइन पर भूख व्यक्ति को हर पल मृत्यु के कगार पर लिए खड़ी होती है। बालक श्यौराज और उन के पिता का परिवार इसी कगार पर खड़ा था। काम न मिलने की स्थिति में उन्हें और उन के पिता के परिवार को अनेकों बार भूखा रहना पड़ा था। भूख उन्हें और उन के पिता के परिवार को कई बार मृत्यु की ओर ले गयी थी।

I

इसलिए, पहले रोटी के प्रसंग को लिया जाए। वैसे आत्मकथा में रोटी से जुड़े हुए कई प्रसंग आये हैं। लेकिन इस से जुड़ा हुआ एक अत्यन्त दुखद प्रसंग है जिस का जिक्र प्रो. बेचैन ने किया है जिस में उन के और उन के पिता के परिवार की जान जाते-जाते बची थी।

उन्होंने लिखा है :

अब जब कोई खाद्य पदार्थ घर में उपलब्ध नहीं हो रहा था तो मैं और अम्माँ एक बार फिर रिवाड़े

की करकवाय (अस्थायी प्रवाह वाली नदी) की ओर निकल गये, परन्तु सवेरे से दोपहर तक एक सेर भी धान हम नहीं बीन पाए। इसी बीच मैंने देखा कि खेतों में ढड़ाइन के पेट खड़े हैं। उन का बीज 'ढेंचा' जैसा होता था। वह बड़ी मात्रा में खेतों में पड़ा हुआ था। मेरे दिमाग में एक युक्ति आयी जिसे मैंने सिला खोज रही अपनी माँ से कहा—'अम्माँ हम जाइ ढड़ाइन बटोरि लै चलें और रांधि (पका) के खायें, तो एक तो जो मुफ्त की है और हैरु बहुत। आज अजमाइ लैं, अच्छी लगेगी तो कल तें एकाद गठरिया भरिलै चलंगे।'

आगे का वाकया यह है कि भूख से बचने के लिए उन के परिवार ने ढड़ाइन के बीज को घर लाया और पका कर खा लिए। उन्हें पता नहीं था कि ये जहरीली हैं। शायद भूख ने उन्हें ढड़ाइन के गुण दोष पर सोचने का अवसर नहीं दिया। उस को खाने के बाद क्या हुआ, प्रो. बेचैन ने बताया है।

उन्होंने लिखा है :

गर्म-गर्म ढड़ाइन पेट में उतरी और हम में से जिस के शरीर में विष से लड़ने की प्रतिरोधी क्षमता जितनी कम थी, उतनी ही जल्दी वह होश खोने लगा था। एक-एक कर के थोड़ी ही देर में हम चारों प्राणी जहाँ-तहाँ जमीन पर गिरे पड़े थे।...अम्माँ तेजसिंह को गोद में ले कर हमारे पास बीच में जमीन पर आ गयी थी। वह अपने चारों बच्चों को आखिरी बार एक साथ गले से लगा लेना चाहती थी। एक-एक कर वह सभी के चेहरों पर हाथ फेर रही थी। वह रोते-घबराते हुए लड़खड़ाते स्वर में कह रही थी—'मैं इकली मर जाती तो ठीक रहती। हे भगवान मेरे बालक कैसे मारि रए हैं।'⁵

घर-परिवार के लोगों ने जब इन लोगों की हालत देखी तो हैरान-परेशान हुए। यह पता चलने पर कि इन लोगों ने ढड़ाइन के जहरीले बीज पका कर खा लिए हैं तो लोगों ने इन के गले में उंगलियाँ डाल कर उल्टियाँ करायीं। इस तरह इन लोगों की जान बची। इस के बाद की अपनी अत्यंत दयनीय स्थिति के बारे में प्रो. बेचैन ने बताया है।

उन्होंने लिखा है :

अभी तक प्राण नहीं निकले थे। रात को सब बस्ती सो रही थी और हम सब भूख के मारे व्याकुल थे। बब्बा ने अपने पास जमा आध-सेर चावल की गाँठ दी। बोले—'लेउ बेटा, जे गर्म करि के पेटनु में डारि लेउ।' ताई के चूल्हे में आग जिन्दा थी, इसलिए अम्माँ ने मरी-मरी आवाज में कहा था—'जावित्री, जे पतीली नैक अपने चूल्हे पै धरि दै।' ताई ने चावल गर्म कर दिये थे। नमक डाल कर हम ने थोड़े-थोड़े बाँट खाये थे। पेट पूरी तरह खाली होने के कारण यह भोज्य गर्म तवे पर पानी छिड़क देने जैसा था, यानी भूख और अधिक तेज हो गयी थी।'

देखा जा सकता है, भूख से बचने के लिए बालक श्यौराज और उन के पिता के परिवार को क्या खाना पड़ा था। भूख उन्हें और उन के पिता के परिवार को मौत की तरफ ले गयी थी। यह आत्महत्या नहीं थी। वे भूख से मरना नहीं जीना चाहते थे। इसलिए जो मिला वही खा लिया। लेकिन, गरीबी की एक अन्यतम स्थिति यह भी है कि व्यक्ति जीने की इच्छा ही छोड़ दे और आत्महत्या करने की सोच ले। दुख है, भूख बालक श्यौराज को यहाँ तक भी ले आयी थी। सवाल है, रोज कमाने और खाने वाला व्यक्ति बीमार पड़ जाए तो क्या हो? वह दवा-दारु के पैसे कहाँ से लाए? ले दे कर उधार बचता है—वह भी न मिले तो क्या हो? व्यक्ति भूख का इंतजाम करे कि दवा-दारु का? यह जीने की विकट स्थिति है। इस से कोई कैसे पार पाए?

उन्होंने लिखा है :

यद्यपि मैं जानता था कि कुचला जहर होता है पर दर्द से कभी मुक्ति न मिलने और घिसट-घिसट

कर लम्बी उमर काटने की मेरी इच्छा नहीं रही थी। मैं जीवन के संघर्ष में गठिया- बाय से हार रहा था। उस अवस्था में मेरे माँ-बाप, बहन-भाई कोई नहीं था। अम्मा पाली में अपने छोटे बच्चों के साथ और बहन अपने घर थी। अधिक कुचला या तो दर्द-मुक्त कर देगा या प्राण मुक्त। कुचला का सेवन कर मैं टोड़ी ताऊ के दालान में पड़ी खाट पर जा कर लेट गया। धीरे-धीरे उस का असर बढ़ता गया और मुझे नशा-सा होने लगा। मुंह से झाग आने लगे और पेट में जलन तेज हो गयी। समय गुजरने के साथ-साथ मेरी हालत बिगड़ने लगी।

उन्होंने आगे लिखा है :

दालान सार्वजनिक उपयोग का स्थान था, इसलिए उस में जो भी आया, उसी ने मेरी हालत पर गौर किया। मैं आज हर दिन जैसा बीमार नहीं था। बस्ती में कानों-कान चर्चा हो गयी कि सौराज मरने वाला है। मुझे होश नहीं, किस-किस ने मदद की और कौन-कौन कन्धों पर डाल कर मुझे अस्पताल ले गया। बाद में पता चला कि निःसन्तान रहे दयाराम दम्पति और मेरे गंगी बब्बा ही मेरी मदद में प्रमुख थे। गाँव से बाहर गये खुशकिस्मती से डॉक्टर महोदय तब तक वापस आ गये थे। उन्होंने इंजेक्शन दिये, जाने कैसे उल्टियाँ करायीं और सामान्य होने पर घर छुड़वाया। पूरा संभलने में चार-पाँच दिन लग गये।

जाति और छुआछूत की हिन्दू समाज व्यवस्था में मेहनत से कमा कर खाने वाले एक बच्चे की यही नियति है? वह न तो मरने देगी और न ही जीने। किसी समाज व्यवस्था के होने का मतलब है कि वह त्रासदियों के समय अपने लोगों की मदद में आगे आए। अगर ऐसा नहीं है तो फिर उसे कोई व्यवस्था नहीं कहा जा सकता। बालक श्यौराज के मामले में, ऐसा लगता है, व्यवस्था सब के लिए नहीं बल्कि एक विशेष समूह को लाभ पहुंचाने के लिए बनायी गयी है। छुआछूत की व्यवस्था का समर्थन कर कोई व्यक्ति और शास्त्र महान कैसे हो सकता है? ऐसा करते हुए कोई व्यक्ति अन्य व्यवस्थाओं के सामने आत्मगौरव से कैसे खड़ा हो सकता है?

II

रोटी की बात हो गयी अब कपड़े की बात देखी जाए। अपने बचपन के एक प्रसंग के बारे में प्रो. 'बेचैन' ने बताया है कि एक दिन गुड़ पकाते हुए उन के अन्धो बब्बा गंगी की धोती ने आग पकड़ ली। आधी रात का समय था। उन के बब्बा गुड़ पकाने वाली भट्ठी में पतायी झोंक रहे थे कि एक आग की लुत्ती ने उन के अर्द्धो को पकड़ लिया। उस समय बालक श्यौराज वहीं पास में कोल्हू हाँक रहे थे। उन्होंने उस दुखद वाक्य का जिक्र किया है।

उन्होंने लिखा है :

आधी रात गये क्या हुआ कि बब्बा जोर से चिल्लाए—'जरिगओ लम्बरदार, बचइये, लल्ला सौराज!' आवाज जैसे उन की मूँछों में फँस कर रह गयी हो। मैं हड़बड़ाया भाग कर गया, तब तक पताई में आग फैल गयी थी और बब्बा के अर्द्धा का कोना पकड़ कर आगे बढ़ रही थी। अतः उन्होंने तुरन्त अर्द्धा उतार फेंका था और अन्दाजे से उस गड्ढे जैसी जगह से बाहर निकलने का प्रयास कर रहे थे। नीचे से वे काफी कुछ झुलस गये थे। मैं उन से लिपट गया। वहाँ जितने लोग मौजूद थे, सभी ने मिट्टी-पानी की मारा-मारी कर आग तो बुझा दी, किन्तु उन लोगों ने हमें बहुत बुरा-भला कहा। माँ-बहन की गालियाँ ऐसी कि मैं उद्धृत नहीं कर सकता।

आगे, उन्होंने हिन्दुओं की उस संवेदनहीनता को कलमबद्ध किया है जो अछूतों के साथ अकसर दिखायी देती है। यह केवल एक विशेष जाति में पैदा हो जाने के कारण है, जिस में उस व्यक्ति का

कोई दोष नहीं है। कहा जाए कि यह अकारण है।

उन्होंने लिखा है :

बब्बा की शरीरी नग्नता को ढकने के लिए मेरे पास केवल एक पैबन्द लगी फटी कमीज थी। पाजामा वह पहन नहीं पाते। वैसे मेरे पाजामे के नीचे नेकर तक नहीं होता था। इसलिए मैंने कमीज ही उतार कर उन्हें पकड़ा दी। लंगोटी की तरह उन्होंने उसे बाँध कर अपने गुप्तांगों को ढका था। बब्बा अभी भी कोई लत्ता माँग रहे थे। ऐसा नहीं था कि वहाँ किसी के पास अतिरिक्त कपड़ा उपलब्ध न हो। अद्धा या अंगोछा तो मिल ही सकता था। लेकिन संकट यह था कि एक अछूत के शरीर से छूने के बाद कपड़ा वापस तो लिया नहीं जा सकता और बेजान होने के पहले कोई वस्त्र दान नहीं किया जा सकता। इस कारण किसी ने कोई वस्त्र उन्हें नहीं दिया था।

अछूतों के प्रति ऐसी संवेदनहीनता उन की गरीबी की वजह से नहीं बल्कि उन के प्रति घृणा की वजह से है। मेरा सवाल है, बालक श्यौराज और बब्बा गंगी की जगह कोई यादव जाति का व्यक्ति होता तो क्या यादव लोगों का बरताव वैसे ही होता जैसे उन दोनों के साथ हुआ था? उत्तर है, बिल्कुल नहीं। स्वजातीय होने के नाते उन में अपनेपन की भावना जरूर होती। जातिवादी व्यवस्था में यही भावना दूसरी जातियों के प्रति नहीं होती। दुख है कि अछूतों के मामले में संवेदनहीनता की यह भावना क्रूरता के हद तक चली जाती है। प्रो. बेचैन ने खुद से जुड़े हुए कपड़े के एक अन्य प्रसंग का जिक्र किया है। विश्वास नहीं होता कि बालक श्यौराज इन परिस्थितियों से गुजर कर आये हैं।

उन्होंने लिखा है :

प्रेमपाल सिंह ने मेरे लिए पहला और आखिरी एक वस्त्र रामघाट से खरीदने का निर्णय किया था और वहीं उसे सिलवाने के उद्देश्य से उन्होंने कहा, 'श्यौराज कोट उतार कर दर्जी को नाप दे दो।' उस वक्त वहाँ तीन-चार शिक्षक और प्रिंसिपल भी मौजूद थे। मैंने कहा कोट पहने हुए ही नाप ले लो। दर्जी ने उतारने को कहा तो मैंने मना कर दिया।...गंगा के बीच मैदान में आ कर मैंने देखा, यहाँ दूर तक कोई हमें देखने वाला नहीं है, तब मैंने कहा, 'मास्साब देखो मैं कोट उतार रहा हूँ।' वे आधे मन से रुके और पीछे मुड़ कर देखने लगे। मेरी शर्ट का पिछला पदार्थ उन्हीं के कामों के पसीने की भेंट चढ़ चुका था।

क्या कहा जाए! यह रोटि के मामले में भूख से मरने और कपड़े के मामले में नंगे रहने से एक दम पहले की स्थिति है। इस स्थिति से नीचे की कल्पना शायद ही की जा सकती है।

III

अब, तीसरे पक्ष मकान को लिया जाए। जीविका चलाने के लिए बालक श्यौराज अपने ताऊ के साथ कई सालों तक फुटपाथ पर जूते पालिश करने का काम किया। उन के ताऊ ने 35 साल तक घर से दूर चंदौसी के डिबाई रेलवे स्टेशन पर जूते पालिश करने का काम किया। बताने वाली बात है कि ये दोनों फुटपाथ पर बैठ कर बूट पालिश करते थे। इन के पास इतना पैसा नहीं होता था कि वे किराये की दुकान या मकान ले कर काम कर सकें और रह सकें।

प्रो. 'बेचैन' ने लिखा है :

मैं ताऊ के साथ इसी फुटपाथ पर बैठ कर बूट-पालिश किया करता था, साइकिलों के टायर सिलता था और आस-पास पैठ-बाजार जूते गाँठने जाया करता था। रात को इसी बरांडे में ताऊ के पास आ कर रहता, खाता और सोता था। चूँकि, रात को रखवाली करने के लिए सभी को हमारी जरूरत होती थी, जैसे कुत्ता पालतू नहीं होता है तो सभी का होता है, उसी तरह हमें सभी चाहते

थे। उस के उलट हमारा विकल्पहीन स्वार्थ यह था कि रात काटने के लिए हमें थोड़ी जगह चाहिए थी। सुरक्षित घर और दुकान का हम किराया नहीं दे सकते थे, दे भी पाते तो अस्पृश्यों को अपनी दुकान देता कौन? मुफ्त में दिन-भर काम के लिए फुटपाथ और रात्रि में सोने के लिए खुला बरांडा। यही क्या कम था।¹⁰

उन्होंने आगे लिखा है :

ताऊ के पास एक लकड़ी की पेटी थी, जिस में मोचीगिरी के सभी औजार, यानी कटानी, पैर, चमड़े की कतरनें, कीलें, पालिश की डिब्बियाँ, ब्रुश और पानी का डिब्बा भी रहता था। वहीं वह चमड़े की कतरनें, कीलें आदि से भरी काष्ठ की पेटी रखी रहती थी जो दिन भर फुटपाथ पर ग्राहकों को बुलावा देती रहती थी। रात को उठा कर बरांडे के एक कोने में रख दी जाती थी। उसी के पास पुरानी पैबन्द लगी मैली-सी रजाई रखी रहती थी। मैं रात को ताऊ के साथ उसी रजाई में सोया करता था। बिछाने को माताजी अपनी चटाई दे दिया करती थीं। रात को सोने के लिए यहाँ जगह की कमी नहीं थी क्योंकि दुकानें बंद कर के सभी लोग अन्दर कस्बे में अपने सुरक्षित घरों को चले जाया करते थे।¹¹

इस आत्मकथा में, रोटी, कपड़ा और मकान से जुड़े हुए और भी कई मार्मिक प्रसंग आये हैं। लेकिन मैंने उन्हीं प्रसंगों को लिया है जो अन्यतम हैं। कठिन श्रम के बावजूद, बालक श्यौराज और उन के पिता के परिवार को रोटी, कपड़ा और मकान जैसी मूलभूत आवश्यकतायें नहीं मिल पा रही थीं। इस में उन का कोई दोष नहीं था। यह हिन्दू व्यवस्था थी जो उन्हें कठिन श्रम करने के बावजूद, बदतर जीवन जीने के लिए मजबूर कर रही थी। मैंने उपरोक्त तथ्यों को पाठकों के सामने इसलिए रखा है, ताकि वे जीने के उस न्यूनतम धरातल को जान सकें जिस से बालक श्यौराज जूझते हुए अपने वर्तमान मुकाम तक पहुँचे हैं। तब, चाहे उन के व्यक्तिगत स्तर पर कुछ हासिल करने की बात हो या फिर दलित साहित्य में उन के किये गये योगदान की बात हो, दोनों ही उपलब्धियाँ संज्ञान में ली जानी हैं।

आजीवक दर्शन

दलित आत्मकथायें मानविकी शास्त्रों के अध्ययन के लिए बेहद महत्वपूर्ण हैं। ये आजीवक धर्म, समाज और दर्शन को समझने में विशेष मदद करती हैं। जैसा कि मैंने पहले ही बताया है कि प्रो. बेचैन की आत्मकथा पर डा. धर्मवीर ने किताब लिखी है जिस में उन्होंने दलित और हिन्दू समाज के कई पहलुओं पर अपनी बात रखी है। यहाँ मैंने केवल आजीवक दर्शन को समझने के लिए उन की आत्मकथा को विषय बनाया है जिस में बालक श्यौराज का पुरुषार्थ पकड़ में आ गया है। तब, मेरे इस अध्ययन में आजीवक दर्शन की समझ के साथ-साथ पाठकों को पुरुषार्थ के रूप में यह एक अतिरिक्त और बड़ी चीज मिल गयी है। बड़ी चीज इसलिए कि उन का पुरुषार्थ आजीवक दर्शन के वैयक्तिक और सामाजिक मूल्यों से नप कर आया हुआ है।

आजीवक दर्शन के तीन तत्व हैं—नियति, भाव और संगति। इसी के साथ एक अन्य शब्द परिणति भी जुड़ा हुआ है। डा. धर्मवीर ने लिखा है—“मक्खलि गोसाल के दर्शन को समझने के लिए एक सूत्र मिलता है जो नियति-संगति-भाव-परिणति का है।”¹² व्यक्ति इन तीनों के दायरे से बाहर नहीं। अपनी चेतना के सहारे वह इसी में उठता और गिरता है। सुख-दुख का भोग करता है। अंततः मृत्यु को प्राप्त होता है। यही परिणति है। इसे जैन धर्म के आचार्य राजेन्द्र रत्नेश ने इस तरह रखा है—“वे नियति, संगति और भाव से परिणत होते हैं।”¹³ इन तीनों में, नियति व्यक्ति के पैदा होने और मरने से, भाव उस के स्वभाव से जिसे वह ले कर पैदा होता है और संगति उस के आसपास का वातावरण जुड़ी हुई है। इन तीनों के दायरे में रहते हुए ही व्यक्ति अपनी सामाजिक परिणति को प्राप्त होता है।

क. नियति

इसलिए, पहले नियति को ही लिया जाए। सवाल है यह नियति क्या है? बताया जाए कि इस का संबंध मनुष्य के जन्म और मृत्यु से है। मनुष्य को पैदा होने से नहीं रोका जा सकता। उस का पैदा होना तय है। इसी तरह, मनुष्य को मरने से भी रोका नहीं जा सकता। उस का मरना भी तय है। वह चाहे जैसे मरे। यह नियति है जो मनुष्य के अस्तित्व के साथ जुड़ी हुई है। इस में अपने स्तर पर मनुष्य कुछ भी फेर-बदल नहीं कर सकता। यह उस के वश में नहीं है। यहाँ उस का कोई पुरुषार्थ काम नहीं करता। इसी रूप में बालक श्यौराज का पैदा होना नियति है। वे खुद को पैदा होने से नहीं रोक सकते थे। यह उन के वश में नहीं था। वे कहाँ पैदा होंगे, इसे भी तय करना उन के वश में नहीं था। कहने का मतलब है, उन का जन्म उन की पकड़ में नहीं था।

नियति का संबंध मनुष्य के जन्म और मरण की घटनाओं तक सीमित नहीं है। उस का विस्तार सांसारिक परिस्थितियों तक गया है जो मनुष्य की पकड़ में नहीं हैं। बालक श्यौराज गरीब के घर पैदा हों या अमीर के घर, यह तय करना उन के वश में नहीं था। उन का सब से गरीब घर में पैदा होना नियति थी जिस से जूझ कर उन्हें आगे आना था। आगे, जिस तरह उन के साथ सब कुछ अच्छा ही अच्छा हो—यह तय करना उन के वश में नहीं था। उसी तरह, उन के साथ सब कुछ बुरा ही बुरा हो—यह भी तय करना किसी अन्य के वश में नहीं था। लेकिन उन के वश में इतना जरूर था कि वे अपने पुरुषार्थ से प्रतिकूल बनी हुई परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाने की कोशिश करें। इस कोशिश में, वे अपनी सामाजिक नियति बदल सकते थे, जिस की पूरी की पूरी संभावना थी।

इसी तरह, किसी व्यक्ति की अनुकूल परिस्थिति उस के प्रतिकूल न हो जाए, वह इस की कोशिश करता है। वह अपनी अनुकूल परिस्थिति को और ज्यादा से ज्यादा अनुकूल बनाने की कोशिश करता है। अच्छी और बुरी परिस्थिति में रह रहे किसी व्यक्ति की सफलता और असफलता इसी प्रक्रिया से तय होती है। लेकिन सफलता और असफलता के रूप में ये व्यक्ति के पक्ष में निश्चित नहीं हैं। सफलता मिल भी सकती है और नहीं भी। आजीवक दर्शन की भाषा में कहा जाए तो यह नियति के हाथ में है। परिस्थितियाँ अनुकूल बनें, इस के लिए कोशिश की जा सकती है। ये प्रतिकूल न हो जाएं, इस के लिए भी कोशिश की जा सकती है। इस में सफल होने की पूरी की पूरी संभावना है। यह उस के पुरुषार्थ पर निर्भर करता है। लेकिन कोई व्यक्ति सफलता को अपने पक्ष में निश्चित नहीं कर सकता। इसी तरह, कोई अन्य व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति के पक्ष में असफलता भी निश्चित नहीं कर सकता। यही नियति है।

I

बालक श्यौराज सब से गरीब घर में पैदा न हों, यह उन के वश में नहीं था। उन का गरीब राधे के घर पैदा होना नियति थी जिस से जूझ कर उन्हें आगे आना था। हालात ऐसे बने कि उन के पिता राधो की मृत्यु उन के सामने हो गयी। उन्हें बचाया नहीं जा सका। यह तब हुआ जब वे मात्र चार साल के थे। उन के पिता अपनी बहन के घर शादी के एक नेवते में आये थे जहाँ उन्हें दिन भर उपवास रह कर भात भरना था। मई-जून का महीना था, उन्हें खान-पीन की गड़बड़ी की वजह से कालरा की बीमारी हो गयी। उन के लूा उन्हें डाक्टर के पास ले जाने के बजाए, ओझा-सोखा से झाड़ू-नूक करवाते रहे। उन की माँ मौके पर मौजूद नहीं थीं। वे तब पहुंची जब समय उन के हाथ से निकल गया था। उन के पहुंचने के कुछ ही क्षण बाद उन के पिता का प्राण-पखेरू उड़ गये। इस में कोई कुछ नहीं कर पाया। प्रो. बेचैन ने अपने पिता की मृत्यु की हृदय-विदारक घटना का जिक्र किया है।

उन्होंने लिखा है :

रात होते-होते बाहर से अभी अम्माँ ने घर में पाँव रखे ही थे कि कुछ ही क्षण पूर्व हमारे घर और जीवन के सूरज को भी डूबते क्षण चारपाई से जमीन पर उतार लिया गया था। परिवार के सभी सदस्यों की आँखों के सामने प्रकाश अंधेरे में बदल रहा था। मैं दोहरे अंधेरे से घिर रहा था। अभी भी उन की साँसों की आखिरी डोर चल रही थी। देह सयानों के चाबुकों की मार से लहलुहान हुई सूज रही थी। कलावती बुआ ने घोषणा कर दी थी—‘मेरो भइया बीधे के पागलपन ने मारो है।’¹⁴

उन्होंने आगे लिखा है :

सिरहाने बैठे नेत्रहीन बाबूराम ताऊ ने पूछा था—‘भैया-लल्ला, का मुसीबत है? हम आइ गये, तोड़ बचाइ लिंगे।’ कहते हुए वे उन के हाथ थाम रहे थे और अम्माँ घबरा कर उन की गरदन से लिपट रही थी। जुबान से शब्द नहीं निकल रहे थे, पर वे आखिरी बार भी मुझे देखना चाहते थे। प्यारे चच्चा ने मेरा चेहरा उन के हाथों के पास पहुँचा दिया था। आँसुओं से भरी आँखों की भाषा में उन्होंने अम्माँ से कुछ कहा ही था कि तब तक प्राणों का पंछी उड़ गया था। भरे-पूरे बाग में बसंत आने से पहले ही माली गुजर गया था।¹⁵

इस में क्या कहा जाए? खेल परिस्थितियों का था। बात इतनी थी कि अगर उन के पिता को डाक्टर के पास ले जाया जाता तो वे बच जाते। उस बीमारी का इलाज था। लेकिन उन्हें डाक्टर के पास तक नहीं ले जाया जा सका। तब देखा जाए कि ऐसा क्यों नहीं हो सका। पहला, उन्हें डाक्टर के पास ले जाने का निर्णय जिन के हाथ में था, वह अज्ञानी और घोर अन्धविश्वासी था। डाक्टर के पास ले जाने की बजाए, वह झाड़ू-फूंक कराता रहा। दूसरे, बालक श्यौराज की बूआ इस क्षमता में नहीं थी कि वे अपने भाई को डाक्टर के पास ले जातीं। तीसरे, बालक श्यौराज की माँ समय पर उन के पास नहीं पहुँच सकी थीं। पहुँच जातीं तो वे अपने पति को डाक्टर के पास जरूर ले जातीं। तब इस में हुआ क्या है? यही कि कोशिश करने के बावजूद, परिस्थितियों का योग बालक श्यौराज के परिवार के अनुकूल नहीं बन सका। लिहाजा, परिस्थितियाँ उन के परिवार की पकड़ से बाहर चली गयीं जिस में उन के पिता की मृत्यु उन के परिवार की नियति बन गयी। हालाँकि, उन के बचने की पूरी संभावना थी।

II

अब, एक दूसरे महत्वपूर्ण प्रसंग को लिया जाए। अगर इस में स्थितियाँ अनुकूल बनतीं तो बालक श्यौराज के आगे का रास्ता आसान हो जाता। लेकिन ऐसा नहीं हो सका। बालक श्यौराज कमाने-खाने के उद्देश्य से दिल्ली अपने मौसा-मौसी के पास आ गए थे। यहाँ उन के मौसा ने उन्हें नीबू बेचने के काम में लगा दिया था। यहाँ उन के लिए पढ़ने-लिखने की बात भी चली थी। लेकिन किन्हीं कारणों से रुक गयी। पर उस की संभावना खत्म नहीं हुई थी। यहाँ गाँव की तुलना में उन की जिन्दगी आसान हो गयी थी। लगा था कि बालक श्यौराज मेहनत करते हुए यहाँ पढ़ाई-लिखाई कर जायेंगे।

ऐसा न भी होता तो भी वे उस असह्य मानसिक और शारीरिक शोषण से बच जाते जो उन्हें गाँव में उठाना पड़ा था। लेकिन परिस्थितियाँ ऐसी बनी कि उन्हें दिल्ली छोड़ना पड़ा। नीबू बेचते हुए उन का संपर्क एक निःसंतान दम्पति से हुआ जो उन्हें गोद लेना चाहता था। इस के बदले वह दम्पति उन की माँ को हर महीने पैसे भी देने के लिए तैयार था। वह बालक श्यौराज को पढ़ाना भी चाहता था। पढ़ाई-लिखाई करने की चाहत में बालक श्यौराज उन के यहाँ रहने के लिए तैयार भी थे। लेकिन उन की माँ ने उस दम्पति के प्रस्ताव को ठुकरा दिया।

उन्होंने लिखा है :

मैं कुछ देर उन के पास बैठ कर गलियों में निकल गया। लागत के भाव नीबू जल्दी बेच कर घर लौटा तो देखा अम्मा-मौसी के पास वे दोनों दम्पति बैठे बतिया रहे हैं। मौसा जी के हाथ अपनी कारीगरी में लगे हैं और कान उन चारों की बातों पर।...‘बहन जी, हमारी प्रार्थना है, आप अपने बच्चे को हमारे पास छोड़ दें। हम इसे स्कूल भेजेंगे और घर का छोटा-मोटा काम भी करायेंगे। जितने पैसे यह नीबू बेच कर कमाता है, उतने पैसे भी हम हर महीने आप को देते रहेंगे।’ उस सहृदय महिला का नेक प्रस्ताव सुन कर अम्मा संदेह के स्वर में बोली—‘नाइ बीबी जी, मैं अपने बच्चा कूँ नाइ छोड़ुंगी। अब तो दिल्ली में हूँ नाइ रैन दिउंगी। अब जो पलेगो तो अपने गाम में पलि जाइगो।’¹⁶

कहना यह है कि परिस्थितियाँ बालक श्यौराज की पकड़ से बाहर थीं। माँ की ममता कहिए या कुछ और—उन्होंने अपने बच्चे को गोद देने से मना कर दिया था। उन्हें लगा था कि उन का बच्चा उन के हाथ से निकल जायेगा। उन्हें किसी गैर के यहाँ बच्चे की सुरक्षा की भी चिंता रही होगी। दूसरी ओर उन के मौसा को लगा था कि अगर कभी बालक श्यौराज उन दम्पति के पास चला गया तो इस का दोष उन पर ही आयेगा। बालक श्यौराज उन्हीं के संरक्षण में रह रहे थे। हालांकि, इस प्रसंग को पढ़ते हुए लगता है कि उन के मौसा को एक कदम आगे आ कर यह कहना चाहिए था कि नहीं बालक को गोद नहीं दिया जायेगा। अगर बालक श्यौराज पढ़ना चाहते हैं तो उन्हें पढ़ाया जायेगा। वे एक कदम आगे आ कर बालक श्यौराज और उन की माँ को भी समझा सकते थे। उन के प्रश्नों का समाधान कर सकते थे। आखिर बालक श्यौराज उन पर बोझ नहीं थे।

लेकिन ऐसा नहीं हुआ। इस घटना को पढ़ कर ऐसा मन बनता है कि काश ऐसा हो जाता! क्या कहा जाए? परिस्थितियाँ किस के नियंत्रण में हैं, उन पर किस का जोर चला है? व्यक्ति दूसरों के हितों के अनुरूप व्यवहार नहीं करता। अन्य लोगों के साथ जुड़ी हुई घटनाओं में वह अपने स्वभाव के अनुरूप क्रिया और प्रतिक्रिया करता है। कभी-कभी इस में उस का हित और अहित भी शामिल होता है। इस में बालक श्यौराज अपने लिए कुछ नहीं कर सकते थे। यहाँ भी कई कारणों से परिस्थितियाँ उन के अनुकूल नहीं बन सकी थीं। यहाँ भी उन का योग उन के पक्ष में नहीं बन सका था। उल्टे, हालात ऐसे प्रतिकूल बने कि पढ़ाई-लिखाई की बात तो दूर, उन्हें दिल्ली ही छोड़नी पड़ी थी। ऐसे में, उन का भविष्य अनिश्चित हो, नियति के आगोश में चला गया था।

III

ऐसा नहीं था कि परिस्थितियाँ हमेशा बालक श्यौराज के प्रतिकूल ही बनीं हों। उन का योग उन के अनुकूल भी बना था। माँ के प्रयासों से ऐसा दो बार हुआ था। बुरे हालातों में जाने से उन की माँ ने उन्हें दो बार बचाया था। कहा जाए कि उसे अपने बेटे बालक श्यौराज की नियति नहीं बनने दिया था। एक बार चोरी के क्षेत्र में जाने से और दूसरी बार भट्टे पर बंधुआ मजदूरी करने से उन्हें बचाया था। इन में फंसने का मतलब था— बालक श्यौराज के सपनों का अंत। इन दोनों प्रसंगों के बारे में प्रो. बेचैन ने जानकारी दी है।

उन्होंने लिखा है :

पाली में चमारों, भंगियों, धोबियों और अहेरियों के मोहल्ले एक-दूसरे से जुड़े हुए थे। इस गाँव में अहेरियों की जीविका उठाईगिरी, सेंधमारी और रेलों-बसों से चोरी के धन्धे से चला करती थी। ..मैं मुश्किल से बारह से चौदह साल का रहा हूँगा, तब अम्मा के पास पाली गया था। हब्बू अहेरिया डालचन्द की वजह से इधर आया करते थे। डालचन्द यदाकदा उन के साथ रात को

कूमिल डालने जैसी छोटी-मोटी चोरी करने जाया करते थे।¹⁷

उन्होंने आगे लिखा है :

डालचन्द की सलाह पर ही हब्बू ने उस दिन मुझे इशारे से पास बुला कर अम्मा से कहा—‘भौजी तुम से एक गुजारिश है।’ माँ ने कहा, ‘का?’ ‘ये कै सौराज कू हमें दे देऊ।’ ‘काए कू..’ ‘और काए कू? एक रात के सौ हमें और दुए सौ तुम्हें मिलंगे। गे बालकु है, कूमिल-संध में आसानी तें घुस जाए करैगौ।’...अम्मा ने मेरे मुँह की ओर देखते हुए कहा—‘देवर, जे कैसी बातें करि एए हो तुम? मैं तो सोचति हूँ जो बुरी चीजनुतें कैसे बचैगो और तुम कहत हो मैं चोरी के काम सिखावन भेजि देऊ। नांय देवर नांय...।’¹⁸

माँ की मजबूरियों की इतेहाँ थी। विवशता ऐसी कि खाने के लाले पड़े हुए थे। बावजूद इस के, माँ-बेटे कमा कर खाने का कोई मौका नहीं छोड़ते थे। कमा कर न खाने के चलते ही, हब्बू अहेरिया और उन के सौतेले पिता के भाई डालचंद चोरी के पेशे में गये थे। कहना यह है कि बालक श्यौराज के आस-पास का एक माहौल चोरी कर खाने का भी था। वे उस में गिर सकते थे। हब्बू अहेरिया और डालचंद के द्वारा ऐसा प्रयास भी किया गया था। लेकिन उन की माँ ने उन्हें बचा लिया था। बात यह भी थी कि स्वयं उन का स्वभाव भी ऐसा नहीं था।

उन्होंने लिखा है :

तीसरी बार जब मैं ट्रेन की बर्थ पर पोटलियों की ओट में लेटा था कि एक नेता जैसी सफेद धोती कुर्ता पहने एक व्यक्ति ने अपनी अटैची वहाँ रखी और दूसरी उठा कर अतरौली स्टेशन पर उतर गया। मुझे भी यहीं उतरना था। एक ही ताँगे में हम बैठे। वह कह रहा था—‘आजकल आँखों में धूल झाँकने वालों की कोई कमी नहीं है जी, बुरा जमाना आ गया है।’ ये सज्जन भी अहेरिया थे। वैसे भी चमारों में चोरी, उठाईगिरी का धन्धा नहीं होता था। सभी अपनी मेहनत की खाते-कमाते थे। सो मुझे भी मेहनत के ही रास्ते पर जाना था।¹⁹

IV

दूसरे प्रसंग में बालक श्यौराज के सौतेले पिता भिकारी ने एक भट्टे मालिक से काम के एवज में कुछ रकम पेशगी के तौर पर ले ली थी। इस के बदले बालक श्यौराज और उन की बहन माया को भट्टे पर काम करने के लिए जाना था। भिकारी ने यह काम बालक श्यौराज की माँ से बगैर पूछे किया था। इस से उन की माँ बहुत परेशान हुई। यह बंधुआ मजदूरी थी जिस की तरफ भिकारी इन बच्चों को धकेल रहा था। उस का सीधा कहना था कि खाने के लिए इन्हें कमाना तो पड़ेगा। वह इन्हें बैठा कर नहीं खिला सकता। लेकिन उन की माँ और बूआ ‘मानो’ ने उन दोनों बच्चों को बंधुआ मजदूर बनने से बचा लिया था।

उन्होंने लिखा है :

ऐसी स्थिति में जो काम आयी, वह थी ‘मानो’ बुआ। उस का घर मोहल्ले के दूसरे पूर्वी कोने पर था। यद्यपि वह काफी गरीबी और परेशानी में थी। उसे जब पता चला कि उस की भतीजी और भतीजे को भट्टे पर मिट्टी काटने के लिए बेचा जा रहा है तो वह दुखी और बेचैन हो गयी। भट्टों पर बचपन की होने वाली बरबादियों का उसे आभास था। इस प्रसंग में माँ और बुआ की मुलाकातें छिप-छिप कर हुई, जिस में हमारी मुक्ति की युक्तियाँ सोची गयीं। उन्होंने ताऊ और बब्बा को खबर कर बुलवा लिया।²⁰

उन्होंने आगे लिखा है :

बब्बा ने फूफा की मदद से जात-बिरादरी वालों की पंचायत बुलवाई। पंचायत में भिकारी से कहा गया कि वह इन छोटे-छोटे बच्चों को अकेले भट्टा पर न भेज कर, पूरे परिवार के साथ खुद भी भट्टा पर जाए और अपने सगे बेटे को भी ले जाए और यदि वह इन बच्चों का भरण-पोषण नहीं करना चाहता है तो इन्हें ताऊ और बाबा के साथ जाने दे। निर्णय यही हुआ कि माया-सौराज को ताऊ के साथ पाली से नदरोली जाने दिया जाए। बड़ी हील-हुज्जत के बाद भिकारी ने फैसला माना, पर इस शर्त के साथ कि ये दुबारा कभी लौट कर अपनी अम्माँ से मिलने नहीं आयेंगे।¹¹

रोज कमाने और रोज खाने के हालात में जीवन हमेशा दाँव पर है। कई बार बालक श्यौराज और उन के पिता का परिवार मौत के मुंह से बाहर आया था। उन का एक छोटा भाई नेक सिंह दवा के अभाव में एक साल की उम्र में मरा भी था। रोज काम न मिलने की स्थिति में बंधुआ मजदूरी का ही एक मात्र विकल्प बचता है। नियति बालक श्यौराज को उसी तरफ ले जा रही थी। यहाँ परिस्थितियाँ उन के और उन की माँ की पकड़ से बाहर जाती हुई लग रही थीं। लेकिन उन की बूआ और माँ के प्रयासों से वह पकड़ में आ गयी थीं। बंधुआ मजदूरी बालक श्यौराज की नियति बनते-बनते रह गयी थी।

V

परिस्थितियों का कैसा योग है कि उन्हें स्कूल की तरफ उन की कविता ले गयी थी। उन के गाँव में जूनियर हाईस्कूल का निर्माण कार्य चल रहा था जिस में अपनी बिरादरी के साथ बालक श्यौराज भी श्रमदान देने पहुंचे थे। श्रमदान करते हुए उन्होंने एक त्वरित कविता बनायी थी जिसे वे काम करते हुए गुनगुना रहे थे। वह कविता जब अध्यापक श्री कुंवर बहादुर सिंह यादव के कान में पड़ी तो उन्होंने बालक श्यौराज को अपने पास बुलाया। आश्चर्य होने पर कि यह कविता किसी अन्य की नहीं, बालक श्यौराज की ही लिखी हुई है, तो इस से वे बहुत प्रभावित हुए और बालक श्यौराज को ले कर स्कूल के प्रधानाचार्य के पास गए।

प्रो. बेचैन ने लिखा है :

उन्होंने मुझे आवाज दी—‘सौराज इधर आओ’ मैं सिर से ईंटें पटक कर रहट की नाली में आ रहे पानी में जल्दी-जल्दी मुंह-हाथ धोता हुआ मास्टर कुंवर बहादुर सिंह यादव की ओर बढ़ा। उन्होंने मेरा अनौपचारिक साक्षात्कार लिया—‘सुना है, तुम कवि हो गये हो।’ मैंने कहा—‘मास्साब, मैं कवि बनि रओ हूं या नांय यह तो मैं नांय जान्तु, परन्तु तुकबन्दी कन्न में मोइ आनंदु आतु है।’ उन्होंने एक-दो बानगी लीं और मुझे वापस मिस्त्री के पास काम पर भेज दिया।¹²

आगे उन्होंने लिखा है :

फिर शिक्षकों के साथ परामर्श किया। मैं भोजन अवकाश के समय पुनः बुलाया गया। प्रधानाध्यापक ने मुझ से पहला प्रश्न किया—‘क्या तुम पढ़ना चाहोगे?’ उन्होंने मेरी दुखती नस पकड़ ली थी। मेरा जवाब था—‘पढ़ना तो मैं बहुत चाहतु हूं पर मैं पढ़ंगो तो खाऊंगो का? खान कू काम कौन करेगो? मैं काम नांय करंगो तो खाऊंगो कहाँ तें, और स्कूल में जाइके कौन-सी क्लास में बैठंगो?’ मेरी सदिच्छा और बुनियादी समस्या को सुन कर वे बोले—‘तुम क्लास में बैठने की चिन्ता छोड़ो। हम तुम्हारा टेस्ट ले कर पाँचवीं-छठी कक्षा में बिठा देंगे। सोच कर बताओ कि पढ़ोगे या नहीं?’²³

यहाँ, बिना किसी प्रयास के परिस्थितियों का यह योग उन के पक्ष में बना था। स्कूल में उन का दाखिला हो गया। क्या कहा जाए? नियति उन्हें बराबर स्कूल से दूर ले जा रही थी। मां, सौतेले पिता

भिखारी और फूफा आदि सभी चाहते थे कि बालक श्यौराज पढ़ाई के बारे में सोचना छोड़ कुछ काम-धाम करें। घर-गृहस्थी बसायें और मां का सहारा बनें। लेकिन बालक श्यौराज इसे अपनी नियति नहीं बनने देना चाह रहे थे। तब, उन्होंने अपने पुरुषार्थ से इसे अपने अनुकूल बना लिया था।

मैंने बालक श्यौराज को अपने हालातों को ले कर कभी हाय-हाय करते हुए या छाती पीटते हुए नहीं देखा। वे व्यवस्था से संतुष्ट नहीं थे। उस के आलोचक थे। लेकिन उस को ले कर वे अनावश्यक रूप से आक्रोशित नहीं थे। उन की इच्छा पढ़ने की थी। उन में प्रतिभा थी। उन की इच्छा पूरी होगी या नहीं वे नहीं जानते थे। वे रोटी के लिए निरंतर श्रम करते चले जा रहे थे। लेकिन इस के साथ उन में एक निरंतर चिंतन भी चल रहा था। उन में भावों का एक राग बह रहा था जो चिंतन के रूप में कविता में आ रहा था।

VI

किसी नियति से लड़ रहे व्यक्ति के लिए कभी-कभी परिस्थितियाँ स्वतः ही अनुकूल बन जाती हैं। उस के लिए प्रयास करने की जरूरत नहीं पड़ती। कभी-कभी यह चमत्कार की तरह होता है जिस के लिए लोग ईश्वर को धन्यवाद करते हैं। ऐसे में, बुरे की ओर मुड़ रही नियति अच्छे की ओर झुक जाती है। बालक श्यौराज की एक सगी बूआ पाली मुकीम पुर में रहती थीं। वे उन के घर रह कर पढ़ाई करना चाहते थे। उन के लिए किसी अन्य जगह रह कर पढ़ाई करना संभव नहीं हो पा रहा था। बालक श्यौराज को लगता था कि वे वहाँ काम करते हुए पढ़ाई कर सकते थे।

लेकिन, एक दिन जब वे रहने के लिए वहाँ गए तो घर में ताला लगा हुआ था। पूछने पर पता चला कि बूआ और फूफा दोनों भट्टे पर काम करने चले गए हैं और चाभी पड़ोस में रहने वाली एक बुढ़िया को दे गए हैं। जब बालक श्यौराज उस से चाभी मांगने गए तो उस ने यह कहते हुए चाभी देने से मना कर दिया कि उन के फूफा उन्हें चाभी देने से मना कर गए हैं। उस बुढ़िया ने यह भी बताया कि उन के फूफा नहीं चाहते कि वे यहाँ रह कर पढ़ाई करें।

बालक श्यौराज को इस बात का बड़ा सदमा लगा था। उन के सगे फूफा ने उन्हें अपने घर रखने से मना कर दिया था। यह शाम का समय था। उन का वापस घर लौटना मुमकिन नहीं था। ऐसे में, उन्हें कुछ नहीं सूझ रहा था कि वे क्या करें और कहाँ जाए। एक बार उन्होंने सोचा कि क्यों न अपने स्कूल में जा कर रात बिता ली जाए। फिर सुबह जहाँ जाना संभव हो सके वहाँ जाया जाए।

उन्होंने लिखा है :

दस-पन्द्रह कदम आगे चला। वह मकान लौट कर देखा और वह घर भी जिस में मेरे पिता की मौत हुई थी। मैं गाँव से बाहर होते ही फफक-फफक कर रो पड़ा था। अच्छा था कि मेरे खुद के सिवाय, मेरे आँसू देखने-पोंछने वाला दूर तक कोई नहीं था। मैं लौट रहा था जैसे कोई अपने सगे को दफना कर लौटता है। दो कि.मी. दूर बाग के किनारे तक आ पहुँचा था। आगे जाने की इच्छा नहीं थी। मेंड़ के सहारे सुस्ताने बैठ गया था। मन में द्वंद चल रहा था कि लौटना भी था तो कल लौटता²⁴

उन्होंने आगे लिखा है :

मैं कुड़हनी वाली नदी की ढलान में उतरने ही वाला था, तभी दूर से मुझे पुकारता हुआ एक परिचित-सा स्वर सुनायी दिया। मैंने मुड़ कर देखा कि पीछे से साइकिल पर सवार हाँफता, चिल्लाता हुआ हरदयाल आ रहा है। 'रुक, श्यौराज रुक' और मैं रुक गया। वह मेरा सगा रिश्तेदार नहीं था बस जाति-बन्धु होने के नाते वह मेरी मदद के लिए आगे आया था।²⁵

परिस्थितियाँ बालक श्यौराज को अनिश्चितता की ओर ले जा रही थीं। लेकिन इस एक आवाज ने उस की दिशा बदल दी थी। हरदयाल उन को अपने घर ले गया। कई महीनों तक बालक श्यौराज ने उन के घर रह कर पढ़ाई की। पता नहीं कब क्या हो जाए कोई नहीं जानता। यह होनी है इस में अच्छा भी हो जाए और बुरा भी। नियति यहाँ भी उन्हें प्रतिकूल हालातों की ओर ले जा रही थी लेकिन अचानक वह अनुकूल हो गयी थी। इस में बालक श्यौराज की कोई भूमिका नहीं थी। यह सब अपने आप हो गया था। कुछ क्षण के लिए लगा था कि बालक श्यौराज के आगे का रास्ता बंद हो गया। लेकिन अचानक सब कुछ बदल गया था।

ख. भाव या स्वभाव

अब, दूसरे तत्व भाव यानी स्वभाव को लिया जाए। भाव के बारे में डा. धर्मवीर ने जैनेन्द्र सिद्धांत कोश के हवाले से लिखा है— “चेतन व अवचेतन सभी द्रव्य के अनेकों स्वभाव हैं। वे सब उस के भाव कहलाते हैं।”²⁶ देखा जाए कि प्रो. ‘बेचैन’ का स्वभाव क्या रहा है। प्रो. बेचैन ने कई बार अपने स्वभाव के बारे में बताया है—“मेरा स्वभाव संकोची और मन स्वाभिमानी था।”²⁷ यह कि “अपनी छोटी-मोटी आदतों पर नियन्त्रण कर लेना और नयी चीजें सीखना मेरा स्वभाव रहा है।”²⁸ एक जगह उन्होंने दूसरों के बारे में लिखा है, “डोरी लाल का स्वभाव ही ऐसा था।”²⁹

यहाँ उन्होंने अपने और अन्यो के कई स्वभावों के बारे में बताया है। तब कहा जाए कि यह स्वभाव का एक सामान्य पहलू है। ये ऊपर-ऊपर की बातें हैं। लेकिन दर्शन के स्तर पर मैं जिस स्वभाव की बात कर रहा हूँ, वह मूल और मूल्यपरक स्वभाव है जो अपने आप में बड़ी चीज है। बड़ी चीज इसलिए कि व्यक्ति का पुरुषार्थ इसी पर निर्भर करता है। बड़े व्यक्तित्व का यही आधार है। तब, मूल और मूल्यपरक स्वभाव को केन्द्र में रख कर ही बालक श्यौराज के माध्यम से आजीवक दर्शन के स्वभाव के महत्व को समझा और जाना जाए।

मूल स्वभाव

पहले मूल स्वभाव को लिया जाए। बताया जाए कि अपने मूल स्वभाव में बालक श्यौराज स्वप्नदर्शी हैं। उन की चेतना उन के इसी स्वभाव से बनी हुई है। स्वप्न और श्रम—ये दोनों ही उन के मूल स्वभाव के आधार हैं।

I

उन्होंने लिखा है :

मैं खेत में पहुँचा ही था कि बोरी में बज रहे रेडियो पर समाचार आया कि आज सायं नरौरा विद्युत संयंत्र का उद्घाटन होगा। इन्दिरा गाँधी जी, बाबू जगजीवन राम जी और बी. पी. मौर्य आदि नेताओं के पहुँचने की सम्भावना है। मैं बाबू जगजीवन राम को पास से देखना चाहता था। एक-दो बार उन की आवाज रेडियो पर सुनी थी। बहुत प्रभावित था उस आवाज से। पर ऐसे में क्या करूँ? घास ले कर वापस गाँव लौटूँगा तब नरौरा जाऊँगा? बऊ जाने देगी या नहीं? दोपहर का खाने का क्या होगा? नदरोली से नरौरा दस-पन्द्रह कि. मी. तो होगा ही। अब मैं क्या करूँ?³⁰

तब, आगे उन्होंने क्या निर्णय लिया है लिखा है :

मैंने खुरपी से तुरन्त ही बबूल के नीचे एक गड्ढा खोद लिया। बोरी में लपेट कर रेडियो खेत की मिट्टी में गाड़ दिया और जगजीवन राम को देखने की लालसा ले कर भाग छूटा। दोपहरी-भर

भागता-हाँफता हुआ वहाँ पहुँचा¹

यह बालक श्यौराज का भाग-छूटना क्या है? यह उन का स्वप्नदर्शी स्वभाव है जो उन्हें भाग छूटने के लिए मजबूर किया है। सवाल है, यहाँ बालक श्यौराज किस से भाग छूटना चाहते हैं? उत्तर है, गरीबी और गुलामी से। उन के सामने खुद और दलित समाज की मुक्ति के बड़े सपने हैं। उन की चेतना उसी ओर उन्मुख और सक्रिय है। तब, देखा जाए कि उन के सामाजिक सपने क्या हैं?

उन्होंने लिखा है :

सामाजिक गुलामी की कारा में पड़े हमारे लिए स्वयं को आजाद कहना क्या बेमानी नहीं है?
क्या दलितों की आर्थिक, सामाजिक और शैक्षिक बदतरी तुलनात्मक विकास की दृष्टि से बढ़ती नहीं जा रही?²

उन के पास मुक्ति के सपने हैं, इसलिए सवाल है। यह सवाल उन के और उन के समाज की दयनीय स्थिति को ले कर है। उन्हें अपनी स्थिति का यह ज्ञान जितनी शिक्षा से नहीं उतना अनुभव से मिला है। किसी व्यक्ति या परिवार पर सामाजिक गुलामी की अधिकतम मार क्या हो सकती है—इसे देखना हो तो बालक श्यौराज की आत्मकथा पढ़ी जाए। इसे उन्होंने बड़ी मेहनत से कलमबद्ध किया है। तब, यह आत्मकथा किसी व्यक्ति या परिवार विशेष के अनुभवों का नहीं बल्कि पूरे दलित और वंचित समाज के अनुभवों का प्रतिनिधित्व करती है। तब, सामाजिक हालातों के साथ-साथ उन के अपने हालात भी हैं जो उन की चेतना के दायरे से बाहर नहीं हैं। वह भी उन की मुक्ति के सपने के दायरे में है।

उन्होंने लिखा है :

मैं जिन पिछड़े उत्पादन क्षेत्रों और अविकसित समाज के सम्पर्क में था, वैसी ही मेरी सोच-समझ थी। पर कोई चेतना थी जो दबे रूप में मुझे नई जिन्दगी प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती थी³

बालक श्यौराज में मुक्ति की चेतना है। खुद की भी और अपने समाज की भी। ये दोनों उन के स्वप्न हैं जिन्हें वे मूर्तिमान करना चाहते हैं। लेकिन उन्हें पता है कि अकेले की मुक्ति में उन की वास्तविक और स्थायी मुक्ति नहीं है। दलित समाज का कोई व्यक्ति भले ही अकेले आर्थिक गुलामी से मुक्त हो जाए, लेकिन गुलामी से उस की मुकम्मल मुक्ति तभी होनी है, जब उस का समाज भी मुक्त हो जाए। यह चेतना बालक श्यौराज के स्वभाव के मूल में है जिस के चलते वे अपनी सामाजिक जिम्मेदारियों से भागते नहीं।

उन्होंने लिखा है :

मां मुझे वैसा ही सिपाही बनाना चाहती थी, जबकि मैं मार्क्स-अंबेडकर जैसे महान क्रान्तिकारियों से प्रेरित देश-स्तर पर बड़े काम करने के सपने देख रहा था। वह भी सचमुच का सर्वहारा होते हुए एक घोषित अछूत का बेटा! शहर में रहकर आगे पढ़ाई करने के लिए अपनी तात्कालिक आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रति कैसा निर्मम रहा हूँ मैं?⁴

उन के सामने खुद की मुक्ति के साथ सामाजिक मुक्ति का बड़ा सपना है जिस का वे निरंतर पीछा करते हैं। लेकिन उन की अपनी विरासत क्या है, क्या वे इस के सहारे उस का पीछा कर सकते हैं? इस से वे अनभिज्ञ नहीं हैं। विरासत के महत्व को बताते हुए डा. धर्मवीर ने लिखा है—“हार्डिंग कार्टर ने विरासत के बारे में एक बहुत अच्छा वाक्य लिखा है। 19 दिसम्बर, 2009 के हिन्दुस्तान पत्र में छपा है। यह वाक्य इस प्रकार है—‘दो ही विरासत हैं जो हम अपने बच्चों को दे सकते हैं, एक तो जड़ें और दूसरा पंख।’ लेकिन जिन लोगों की जड़ें काट दी गयी हों और पंख कुतर दिये गये हों वे क्या करें? कैसे जाएं? सम्मान कहाँ से पाएं? विकास किस दिशा में करें?”⁵ डा. धर्मवीर के सवाल बिल्कुल सही हैं।

यह सच है, व्यवस्था के द्वारा बालक श्यौराज की जड़ें काट दी गयी थीं और पर कुतर दिये गये थे। बावजूद इस के, बालक श्यौराज ने अपने पुरुषार्थ से एक मुकाम हासिल किया है। तब, उन की वैचारिक और धार्मिक विरासत कमजोर ही सही, उन्हें ताकत दे गयी थी। इसी के सहारे वे पंखों से नहीं अपने हौसलों से उड़ान भर गये थे।

II

सपने देखना बड़ी बात नहीं, उसे हासिल करना बड़ी बात है। बिना दृष्टि और समझ के यह संभव नहीं। लेकिन, सपनों को साकार करने के लिए अथक श्रम और हार न मानने वाली ईच्छा शक्ति की जरूरत है। बिना इन दोनों के सपनों का पीछा करना संभव नहीं। कुछ बढ़ा करने वाले के रास्ते को यहीं से गुजरना होता है। इसलिए, श्रम को ही लिया जाए और देखा जाए कि श्रम के प्रति बालक श्यौराज का क्या दृष्टिकोण है?

बालक श्यौराज और उन के पिता के परिवार की माली हालत ऐसी थी कि बिना कमाये भोजन नहीं मिलना था। तब सवाल है, क्या रोज कमाना और रोज खाना उन की मजबूरी थी? मेरा कहना है, रोज कमाना और रोज खाना उन की मजबूरी नहीं, सांसारिक नियति थी जिस में वे मूल्यों को छोड़ कर नहीं चलना चाहते थे। वे श्रम कर के ही खाना चाहते थे। तब, कमा कर खाने के अपने मानस के बारे में उन्होंने बताया है।

उन्होंने लिखा है :

मेरे निरक्षर परिजन रोज की मेहनत पर ही आश्रित थे। एक समय हालात भिखारियों से भी बदतर हो गये थे। पर खुदारी थी कि काम कर के ही खाना है, भीख या रहम का निवाला नहीं। फिर यह घर कैसे चलता?³⁶

उन्होंने आगे लिखा है :

ताऊ और बब्बा नेत्रहीन हो कर भी खेत की जमीन खोद लेते थे और साँकलदार पलंग बुन लेते थे। शरीर बलिष्ठ था। मुर्दा मवेशियों को उठाने में वे अपने पुष्ट कन्धों का उपयोग करते थे। इस हाल में भी मेरे पुरखे बिना मेहनत की कमायी का एक निवाला तक खाना पसन्द नहीं करते थे।³⁷

तब, अपने पूर्वजों से उन्होंने सबक लिया है :

उन की खुद्वार जिन्दगी मेरे लिये सबक है। किसी का मुफ्त दिया मत खाओ, जो खाओ उस का मूल्य अपनी मेहनत से चुकाओ। यही उन का अघोषित और अलिखित सिद्धांत था जो उन के स्वभाव और व्यवहार से प्रकट होता था। भीख या मुफ्तखोरी के प्रति वही तिरस्कार मेरे बाल व्यक्तित्व में समाहित हुआ।³⁸

एक समय हालात ऐसे बने थे कि काम न मिलने पर भूख मिटाने के लिए उन्हें एक जहरीले पौधे ढड़ायन का बीज खाना पड़ा था जिस में उन की माँ और भाई-बहन की जान जाते-जाते बची थी। लेकिन, वे और उन का परिवार भीख मांगने की तरफ नहीं गया था। वे जिस माहौल में पल-बढ़ रहे थे उस में कुछ लोग जीविका चलाने के लिए कुछ दूसरे गैर-कानूनी और असम्मानजनक काम भी करते थे। मसलन, चोरी करने, भीख मांगने, दलाली करने और जूआ आदि खेलने के काम भी लोग करते थे। लेकिन यह सब करना उन के स्वभाव में नहीं था।

ऐसा कहीं नहीं लगा है कि बालक श्यौराज श्रम से भागे हों। ऐसा भी नहीं लगा है कि वे अपनी स्थितियों को ले कर खुद को, परिवार को या समाज को कोस रहे हों। या, दूसरों की अच्छी स्थितियों

को ले कर हाय-हाय कर रहे हों। भोजन के लिए उन्हें जो भी करना पड़ा उन्होंने किया। उस से भागे नहीं। बावजूद इस के, उन्हें पूरा एहसास था कि उन का शोषण हो रहा है। वे कई बार ठगे भी गये थे। लेकिन प्रतिक्रिया में वे बुरे काम की तरफ नहीं गये। उन के मन में ऐसा कभी नहीं आया कि अगर उन के साथ व्यक्ति या समाज बुरा कर रहा है तो बदले में वे भी उन के साथ बुरा करें। कड़ी मेहनत के बावजूद, भूख हमेशा उन के सामने मुंह बाए खड़ी रही। लेकिन उन्हें मेहनत कर के ही खाना है, इस विचार से वे कभी डिगे नहीं। निठल्लापन उस के स्वभाव में नहीं है।

III

ऐसा नहीं था कि बालक श्यौराज ने अपने पूर्वजों से मात्र कमा कर खाने की दृष्टि ली थी। इसे उन्होंने अपने व्यवहार में भी उतारा है। हालातों के चलते, उन्हें पाँच-सात साल की उम्र में रोटी कमा कर खानी पड़ी थी। जिस उम्र में बच्चों को पिता के द्वारा अच्छा-अच्छा खाने और पहनने को मिलता है, उस उम्र में बालक श्यौराज को कमा कर खाना पड़ा था। कोई पिता अपने बच्चों को इस स्थिति में रख कर सोचे। कल्पना करने से डर लगता है। उस से संवेदनाएं विचलित होती हैं। बालश्रम करते हुए उन के बालमन पर क्या गुजरी है, उन्होंने दर्ज किया है।

उन्होंने लिखा है :

सुबह से शाम तक काम से थक कर आता तो गहरी नींद आती। मटरू ताऊ ने अपनी बम्बई की कमाई में से अच्छी मजूरी दी थी। कहा था बेटा एक चमकती कमीज बनवा ले। पर दिन निकलने पर जब सब बच्चे सो रहे होते तो मेरा कोई-न-कोई मालिक किसी-न-किसी काम के लिए मुझे जगा रहा होता था। खुद मकान बनवाने वाले भी मुझे छोटा देखकर काम नहीं देना चाहते थे, परन्तु मेरा श्रम बहुत सस्ता था—भरपेट रोटी और दो-चार आना पैसा।⁹

उन का यह वाक्य—‘दिन निकलने पर जब सब बच्चे सो रहे होते तो मेरा कोई-न-कोई मालिक किसी-न-किसी काम के लिए मुझे जगा रहा होता था।’ यह एक बालक के महादुख का महावाक्य है। यह किसी को भी विचलित कर सकता है। किसी पर आयी हुई मुसीबतें मुझे परेशान करती हैं, लेकिन बच्चों और बूढ़ों पर आयी हुई मुसीबतें मुझे विचलित करती हैं।

एक जगह उन्होंने और लिखा है :

शादी के कार्यक्रम के कारण घर में खाने-पीने की काफी चीजें भरी हुई थीं। मैं घूम-फिर कर आता तो कभी चन्दरो, कभी मन्दरो लड्डू आदि कुछ मीठा खाने को दे देती थीं। मेरे लिए मिष्ठान और अच्छा खाना दुर्लभ था। शायद पिता की मृत्यु के बाद पहली बार बिना काम किए ऐसी चीजें खाने को मिल रही थीं।¹⁰

उन का यह दूसरा वाक्य—‘शायद पिता की मृत्यु के बाद पहली बार बिना काम किए ऐसी चीजें खाने को मिल रही थीं’, द्रवित करता है। एक बच्चे के लिए सब से बड़ा खुशी का पल क्या है—यही कि उस के पिता खाने लिए उस की पसंद की चीजें लाएं। पिता के लिए भी इस से बड़ा खुशी का पल कोई और नहीं कि वह अपने बच्चों को अच्छा-अच्छा खिलाये और पहनाये। एक पिता के कमाने की सार्थकता भी इसी में है। माता-पिता के लिए इस से बड़ा सुख और संतोष कोई दूसरा नहीं। बच्चों के सिर से पिता का साया उठ जाए, उन के लिए इस से बड़ा कोई दुख नहीं। किसी बालक के लिए यह महादुख है।

कहने का आशय यह कि मेहनत करना उन के स्वभाव में है। बाल मजदूरी उन की नियति न भी बनती तो भी वे श्रम से भागते नहीं। उन के पूर्वजों से यह उन्हें संस्कार में मिला हुआ था। कहा जाए

कि यह उन के डी. एन. ए. में है। मेहनत करने के अपने इसी स्वभाव के चलते ही उन्होंने यहाँ तक का सफर तय किया है। आज, उन के द्वारा दलित साहित्य और पत्रकारिता के क्षेत्र में निरंतर किये जा रहे महती योगदान इस के उदाहरण हैं।

मूल्यपरक स्वभाव

मूल्यों को साध कर चलना बालक श्यौराज के स्वभाव में है। तब, चाहे वह ईमानदारी और निष्ठा की बात हो, त्याग और समर्पण की बात हो या सहनशीलता और कृतज्ञता आदि की बात हो इन्हें साध कर ही चले हैं। अपने इस स्वभाव के चलते ही वे यहाँ तक पहुँचे हैं। मूल्यों को साध कर चलने में उन के सामने मुश्किलें जरूर आयी थीं, लेकिन उन्होंने अपनी मंजिल को पाने के लिए गलत रास्ते का चुनाव नहीं किया। ये मुश्किलें उन के मंजिल के रास्तों की थी, खुद के द्वारा खड़ी नहीं की गयी थीं। उन्होंने अपने सपनों को बिल्कुल सीधे और साफ-सुथरे रास्ते पर चल कर हासिल किया है। इस में साध्य को पाने के लिए साधनों की पवित्रता को बनाये रखने की बात है। इस से ही पुरुषार्थ में चार चाँद लगता है।

ईमानदारी और निष्ठा

ईमानदारी और निष्ठा बालक श्यौराज के स्वभाव में है। यह मेरे लिए बड़ी बात तो है पर विशेष बात नहीं। अमूमन ऐसा दावा सभी करते हैं। यह जानते हुए कि बेईमानी भी किसी के स्वभाव में होती है। आखिर, बेईमानी के अभाव में ईमानदारी का क्या महत्व है? मनुष्य के व्यवहार को समझने के दो तरीके हैं। एक, मनुष्य स्वभाव से अच्छा पैदा होता है—और दो, मनुष्य स्वभाव से बुरा पैदा होता है। कौन किस को ले कर चलता है, यह अलग-अलग लोगों पर निर्भर है। वैसे, व्यक्तिगत रूप से मैं मनुष्य को अच्छा मान कर चलता हूँ।

बावजूद इस के, मैं यह मान कर नहीं चलता कि अच्छा व्यक्ति ही सफल होता है, बुरा व्यक्ति नहीं। बुरे लोग भी सफल होते हैं, पर उस में व्यक्ति की गरिमा और मनुष्यता तार-तार हुई रहती है। किसी सभ्य समाज के लिए यह कोई मानक नहीं। बुरा व्यक्ति हमेशा राजदंड का भागी रहता है। इस से भी ज्यादा कि वह कभी भय से मुक्त नहीं रह पाता। अच्छा बन कर चलने में व्यक्ति परिस्थितियों के साथ उठता और गिरता जरूर है। लेकिन वह वैयक्तिक गरिमा और मनुष्यता को हमेशा थामे हुए रहता है। वह किसी प्रकार के भय से हमेशा मुक्त रहता है।

I

प्रो. बेचैन ने लिखा है :

यहाँ कहने और सोचने की मेरे लिए बात यह है कि मैंने प्रेमनगर में रह कर दो-दो दिन भूखे पढ़ाई की। बऊ को अमानत के रूप में सौंपा एक कट्टा (आधा बोरा) गेहूँ मुझे उन्होंने वापस नहीं दिया था, फिर भी मैं उन के गेहूँ की रखवाली करता रहा। मैंने उन के चालीस क्विंटल गेहूँ में से चार सेर भी इधर-उधर नहीं किये। यह मेरा ईमानदार मन कैसे बना था, जब कि मैंने दो रोटी का आटा चुराने के जुर्म में प्रधान की डाँट और पैर की ठोकर खायी थी, इसी अपने गाँव में।¹

प्रेमपाल सिंह यादव ने बालक श्यौराज की पढ़ाई में मदद की थी। बदले में बालक श्यौराज ने उन के घर का काम किया था। खेतीबारी से ले कर पशुपालन तक। पढ़ाई के बदले प्रेमपाल सिंह ने बालक श्यौराज से बेगार करायी थी। बालक श्यौराज को इस बात का पूरा एहसास था। उन्होंने लिखा

है— “उन्होंने विद्यालयोन्मुख किया, उस उपकार से उन्मूढ नहीं हुआ जा सकता था। परन्तु उन्होंने जम कर दैहिक शोषण किया, वह भी भुलाया नहीं जा सकता।”⁴² प्रेमपाल की पत्नी ‘बऊ’ ने बालक श्यौराज का एक कट्टा गेहूँ जो उन्होंने छुट्टियों में कमाया था, उन के पास रखने के लिए दिया था। लेकिन उन्होंने बालक श्यौराज को वापस नहीं किया था। मांगने पर आज देंगे और कल देंगे कह कर टाल गयी थीं।

बालक श्यौराज के लिए प्रेमपाल सिंह यादव के प्रति बेईमान होने में ये दो बातें पर्याप्त थीं। तब, क्या उन के घर के प्रति बालक श्यौराज का ईमानदार बने रहना मजबूरी थी? उत्तर है बिल्कुल नहीं। प्रतिरोध में या मजबूरी वश वे गेहूँ चुरा सकते थे। इतने ज्यादा गेहूँ में से दो-चार किलो की चोरी पकड़ी भी नहीं जाती। लेकिन बालक श्यौराज ने ऐसा नहीं किया। यह वफादारी की बात थी। उन का ईमान उन के आड़े आ गया था। खुद पर एहसान करने वाले के प्रति बेईमान हो जाना, उन के स्वभाव में नहीं था।

II

एक दूसरे प्रसंग को लिया जाए जो उन के राजगिरी करने से जुड़ा हुआ है। प्रेमपाल सिंह यादव के यहाँ काम करने के बदले उन्हें केवल खाना मिलता था। इसलिए, वे अपनी अन्य जरूरतों को पूरा करने के लिए छुट्टियों में काम किया करते थे।

प्रो. बेचैन ने लिखा है :

स्कूल खुलने का समय आ गया था। मैंने डोरीलाल ताऊ के साथ रिवाड़े के पास जंगल में एक कुआँ चिना था। राजमिस्त्री की मालिकों से खातिरदारी की काफी अपेक्षा रहती थी। उस ने अच्छा खाना खिलाने में कोताही की तो डोरी लाल ताऊ बोले—सौराज सारे ने न दही खाई न परामटे। ‘विच्चोद’ (गाली) की सिमन्ट के दो-चार के कट्टा कुआँ के रेत में पीछे धकेल देऊ।⁴³

बालक श्यौराज इस से सहमत नहीं थे। नुकसान पहुंचाने का यह तरीका उन्हें जमा नहीं था। उन्हें डोरी लाल ताऊ की बातें अच्छी नहीं लगी थीं।

उन्होंने लिखा है :

डोरी लाल ताऊ ने मालिक को सजा देने का गलत तरीका सुझाया था। वह मुझे नहीं जमा। मैं वस्तुओं के दुरुपयोग या विनष्ट करने के हमेशा खिलाफ रहा हूँ। मैं सजा देने का कोई दूसरा तरीका चाह रहा था। यदि सीमेंट बर्बाद ही करनी है तो उस की मात्रा बढ़ा दी जाए जिस से मालिक की लागत ज्यादा लगेगी और क्रोध को तृप्ति मिलेगी। पर कुएं की दीवारें मजबूत हो जायेंगी।⁴⁴

लेकिन, उन की इस सलाह का उन के ताऊ डोरीलाल पर उल्टा प्रभाव हुआ था, वे बुरा मान गये थे। आगे उन्होंने बालक श्यौराज को काम देने से मना कर दिया था।

उन्होंने लिखा है :

इसलिए उन्होंने मुझे आइन्दा काम पर साथ रखने से इनकार कर दिया। राज चाहे तो एक बोरी सीमेंट की जगह तीन बोरी लगा दे। उन्होंने आखिर में मुझे सहमत तो कर लिया और हम दोनों ने सीमेंट बरबाद भी किया। मैं इस के लिए पश्चात्ताप करता रहा। डोरी लाल का स्वभाव ही ऐसा था। आइन्दा उन के साथ काम न करने का मैंने भी फैसला ले लिया था।⁴⁵

इस में स्वयं प्रो. बेचैन ने लिखा है कि डोरी लाल का ऐसा स्वभाव ही था। मेरे हिसाब से, मजदूरों के लिए ऐसा करना कोई बड़ी बात नहीं है। वे अकसर प्रतिक्रिया में ऐसा करते हैं जैसा कि डोरी लाल ने किया था। मजदूरों के प्रति अधिकांश मालिकों की क्रूरताएं मैंने देखी हैं। वे कम से कम पैसे में ज्यादा

से ज्यादा काम करा लेना चाहते हैं। कई बार जातिवादी मानसिकता के चलते भी ऐसी क्रूरतायें बरती जाती हैं। इसलिए मालिकों से नाराज होने पर मजदूरों का ऐसा व्यवहार स्वाभाविक है।

लेकिन कोई जरूरी नहीं कि हर मजदूर ऐसा करे ही। हालांकि, मजदूरों की कामचोरियाँ भी मैंने देखी हैं। जो मजदूर ईमानदारी और मेहनत से काम करते हैं फिर उन्हें कभी काम की कोई कमी नहीं होती। विरोध में नुकसान पहुंचाना डोरी लाल के लिए सामान्य बात थी। उन के लिए यह किसी तरह के पछतावे की बात नहीं थी। लेकिन वहीं, बालक श्यौराज के लिए यह असामान्य और पछतावे की बात थी। तब, यह अपने-अपने स्वभाव की बात है। आखिर लोग अपने स्वभाव के अनुकूल ही काम करते हैं।

अच्छे व्यक्ति को बुरा बनने में दिक्कत होती है। उस का स्वभाव उस के आड़े आता है। क्या बुरे व्यक्ति के साथ भी ऐसा होता है, मैं नहीं जानता। परिस्थितियाँ मजबूर न करें तो अच्छा व्यक्ति कभी बुरा न बने। बुरी परिस्थितियाँ अच्छे व्यक्तित्व के परख की घड़ी होती हैं। निर्णय लेने में वह किधर झुकेगा अच्छे की तरफ या बुरे की तरफ—सामान्यतः उस की संगति पर निर्भर करता है। अगर संगति बुरे की है तो वह बुरे की तरफ जायेगा और अच्छी है तो अच्छे की तरफ। लेकिन बड़े व्यक्तित्व के साथ ऐसा नहीं होता। वह बुरी संगति को अपने ऊपर हावी नहीं होने देता। यह कठिन काम जरूर है लेकिन बड़े व्यक्तित्व के लोग ऐसे कठिन काम करते ही हैं।

III

पैसे के अभाव में उन्होंने किताबें चुरायी हैं। परिस्थितिवश यह चोरी हुई लेकिन अच्छी बात है कि ईमानदारी से उन्होंने इसे बताया है, छिपाया नहीं है। बुरायी अच्छे व्यक्ति की बहुत दूर तक पीछा करती है।

उन्होंने लिखा है :

पढ़ाई में रुचि बढ़ने और किताबों के लिए पैसा न होने के कारण मैं जितनी किताबें खरीदता लगभग उतनी ही चुरा कर लाने लगा था। किताबें चुराने का मेरा अपना तरीका था। किताबें पतली होती थीं, जिन्हें प्रायः चार आने की दो खरीदता था और ऊपर का कवर मोड़ कर एक किताब उस के अन्दर छिपा लेता था। इस तरह आधी खरीदी हुई और आधी चुराई गयीं लोक-साहित्य की मेरे पास दस-बीस किताबों के तीन-चार संकलन हो गये थे।⁶

आगे उन्होंने लिखा है :

करीब एक दशक बाद मैं प्रेमपाल सिंह यादव के साथ चिरौरी स्कूल से गाँव लौट रहा था। मैंने गुन्नौर की पैठ में उन्हीं बुजुर्ग को किताबें बेचते देखा। मैंने जब से दस रुपये का नोट निकाल कर उन्हें दिया तो उन बुजुर्ग ने जानना चाहा कि यह रुपए मैं क्यों दे रहा हूँ। मैंने कहा—यह आप के ऋण का छोटा मुआवजा है। आप उधार नहीं देते थे, तो मैं चोरी करता था। इस पर उस बुजुर्ग को विश्वास नहीं हुआ। मैंने फिर कहा—‘आप भूल गये हैं।’ खैर, यकीन कराने पर बुजुर्ग ने पैसे रख लिये तो मुझे कुछ सन्तोष हुआ।⁷

ऐसा नहीं है कि अच्छा व्यक्ति गलती नहीं करता। जाने-अनजाने या परिस्थितिवश गलतियाँ उस से भी होती हैं। लेकिन अच्छा व्यक्ति गलतियों का एहसास करता है। उसे उस का पछतावा होता है। अगर उसे सुधार सकता है तो सुधारता है, नहीं तो प्रायश्चित्त करता है। बालक श्यौराज ने भी यही किया था। उन्होंने पुस्तक विक्रेता का पैसा वापस कर अपनी गलती सुधारा था।

हो सकता है, किसी व्यक्ति को ऐसा अवसर न मिले और पछतावे में हमेशा दुखी होता रहे। खुद को प्रताड़ित करता रहे। तब, ऐसे लोगों को थामने के लिए धार्मिक संस्थाएँ आगे आती हैं। वह चर्च आदि

जगह जाए और अपने गुनाहों की माफी मांग ले। इस से उस का दुख हल्का और मन पवित्र हो जायेगा। आखिर, वे मनुष्यों को बचाने के लिए ही बनायी गयी हैं।

व्यक्ति अच्छाईयों और बुराईयों दोनों के साथ पैदा होता है। यह उस के ऊपर निर्भर है कि वह इन में से किस को ले कर चले। अच्छी और बुरी परिस्थितियों में वह किस पर टिके। हो सकता है, अच्छा व्यक्ति परिस्थिति वश बुरा हो जाए और बुरा व्यक्ति परिस्थिति वश अच्छा। अच्छे और बुरे में फर्क इतना है कि अगर परिस्थिति वश किसी अच्छे व्यक्ति को बुरा होना भी पड़ जाए तो इसे वह एक अवसर के रूप में ले और थोड़ी देर के लिए ले। उसे अपना पेशा न बनाए। लेकिन जो इसे अपना पेशा बना ले वह बुरा है।

IV

प्रेमपाल सिंह यादव और उन के परिवार के साथ बालक श्यौराज के रिश्ते उतार-चढ़ाव के रहे थे। लेकिन उन्होंने उस परिवार के प्रति कभी अपनी निष्ठा नहीं खोयी थी। प्रेमपाल सिंह यादव ने बालक श्यौराज को स्कूल तक पहुंचाया था। वे उन के एहसानमंद थे और उन से भावनात्मक रूप से जुड़े हुए थे। लेकिन बदले में उन का बालक श्यौराज से अपनी घर-गृहस्थी की बेगार कराने की प्रवृत्ति कष्टप्रद थी। यह भावनात्मक रिश्तों को किसान और मजदूर के रिश्तों में तब्दील कर रही थी। यह बालक श्यौराज के लिए दुखद था।

बालक श्यौराज की भावनाएं उस समय बेहद आहत हुई थीं जब प्रेमपाल सिंह के खेत की जुतायी करते हुए उन के पैर में गहरी चोट लगी। बिना जुतायी पूरी किये घर वापस आने पर प्रेमपाल सिंह और उन की पत्नी अनौखिया ने उन के प्रति उपेक्षापूर्ण व्यवहार किया था। बालक श्यौराज के पैर की चिंता न कर उन दोनों ने अपने खेत न जुतने की चिंता की थी। उस शाम अनौखिया बरु ने बालक श्यौराज को खाना तक नहीं दिया था। यहाँ तक कि मांगने पर सरसो का तेल तक नहीं दिया जो वे गरम कर अपने घाव पर लगाना चाहते थे।

बालक श्यौराज को दोनों पति-पत्नी की तरफ से जिस संवेदना की उम्मीद थी उन्हें नहीं मिली थी। शायद संवेदनाएं बराबरी के रिश्तों में जन्म लेती हैं। लगता है, यह प्रतिक्रिया किसी दुर्भावना से प्रेरित नहीं, तात्कालिक थी। दो-तीन दिनों बाद बालक श्यौराज के पैर की गहरी घाव देख कर प्रेमपाल सिंह ने दुख व्यक्त किया था। बावजूद इस के, यह वाक्या बालक श्यौराज को आहत कर गया था। पर, मूल स्वभाव भी कोई चीज होती है, उसे कैसे बदला जाए? प्रो. श्यौराज ने लिखा है— “मुझे आज भी स्पष्ट स्मरण है—उन का वह कंजूस, लालची और शोषक रूप एक सन्त तुल्य शिक्षक के रूप से कितना भिन्न था।”⁴⁸ खेत की जुतायी न होने पर अनौखिया बरु का तात्कालिक व्यवहार बालक श्यौराज के प्रति जैसा भी रहा हो। इसे इसी रूप में समझा जाए कि यह उन के स्वभाव का एक पक्ष था। लेकिन उन का एक दूसरा पक्ष भी है जो बहुत ही प्रशंसनीय है जिसे प्रो. श्यौराज ने चिह्नित किया है। भोज के एक कार्यक्रम में कुछ लोगों ने बालक श्यौराज के अछूत होने की बात उठायी तो वे उन लोगों के विरोध में खड़ी हो गयीं।

प्रो. बेचैन ने लिखा है :

वह एक लड़के का हाथ झटक कर बोली—‘तू खाइ तो खा। नाँइ तो अपने घर जा। ज्यादा पण्डिताई दिखानी होइ तो अपने घर दिखइये सौराज मेरो बेटा जैसो है। मैं नाँइ मानती तुम्हारी छूतछात।’ बरु कह तो एक से रही थी, पर उस का सम्बोधन सभी के लिए था।... वह जितनी मजाकिया स्वभाव की थी उतना ही कड़क भी थी। उस दिन की भाषा मेरी स्मृति में आज भी मौजूद है, जो मुझे रक्त की सार्थकता को रिश्तों से बाहर के इंसानी रिश्तों का बल देती है। उस

के व्यक्तित्व की ऐसी कुछ बातें मेरे भीतर आज भी उन का आदर कराती हैं।⁴⁹

उन्होंने आगे लिखा है :

असल में, बऊ तो उस के लिए सम्बोधन-भर था। भावना में वह मेरी माँ जैसी ही थी। जो आत्मीय होती तो बेटा-सा व्यवहार करती, मनोरंजन की मुद्रा में होती तो मुझे से ही नहीं, अस्सी साल के बुढ़े से भी तलवा चीर मजाक करती और जब दुखी होती तो मुझे पास बिठा कर रोती, भीतर की दर्दिली परतें खोलती।...तब कभी वह खुश होती तो दूध या दही भी खिला-पिला देती थी। उस की खामियाँ मैं बता चुका हूँ परन्तु खूबियों का, अच्छाइयों का पलड़ा उस से कहीं बहुत भारी था।⁵⁰

परिस्थितियों वश रिश्ते बनते-बिगड़ते हैं। लेकिन इस में बुराईयों के साथ अच्छाईयों को नहीं भूला जाना है। उस समय तो और जब किसी ने आप को किसी भी रूप में उपकृत किया हो। अपने स्वभाव के अनुरूप प्रो. 'बेचैन' प्रेमपाल सिंह यादव और उन की पत्नी अनौखिया के प्रति ईमानदार और निष्ठावान बने रहे। उन की यह खूबी उन्हें एक बड़े व्यक्तित्व के रूप में तब्दील करती है। बात स्वभाव की ही तो है। प्रेमपाल सिंह यादव स्वभावतः कंजूस थे। लेकिन उन के एक इस अवगुण की वजह से उन की और अच्छाईयों को नकारा नहीं जा सकता।

एक अन्य प्रसंग में प्रो. बेचैन की इस खूबी को डा. धर्मवीर ने भी पकड़ा है। उन्होंने लिखा है—“एक तरह से डा. बेचैन ने अपनी दलित ईमानदारी का प्रण निभा दिया है जब भिकारी लाल के बारे में यह भी लिखा है—मुझे उस में अनेक खामियों के बावजूद, वह वक्त याद था जब पिता की असमय मौत के बाद इसी शख्स के घर हम ने कम सही, पर बुरा वक्त गुजारा तो था।”⁵¹

त्याग और समर्पण

त्याग और समर्पण उन के स्वभाव में है। ये दोनों गुण एक स्वप्नद्रष्टा के हैं। गुलामी से मुक्ति की चेतना बालक श्यौराज को बड़े से बड़े त्याग और समर्पण की ओर ले गयी थी। तब, पढ़ाई और खुद के प्रति उपकार करने वाले के प्रति उन का त्याग और समर्पण अन्यतम है।

I

एक जगह उन्होंने लिखा है—“शिक्षा मेरे लिए कबूतर का वह चुग्गा थी जिस की लालच में मैं हर बार शोषण की जाल में फँसता था।”⁵² गाँव के एक भूमिहीन और निरक्षर परिवार के बालक की यह नियति थी जिस से बच पाना मुश्किल था। बालक श्यौराज की माँ ने उन से कहा था कि बेटा कोई तुम्हें कुछ देगा तो ऐसे ही नहीं देगा, बदले में जरूर कुछ चाहेगा। बालक श्यौराज ने बचपन की किन-किन चीजों का त्याग किया होगा, जाना जा सकता है। उन्होंने लिखा है—“जो सोने लायक नहीं था, वहाँ सोया, जो पहनने लायक नहीं था उसे पहना और जो खाने लायक नहीं था, उसे खाया।”⁵³

सब से बड़ी बात कि पढ़ाई के लिए उन्होंने माँ का त्याग किया था। त्याग इस रूप में कि वे उन के भरण-पोषण की जिम्मेदारियों से पीछे हट गये थे। यह उन के जीवन का सब से बड़ा त्याग था। उस उम्र में इस तरह का निर्णय लेना कोई आसान बात नहीं थी। यह उन के लिए सब से कठिन और दुखद निर्णय था। यह उन की असहाय और मजबूर माँ की प्रतिक्रिया से पता चलता है।

उन की माँ ने कहा :

आज से मैं समजुंगी कि सौराज मरि गओ। मैंने एक बेटा पैदा ही नाँय करो, मैंने नौ महीना अपनी कोख में एक पत्थर ढोओ। आज से सौराज पूरी वस्ती कूँ मरे के बराबर है। अब तू जो मन में

आवैं सो करि। जब पढ़न की उमरि रही तब तो पढ़ि नाँय पाओ अब दुए रोटी को काम कन लाक भओ है तो मिस्त्री के औजार छोड़ि कें कलम चलावैगो।⁵⁴

उन्होंने आगे कहा :

मैंने कब नाँय पढ़ानो चाहो, जो इतनो ही भाग वालो हो तो बाप काहे कू मरी गओ तेरो? अब चार पैसा कमावन लाक भओ है तौ हमारो पेट भन्नो छोड़ि स्कूल के लालच में घर छोड़ि रओ है। तेरो जैसो दूसरो कोई निर्मोही होइगो जा दुनिया में? अब जहाँ मन आवैं, चलो जा। मैं सबुर करि लिउंगी। जिन्दी रही तो देखउंगी तू कैसो पटवारी, मुंशी या सिपाही बनेगौ।⁵⁵

एक माँ ने अपने बेटे को निर्मोही कहा। पता नहीं, उन्होंने अपने बेटे के स्वभाव का आकलन किया था या स्वार्थवश कहा था। बालक श्यौराज अपनी माँ के भरण-पोषण की जिम्मेदारियों से भाग रहे थे। तब, माँ की बातें हृदय को छलनी करने वाली थीं। बालक श्यौराज के दिल पर क्या गुजरी होगी समझा जा सकता है। उन के कठिन निर्णय लेने की यह सब से बड़ी सजा थी जो उन्हें माँ की तरफ से मिली थी। वे कोई बुरा काम नहीं करने जा रहे थे। बस, उन के कदम पढ़ाई की ओर बढ़ चले थे। दोनों बुरे नहीं पर अपनी-अपनी जगह मजबूर थे। कोई माँ नहीं चाहेगी कि उस का लड़का पढ़ लिख कर बड़ा आदमी न बने और कोई लड़का नहीं चाहेगा कि वह अपनी माँ का भरण-पोषण न करे।

बालक श्यौराज की माँ का पुनर्विवाह भिकारी से तो हो गया था लेकिन उन के दो बच्चे भिकारी के लिए बोझ थे। उन का भरण-पोषण भिकारी के लिए मुश्किल हो रहा था। वे चाहते थे कि बालक श्यौराज घर-गृहस्थी चलाने में उन की मदद करें लेकिन यह उन के लिए संभव नहीं था। उन के रास्ते किसी दूसरी तरफ मुड़ गये थे। यही बात उन्हें खलती थी और गुस्सा दिलाती थी जिस की सजा उन से ज्यादा उन की माँ को भुगतना पड़ता था। उन के पति भिकारी छोटी-छोटी बात पर उन्हें मारते-पीटते थे और उन की उपेक्षा करते और परवाह नहीं करते थे।

बालक श्यौराज की माँ के साथ मारपीट करने की इन्तेहाँ तब हो गयी जब बालक श्यौराज ने किताब खरीदने के लिए अपने सौतेले चाचा की जेब से एक रुपया चुरा लिया। डालचन्द को शक था कि पैसे बालक श्यौराज की माँ ने ही चुराये हैं। बालक श्यौराज ने डर की वजह से नहीं बताया था कि पैसे उन्होंने चुराये हैं। उस दिन डालचंद ने उन की माँ को बहुत बुरी तरह पीटा था।

प्रो. बेचैन ने लिखा है :

माँ की पीठ पर हल्दी पोतते हुए मुझे ऐसा लगा, मानो माँ की देह पर मेरी किताब के अक्षर छपे हैं और माँ पूरी की पूरी किताब हो गयी है। छाती पर लात मारी थी डल्ला ने। माँ के स्तनों का आधा भाग नीला पड़ गया था। मैं और मेरी बहन कमर, मुंह और छाती पर हल्दी पोतते रहे। मैं समझ गया। माँ के गुप्तांगों पर भी गहरी चोटें लगी थीं। मैं बाहर निकल गया, तब बहन ने वहाँ हल्दी पोती और मैं थोड़ी देर बाद फिर घर में आया।⁵⁶

ऐसे में, वे अपने पति भिकारी के लिए शारीरिक भूख मिटाने की एक साधन बन कर रह गयी थीं। तब, जितना बालक श्यौराज अपनी पढ़ाई के लिए त्याग कर रहे थे, उस से कम उन की माँ उन के लिए नहीं कर रही थीं। माँ-बेटे का यह कैसा अभिन्न रिश्ता था कि पुत्र के पढ़ाई करने की जिद की सजा उन की माँ को भुगतनी पड़ रही थी।

II

पढ़ाई के प्रति बालक श्यौराज का समर्पण देखते बनता है। बावजूद इस के कि उन की माली हालत बेहद खराब थी। उन की माली हालत को देख कर शायद ही कोई उन्हें पढ़ने की सलाह देता। इसलिए

किसी ने दिया भी नहीं। अगर प्रेमपाल सिंह यादव का उस में थोड़ा-बहुत हित न होता तो शायद वे भी न देते। लेकिन पढ़ाई के प्रति बालक श्यौराज के समर्पण के आगे कोई विरोध टिका नहीं। जितनी ताकत से लोग उन की पढ़ाई का विरोध कर रहे थे वे उस से दुगुनी ताकत से उस के लिए संकल्प ले रहे थे।

उन्होंने लिखा है :

तब, मैंने अपने आत्मविश्वास के सहारे और बालबुद्धि के अनुसार आवेश में आ कर अपने चुनौतीपूर्ण निर्णय की जोरदार घोषणा की थी— ‘मैं पढ़ूँगा, एक फेरा कोशिश जरूर करूँगा। अगर दसवीं पास नाँय करि पाओ, तो हार मान लिंगो, पर बिना कोशिश करे तो नाँय मानूँगा। कोई मेरो संगु देउ या मत देउ। मैं एक-एक अक्षर के बदले अपने खून की एक-एक बूंद दे दुंगो पर पढ़ूँगा नाँय छोड़ूँगा। जो तुम सब मेरे खिलाफ हो तो मैं आज से चमरियाने में ही आनो छोड़ि दिंगो। सोइ जाए करूँगा मास्टर जी के घेर में। भाड़ में जाइ बिरादरी और चूल्हे में जाइ घर-परिवार। मैं पढ़ूँगा, अपने बलबूते पै।’⁵⁷

उन्होंने पढ़ाई करने का जो संकल्प लिया था उस में अन्यतम समर्पण की जरूरत थी। उन्होंने यह समर्पण दिखाया भी। उन के श्रम का शोषण होता रहा, वे भूख और अपमान सहते रहे, पर पढ़ाई करने से पीछे नहीं हटे। तब, वे हाईस्कूल पास तो कर गये, लेकिन उन्हें इस की बड़ी कीमत चुकानी पड़ी। अकसर वे कहा करते थे कि अगर पढ़ाई के बदले उन्हें खून भी देना पड़े तो वे खून भी देंगे। संयोग देखिए कि प्रेमपाल सिंह के खेत की जुतायी करते हुए हल का फाल उन के पैर में गहरा घाव कर गया।

उन्होंने लिखा है :

उस दिन मुझे मेरा वह कथन याद आ रहा था, जिसे मैं कई बार अपने बिरादरी भाइयों में कह चुका था—‘मुझे पढ़ने को मिले तो मैं अक्षरों के बदले अपने शरीर के खून की बूंदें भी दे दूँगा।’ तभी मैंने सोचा कि यह तो पढ़ाई नहीं जुताई करते खून बह रहा है। श्यौराज, तू बेगार की भेंट चढ़ने को ज्ञान के लिए शहादत समझ रहा है?... लगता है खून बेकार नहीं गया। पाँव कट कर भी मेरा काम आगे ही बढ़ा है। पीछे नहीं हटा है। मंजिल की बात मैं नहीं करता, परन्तु कुछ पड़ाव तो तय किये ही हैं।’⁵⁸

त्याग और समर्पण उन के स्वभाव में है। यह प्रेमपाल सिंह यादव के प्रति उन के व्यवहार में भी झलका है। कृतज्ञ बालक श्यौराज उन के प्रति समर्पण भाव से भरे हुए थे। एक बार प्रेमपाल सिंह घर में अकेले तेज बुखार में अस्त-व्यस्त पड़े हुए थे। बालक श्यौराज कहीं से आये और उन्हें इस हालत में देख वे तुरंत वैद्य के घर भागे। वहाँ पहुँचने पर उन्होंने देखा कि वैद्य जी स्वयं बीमार हैं। ऐसे में न तो वैद्य जी प्रेमपाल के घर आ सकते थे और न ही प्रेमपाल सिंह वैद्य के घर। प्रेमपाल सिंह की हालत बहुत खराब थी। बालक श्यौराज परेशान कि अब वे क्या करें। तब वैद्य जी की पत्नी ने मजाक में कहा कि फिर वैद्य जी को ही अपनी पीठ पर उठा ले जाओ। तब, बालक श्यौराज सच में वैद्य जी को अपनी पीठ पर उठा कर प्रेमपाल सिंह के घर ले आये।

उन्होंने लिखा है :

नाड़ी देख कर वैद्यजी बोले—‘जल्दी ठण्डा पानी का कपड़ा और दवा का थैला ला।’ फिर कहा—‘बेटा तैने देर करी होती तो प्रेमपाल की जान चली जाती। मैं तेरे नाम को हवन कराऊँगा। तू अपनी कौम के और वाल्मीकि बस्ती के बालक इकट्ठे करि कें लै आइए हवन में।’ अंधेरा होने से पहले बऊ का भतीजा घर में घुसा और बोला—‘हम आ गये हैं। फिरक (बैलों की सवारी गाड़ी) मुकराइ दई है। तू कुट्टी डारि दे सौराज...।’ प्रेमपाल सिंह का हाल जानकर बऊ को सुखद

चिन्ता हुई। अगले दिन वैद्यजी ने ‘बऊ’ से कहा—‘तू जा अपने ‘हनुमान’ की पीठ ठोकि, जो मोड़ ऐसे उठाइ ले गओ जैसे राम की कहानी में हनुमान पर्वत कू उठाइ लाए। संजीवनी बूटी सहित।’⁹

बालक श्यौराज के द्वारा शिक्षा के लिए किया गया त्याग और समर्पण अन्यतम है। ऐसा उदाहरण हिन्दी साहित्य में नहीं मिलता। उन के इस संघर्ष के बारे में डा. धर्मवीर ने लिखा है— “शिक्षा की जद्दोजहद के लिए अन्यत्र भी काम हुए होंगे। लोगों ने बहुत मेहनत की होगी। दुनिया में एक से बड़े एक उदाहरण होंगे। लेकिन विपरीत परिस्थितियों में बालक का पढ़ाई के लिए ऐसा संघर्ष मैंने आज तक दूसरी जगह नहीं पढ़ा।”¹⁰

सहनशीलता और कृतज्ञता

इसी तरह, सहनशीलता और कृतज्ञता बालक स्वराज के स्वभाव में है। इन के सहारे ही वे आगे बढ़े हैं। उन्होंने अपमानित होने की हद तक सहनशील होने के अपने और कौम के बारे में कई प्रसंगों का जिक्र किया है जिन में से एक को लिया जाए।

I

उन्होंने लिखा है :

चूँकि मुस्लिम हिन्दू समाज के अंग नहीं हैं, इसलिए उन के साथ यादवों का व्यवहार बराबरी का होता है। ‘पशुओं में गधा’, ‘पक्षियों में उल्लू’ और ‘जातियों में चमार’—ये कहावतें हमारे प्रति सवर्णों की दलित विरोधी मानसिकता को उजागर करती हैं। यह एक दिन में तैयार नहीं हुई हैं। ये ज़ख्म इतने गहरे हैं कि हम दर्द से तड़पने के बजाय सहन करने के अभ्यस्त हो गये हैं। सब कुछ स्वाभाविक लगता है। बर्दाश्तगी ही हमारी नियति बन गयी है।¹¹

हो सकता है, सहनशीलता कौम की नियति बन गयी हो। मुझे याद है, ऐसा ही कुछ बात ओमप्रकाश वाल्मीकि ने भी कहीं कही थी कि वे इतने सहनशील क्यों हैं? शायद अपनी आत्मकथा ‘जूठन’ में या किसी अपने साक्षात्कार में, ठीक से याद नहीं। लेकिन उन्होंने यह बात कही थी। सवाल है, क्या दलितों के सभ्य और सहनशील होने की वजह से उन की गुलामियाँ इतनी लंबी खिंच गयी है? वैसे, देश में अधिकांश जातियों के बारे में, कम या ज्यादा, अपमानित करने वाली कहावतें बनी हुई हैं। स्वाभाविक है, समाज में ऊँच-नीच की भावना के चलते ऐसी कहावतें बनायी गयी हैं।

II

एक अन्य वाक्या यह है कि उन का स्कूल प्रेमपाल सिंह के घर से बहुत दूर था। इसलिए उन के स्कूल आने जाने में समय लगता था। इसलिए प्रेमपाल सिंह ने उन्हें अपने एक कलीग चौधरी रघुबीर सिंह के घर रह कर पढ़ाई करने की सलाह दी जिन का घर उन के स्कूल के करीब था। बालक श्यौराज वहाँ गये भी लेकिन छुआछूत के बरताव के चलते वहाँ से वे पुनः प्रेमपाल सिंह के घर वापस चले आये।

उन्होंने लिखा है :

घर में दूर से ही याचक की भाँति रोटी मांगनी पड़ती थी, इसलिए गुरु-माता का यह व्यवहार मुझे परेशान करने वाला था। मैं अपने उस विद्यार्थी जीवन को ले कर अकेले में कई बार फफक-फफक कर रोने लगता था। पर न जाने कहाँ से मेरे भीतर यह आशा बलवती हो उठती

थी कि जो कष्ट, शोषण और मुसीबत आज है, कल नहीं होगी। पढ़ गया तो सब दुख-दरिद्र दूर हो जायेंगे, इसलिए उपेक्षा और अपमान की स्थितियों को नजरअन्दाज कर काम में जुट जाता था।⁶²

व्यक्तिगत स्तर पर सहनशीलता स्वभाव का मसला है। तब, कहा जाए कि सहनशीलता बालक श्यौराज के स्वभाव में है। अगर ऐसा नहीं होता तो वे इतना शोषण और अपमान नहीं सहते। तब, उन के पास अच्छे भविष्य की चाहे जैसी मजबूरी होती, वे बिल्कुल नहीं सहते। लेकिन मैं इसे उन की कमजोरी के रूप में नहीं, गुण के रूप में ले रहा हूँ। मजबूर होने के बावजूद, बहुतों ने ऐसी गुलामियाँ नहीं की हैं, जैसी बालक श्यौराज ने की है। तब, शायद ही कोई उन में से बालक श्यौराज से प्रो. श्यौराज बना है।

जो लोग बालक श्यौराज के प्रेमपाल के घर रह कर पढ़ाई करने के फैसले को गुलामी बता रहे थे और उन का उपहास उड़ा रहे थे, वे ऐसे ही लोग थे। उन के पास कोई बड़े सपने नहीं थे। इसलिए वे अपमान सहने के लिए तैयार नहीं थे। सामान्य तौर पर, ऐसे लोगों का स्वभाव ऐसा होता है कि कम ही खायेंगे-पहनेंगे पर किसी की गुलामी नहीं करेंगे। तब यह और कुछ नहीं बल्कि स्वभाव की बात है। ऐसे लोग भले ही अपमान न सहने की बात करें, लेकिन क्या वे गुलामी से खुद को मुक्त कर लिये होते हैं?

III

बालक श्यौराज की बात बिल्कुल अलग थी। वे सामान्य सोच के साथ बहने वाले व्यक्ति नहीं थे। ऐसा होता तो वे भी राजगिरी और चमड़े के काम में लगे रहते। उन के पास इन सब से मुक्त होने के सपने थे जिस के लिए वे बड़ी से बड़ी कीमत देने को तैयार थे। प्रेमपाल सिंह के घर बालक श्यौराज के श्रम का शोषण हो रहा था। वे वहाँ घुटन महसूस कर रहे थे। बावजूद इस के, वे उन के साथ सहयोग कर रहे थे।

उन्होंने लिखा है :

मैंने सोचा, अगर कहूँ कि खेत मजूरी पर कटवा लो और अनाज भी उठवा लो, सब मुफ्त क्यों कराते हो तो वे मुझे स्कूल से बाहर करा देंगे और आने को हॉ कर दूँ तो फिर जबान झुटी नहीं करना है, आना ही है। मैंने मन में सोचा कि चलो दो-तीन साल हो गये काम करते, एकाध साल और सही। फिर तो मेरी बंधुआ भक्ति मेरी मर्जी पर होगी। कभी तो अपना जीवन अपने मन से जिऊंगा। मास्साब की बेगार स्वैच्छिक होगी। मजबूरी नहीं होगी। अभी तो ना का मतलब अपने सपनों की इमारत को अपने हाथों नींव से ही गिरा लेना होगा। अतः मैंने सोच कर कहा—“ठीक है मास्साब, मैं परसों जरूर आ जाँगो।”⁶³

इस में बालक श्यौराज ने अपनी स्थिति बयाँ कर दी है। ऐसे में, बालक श्यौराज असहनशील हो जाते तो क्या होता? बताने की जरूरत नहीं है। मजबूरियाँ सपनों के साथ आती हैं। फिर चाहे वे छोटे स्तर की हों या बड़े स्तर की। सपने नहीं तो मजबूरियाँ भी नहीं। सीधी सी बात है, जिन के पास सपने नहीं, वे सहनशील भी नहीं। बड़े सपनों के साथ अपमान और उपेक्षा को आने से रोका नहीं जा सकता। वे सपनों के साथ आने ही आने हैं।

अगर यह सब कुछ नहीं तो फिर सघर्ष किस बात का और किस के लिए? फिर सपनों का मतलब क्या रह गया? तब तो सपने फिर सपने नहीं, कोई सामान्य सी बात बन कर रह जायेंगे। कभी-कभी जिसे गुलामियाँ कही जाती हैं, वे एक अवसर भी होती हैं। यह व्यक्ति के ऊपर निर्भर है कि वह इस का

उपयोग कैसे करता है। बालक श्यौराज के हालात बहुत बुरे थे। वे भूमिहीन और पितृविहीन बाल मजदूर थे। प्रेमपाल सिंह के घर उन के श्रम का शोषण उन की नियति बन गया था। वे उस से भाग नहीं सकते थे। तब, एक उम्मीद उन्हें मजबूरियों को सहन करने की ताकत दे रही थी।

दलित चाहे स्वयं की मुक्ति की लड़ाई लड़ें या समाज की। उन का अपमान होना ही होना है। इसलिए कि छुआछूत उन के साथ जुड़ी हुई है। यह अपमान उन्हें गरीबी के साथ अतिरिक्त मिला हुआ है। यह उन की नियति है, पर स्थायी नहीं है। इसे बदला जा सकता है। लेकिन, अपमान सहते हुए किसी दलित व्यक्ति का हिंसक हो जाना सही नहीं है। इस में नुकसान ही नुकसान है। इसे किसी भी रूप में कायरता से नहीं जोड़ा जाना है। यह धैर्य और रणनीति से जुड़ा हुआ मामला है। हालांकि, सम्मान के लिए लड़ा ही जाना है और हरहाल में लड़ा जाना है। तब, इस के लिए परिस्थितियों के अनुकूल रास्ते निकाले जाने हैं। आत्मरक्षा में हिंसा जायज है, बावजूद इस के, बड़े काम के लिए इसे साधन के रूप में उपयोग करना दलितों के हित में नहीं है।

व्यवस्थाएं दलितों के नियंत्रण में नहीं हैं। वर्तमान में, खुद के समाज को छोड़ कर कोई अन्य समाज उन का कोई मित्र नहीं है। इन से अकेले टकराने का मतलब है खुद को खत्म करना। खुद को खत्म करने से या किसी और को खत्म करने से व्यवस्था बदलती है, तो इस के बारे में कोई सोचे भी। अगर ऐसा नहीं है तो फिर वैयक्तिक और सामाजिक दोनों स्तरों पर नुकसान ही नुकसान है। बालक श्यौराज के पूर्वजों के साथ क्या हुआ था? ‘उन के एक पूर्वजों ने अपने पिता को अपमानित करने वाले जिल्लेदार की हत्या कर दी थी। लेकिन तब उन्हें परिवार सहित गाँव और इलाका छोड़ कर भागना पड़ा था।’⁶⁴

इस का सही जवाब बाबा साहेब डा. अम्बेडकर और साहेब कांशी राम हो जाना है। या, संगठित हो कर उन के रास्ते पर चलना है। अनुमान लगाया जा सकता है कि अपने इन दोनों महापुरुषों को क्या-क्या सहना पड़ा होगा! तब उन के साहस और बहादुरी का कोई जोड़ नहीं। सहनशील स्वभाव के लोग ही बड़े से बड़े काम करते हैं और मुकाम हासिल करते हैं। गुलाम कौमों के लिए सहनशीलता किसी भी रूप में अवगुण नहीं है, बशर्ते कि वह बड़े कामों के लिए की जा रही हो।

प्रो. बेचैन ने लिखा है—“मैं उन दिनों अतिशय संकोची था। जहाँ तक सम्भव होता, मुसीबतें सह लेता था पर किसी को बताता नहीं था।”⁶⁵ बस, इस में एक बात और जोड़ दी जाए कि उन में यह संकोच उन के सहनशील स्वभाव के कारण आया हुआ है। लेकिन सहनशील होने का मतलब धूर्त और कायर होना नहीं है। सहनशीलता से इस का कोई संबंध नहीं।

कृतज्ञता

कृतज्ञ होना बालक श्यौराज के स्वभाव में है। असल में, कृतज्ञ होना मनुष्य होना है। यह उपकार करने वाले के प्रति सम्मान व्यक्त करना है। तब, यह उपकृत के मन में उपकार करने वाले के प्रति वफादारी का भाव भरती है। इस से अच्छे लोगों का मान बढ़ता है और उन्हें मानवता के प्रति और अच्छा करने की प्रेरणा मिलती है।

I

एक महत्वपूर्ण प्रसंग में प्रो. बेचैन ने स्कूल में दाखिला दिलाने वाले शिक्षकों का पैर छू कर कृतज्ञता व्यक्त की है। यह उन के जिम्मेदार स्वभाव का पता देती है।

उन्होंने लिखा है :

अगले दिन सवेरे मैं टी. सी. ले कर अपने गाँव नदरोली लौट आया और तैयार हो कर प्रेमपाल सिंह के साथ स्कूल की ओर रवाना हुआ। स्कूल पहुँचते ही मेरी टी. सी. ले कर प्रेमपाल सिंह प्राचार्य के कार्यालय में गये और फार्म भर कर मेरा दाखिला आठवीं 'बी' में करा दिया। तब मुझे प्राचार्य के पास आशीर्वाद लेने के लिए भेजा। उस समय उन के आस-पास चार-पाँच शिक्षक उपस्थित थे। मैंने उन के चरण स्पर्श करने के बाद क्रमशः सभी शिक्षकों के पैर छुए।⁶

उन्होंने आगे लिखा है :

प्राचार्य ने कहा— 'इस दिन को याद रखना बेटे! समझ लो यहाँ से तुम्हारी जिन्दगी एक नयी करवट ले रही है। असल में आज तुम्हारा नया जन्म हुआ है। यह संस्कार सर्वोपरि है।' मैं कार्यालय से निकला तो बाहर जो भी शिक्षक दिखे, चरणों में पड़ता चला गया। इस धुन और खुशी में मैंने बूढ़े चपरासी के पैर भी छुए तो अंग्रेजी शिक्षक मंद-मंद हंसे। गोया मुझे अभी इल्म नहीं है पैर छूने का भी। कौन वन्दनीय है और कौन नहीं!⁷

जिन शिक्षकों ने बालक श्यौराज का स्कूल में दाखिला दिलाया, उन की जितनी प्रशंसा की जाए कम है। खासतौर से, कुंवर बहादुर सिंह यादव का जो बालक श्यौराज की कविता सुन कर उन्हें अपने स्कूल के प्रधानाचार्य के पास ले गये। उस समय खुद प्रधानाचार्य साहेब ने एक आदर्श शिक्षक का कर्तव्य निभाया था। उन की भी जितनी प्रशंसा की जाए कम है। हालांकि, उन सभी की तरफ से यह भी कहा जा सकता है कि उन्होंने मात्र एक शिक्षक का अपना कर्तव्य निभाया था, इस से ज्यादा कुछ नहीं। बावजूद इस के, उन का हृदय से कृतज्ञ होना है। अवसर ही की तो बात है जिसे दलितों को नहीं मिला है। उसे आगे आ कर जो भी उपलब्धि कराये, उस के प्रति हर दलित का कृतज्ञ होना स्वाभाविक है।

II

प्रो. बेचैन ने प्रेमपाल सिंह यादव के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त की है। हालांकि, ऐसा करना उन के लिए आसान नहीं था। प्रेमपाल सिंह यादव ने उन के लिए शिक्षा के द्वार खोले जरूर थे। लेकिन बदले में उन से बेगार करा कर पूरी कीमत भी वसूली थी। हो सकता है, यह सचेतन न रहा हो, स्वभावगत कमजोरियों की वजह से रहा हो, लेकिन था। ऐसे में, उन के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त कर प्रो. बेचैन ने बड़े मन और समझदारी का परिचय दिया है।

उन्होंने लिखा है :

स्वयं प्रेमपाल सिंह का दर्जा मेरे जीवन में बहुत ऊँचा है। उन्होंने मुझ से बिना मजूरी दिये कई वर्ष काम जरूर लिया, परन्तु पढ़ने का जो मौका दिया, उस का ऋण मैं कभी नहीं चुका सकता। उन के बिना मैं पढ़ नहीं पाता। गाँव में बेगार-मजूरी करते कब का मर-खप गया होता!⁸

उन्होंने आगे लिखा है :

उन्हीं की सलाह और सहयोग से मैं हाईस्कूल कर पाया। इस कृतज्ञता के भार को महसूस करता था। जाने-अनजाने मुझे अपवाद छोड़ कर रक्त के कई रिशतों ने बराबर कष्ट पहुँचाया। किन्तु दिल और मनुष्यता के रिश्ते ने मुझे सहयोगी समझा। मेरी नीयत और इच्छा-शक्ति डगमगाई नहीं। इस के लिए मेरे साथ जिन का भी हाथ-साथ रहा हो, उन का मैं आभारी हूँ।⁹

प्रेमपाल सिंह यादव के मामले में थोड़ी अलग स्थिति बनती है। उन्होंने बालक श्यौराज का स्कूल में दाखिला कराया था। इस बात के लिए उन की जितनी प्रशंसा की जाए कम है। लेकिन उन की मदद

निःस्वार्थ नहीं रही। कोई किसी की मदद करे और बदले में उस से कुछ अपेक्षा रखे, इस में कोई बुरी बात नहीं। लेकिन बालक श्यौराज के मामले में यह अपेक्षा उन के श्रम के शोषण से जुड़ गयी थी। चाहे-अनचाहे यह रिश्ता एक खेतियार मजदूर और जमींदार का बन गया था। बावजूद इस के, उन के घर पर बालक श्यौराज के साथ छुआछूत नहीं बरती जाती थी। संबंध घर की तरह थे।

III

इसी तरह, उन्होंने अपने सौतेले पिता भिकारी के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की है। ऐसा करना उन के लिए सब से कठिन था। उन्होंने बालक श्यौराज के स्कूल जाने के हर रास्ते बंद करने की कोशिश की थी।

उन्होंने लिखा है :

वह प्रसंग और वे हालात क्या थे, जिन के कारण भिकारी और डल्ला हताश, झुंझलाए हुए अश्लील भाषा बोलते थे। पीढ़ियों से वे लोग शिक्षा, संस्कृति, विचार और भरण-पोषण के साधनों से वंचित थे। वे गाँव की उन्नत सवर्ण जातियों से दूर बाहर रखे गये थे। यह ध्यान देने की बात है कि इन असभ्य, असंस्कृत भाइयों ने हमें उस बुरे वक्त में सहारा दिया था, जब उन्नीस सौ बासठ-चौसठ के बाद देश में अन्न का अकाल पड़ चुका था। आस्ट्रेलिया से लाल गेहूँ आया था। पैसे की कमी के कारण घर महंगाई की चपेट में आ गया था। जब दूर तक कोई सहारा नहीं था, ऐसे समय में, इन्होंने हमें आधे पेट ही सही, खिलाया और रोटी की व्यवस्था की थी।⁷⁰

बालक श्यौराज को जीवन देने में उन के सौतेले पिता भिकारी का जितना भी योगदान रहा हो। उसे याद करना और उस के प्रति कृतज्ञता व्यक्त करना, यह भी बड़ी समझ और बड़े मन की बात है। भिकारी के आर्थिक हालात अच्छे नहीं थे। उन्हें भी रोज कमाना और रोज खाना था। उन्हें पत्नी तो चाहिए थी पर साथ में आये हुए बच्चे नहीं। उन के भरण-पोषण में उन्हें मुश्किल आ रही थी। बालक श्यौराज घर-गृहस्थी में कुछ मदद करने की स्थिति में थे, लेकिन वे पढ़ाई करने की जिद पर थे। यही बात उन्हें अखरती थी। उन की यही बात बालक श्यौराज और उन की मां के विरोध में जाती थी।

बालक श्यौराज के पढ़ाई करने की जिद और उन के घर-गृहस्थी में हाथ न बंटाने की सजा उन की मां को भुगतना पड़ता था। मार-पिटायी के रूप में भिकारी की सारी क्रूरतायें उन की मां पर उतरती थीं। एक अशिक्षित और साधनहीन व्यक्ति से उम्मीद ही क्या की जा सकती थी? लेकिन इस का मतलब यह नहीं कि हर साधनहीन और अशिक्षित व्यक्ति क्रूर होता है। यह अलग बात है कि बालक श्यौराज और उन की मां के हिस्से क्रूर व्यक्ति आ गया था।

बालक श्यौराज के स्वभाव के रूप में मैंने जिन मूल्यों की बात की है। वे समाज में किसी व्यक्ति के लिए विश्वसनीयता की गारंटी हैं। इस से भी ज्यादा उस के मनुष्य होने की गारंटी हैं। पुरुषार्थ की असली परख मूल्यों को साध कर चलने में है। बड़ी बात है कि अपने पुरुषार्थ के उपयोग में बालक श्यौराज इन मूल्यों को बराबर सम्मान देते हुए चले हैं। यह उन के स्वभाव में था। यह राह कठिन तो है पर असंभव नहीं।

ग. संगति

आत्मकथा में नियति और भाव की तरह संगति शब्द भी कई बार आया है और सही संदर्भों में आया है। प्रो. बेचैन ने लिखा है—“प्रेमपाल की संगति के दो प्रमुख असर थे। एक व्यायाम करना और

दो सिर पर बाल न रखना।”¹ एक जगह उन्होंने और लिखा है—“वह बेटे की सफलता का राज मुझे दे रही थीं, जब कि संगति पा कर वह पढ़ा ज्यादा जरूर था, पर पास तो वह खुद अपनी मेहनत से हुआ था।”² हालांकि, प्रो. बेचैन ने यहाँ जिस संगति की बात की है वह उस का एक पहलू है। लेकिन इस का दूसरा बड़ा पहलू है जो जीवन के आदर्शों से जुड़ा हुआ है।

I

बच्चे को पहली संगति परिवार की मिलती है। परिवार से ही वह अच्छे और बुरे मूल्य अपने स्वभाव और परिस्थितियों के अनुरूप ग्रहण करता है। बालक श्यौराज के पिता नहीं थे। मां थी, ताऊ थे और बब्बा थे। तब, देखा जाए कि उन्होंने बुरे हालातों में अपने परिवार से क्या सीखा था। पहले देखा जाए कि उन की माँ ने उन्हें क्या सीख दी थी।

प्रो. बेचैन ने लिखा है :

अब तू आज से बेटा अपने पेट की आग खुद बुझाबन की तरकीब सोच, जहाँ जो काम मिले करि, रुखी-सूखी जहाँ मिले तहाँ खा, फटो-पुरानों जैसो जो लत्ता-गूदड़ा मिले सो पहन, पर काऊ तें कबऊं कछु माँगें मत। याद रखिए तोइ बिना मतलब के कोई कछु नाँय देगो।”³

‘मेहनत की जो भी रुखी-सूखी मिले खाना, कभी किसी से कुछ मांगना मत। बिना मतलब के कोई कुछ नहीं देता।’ क्या बात है! लगता है, माँ की जुबान में कोई देवी बोल रही है। मां के सामने सिर झुकता है। बालक श्यौराज के जो हालात थे, उस में एक माँ अपने बच्चे को इस से बड़ी और उम्दा सीख और क्या दे सकती थी? यह एक माँ की सीख थी जिस में उन का स्वाभिमान और अनुभव बोल गया था। तब, माँ की सीख के मुताबिक ही बालक श्यौराज ने रोटी कमा कर खायी और खुद मुख्तयार बने हैं।

उन्होंने लिखा है :

जब से होश संभाला, तब से आज तक मुझे चाहे बहन का घर हो, या सौतेले बाप का घर, अपने पूर्वजों का गाँव हो, या फिर दिल्ली में मौसी का घर अथवा बाजपुर (नैनीताल) वगैरह में किये गये तरह-तरह के काम, मैंने काम कर के ही रोटी खाई है और इतनी कीमतें चुकाई हैं कि समाज मेरे बाल-श्रम का भुगतान कर दे तो मैं आज से ही शेष जीवन बगैर कमाये खाने का हकदार हूँ।”⁴

माँ के कहे अनुसार, बालक श्यौराज को चलना था तो उन्होंने हालातों के हिसाब से अपनी आदतों में बदलाव भी कर लिया था। उन्होंने लिखा है—“अपनी छोटी-मोटी आदतों पर नियन्त्रण कर लेना और नयी चीजें सीखना मेरा स्वभाव रहा है।”⁵ बिना इस के माँ की सलाह पूरी नहीं होती। तब, उन्हें अपनी मेहनत की कमायी से जो मिला बिना किसी असन्तोष के स्वीकार किया। उसी में जीना और रहना सीखा। इस प्रक्रिया में उन के साथ गरीबी की इन्तेहाँ हो गयी थी। उन्होंने आपबीती बतायी है—“जो सोने लायक नहीं था, वहाँ सोया, जो पहनने लायक नहीं था उसे पहना और जो खाने लायक नहीं था, उसे खाया।”⁶ बावजूद इस के, उन्होंने हिम्मत नहीं हारी थी।

बालक श्यौराज अपने ताऊ की संगति में कई वर्षों तक फुटपाथ पर जूते पालिश किए। तब, वे बिना बताये भी अपने ताऊ के आचरण से बहुत कुछ सीख रहे थे। एक तरफ वे अपने ताऊ की संगति में मेहनत और ईमानदारी से कमाने का गुण सीख रहे थे तो दूसरी तरफ अपने धार्मिक और सांस्कृतिक आदर्शों और विचारों से परिचित हो रहे थे। एक प्रसंग में, बालक श्यौराज बाजार से मछली खरीद कर लाये और बनाये। लेकिन ताऊ के साथ खाने से पहले उन्होंने लालच में आ कर उन की चोरी से दो

पीस खा लिये। लेकिन जब वे ताऊ के साथ खाने बैठे तो उन के ताऊ यह कहते हुए मछली परोसने लगे कि लो तुम चार पीस खा लो और मैं तीन पीस खा लेता हूँ। इस पर बालक श्यौराज डर गए और ताऊ से दो पीस पहले ही खा लेने की बात बता कर माफी मांग ली।

प्रो. बेचैन ने लिखा है :

अब पूरा आटा सिंक गया और रोटी खाने बैठे तो परोसने का काम ताऊ कर रहे थे। वे कलछी से ही परोस रहे थे। यह कहते हुए कि ले तू चार और खाइले मैं तीन खाइ लिंगो, तेरे हिस्सा में छह आ जाएँगी। तो मैं सिहर गया, रंगे हाथों पकड़ा जो गया था। अपनी चोरी के लिए शर्मिदा हुआ। मैंने तुरन्त अपनी गलती कुबूल की—ताऊ मन नाँय मानो, माफ करि देउ।⁷⁷

तब, आगे उन्होंने ताऊ के स्वभाव के बारे में लिखा है :

क्षमा-प्रार्थना की तो ठीक किया, वरना वे तुरन्त कहते—‘मोड़ चोरी पसन्द नाँय है। उठाइ अपना झोला, कमीज, पाजामा और इसी वक्त रात ही में उठ और भाग यहाँ से। स्टेशन पर जा कर बबराला की गाड़ी पकड़, गाम जा, दिल्ली जा या कच्चे इलाका बाजपुर-काशीपुर जा। जहाँ रोटी दिखाई दे वहाँ भाग जा। चोरी नरेब की आदत लैकें एक पल हू यहाँ नाँय रुकन दिंगो। यहाँ तें भाग, फिर चाहे चोरी करि-डाको डारि या भीख माँगि के खा, पीठ पीछे जो मन चाहे सो करि मोड़ मतलब नाँय।⁷⁸

बालक श्यौराज ने अपने ताऊ के साथ रहते हुए मेहनत और ईमानदारी से कमाने का गुण ही नहीं सीखा, बल्कि उन की संगति में अपने धार्मिक आचार-विचार और महापुरुषों के बारे में भी जाना।

उन्होंने लिखा है :

मेरे भीतर ताऊ के रैदास-कबीर का विस्तार अलग तरह से हो रहा था। शर्मा जी को मैं पैदायशी ज्ञानी होने के उलट पूरा अज्ञानी मानता था, क्योंकि हजारों साल तक ज्ञान को अपने आप तक सीमित रखकर वे दुनिया में अनपढ़ रखे अछूतों के लिए ज्ञान ध्यान का कोई काम नहीं कर पाये। जात-पाँत, ऊँच-नीच और छुआछूत ही इन की खास उपलब्धियाँ थीं। जड़ ब्राह्मणों के तथाकथित ज्ञान का नतीजा क्या है? यह ब्राह्मणी ज्ञान का कौन-सा वृक्ष है, जिस पर केवल गैर-बराबरी के ही फल आते हैं।⁷⁹

ताऊ की संगति में रहते हुए बालक श्यौराज अपने कबीर और रैदास से परिचित हुए थे। यह वही नींव थी जिस पर उन्होंने एक स्वतंत्र दलित साहित्य का विचार विकसित किया था। बाद में वे अपने स्वतंत्र धर्म, दर्शन और इतिहास पर आये थे। यह कोई छोटी-मोटी बात नहीं। उन्होंने, मौखिक रूप से ही सही, अपने पूर्वजों से कौम की एक स्वतंत्र पहचान का सूत्र और इतिहास प्राप्त किया था। अपने रैदास और कबीर को पा कर ही उन्होंने हिन्दू धर्म में अपनी स्थिति पर प्रश्न किया था।

उन्होंने लिखा है :

भूस्वामी पढ़े-लिखे कायदे-कानून जानने वाले प्रायः सिख धर्म वाले थे और मजदूर प्रायः अनपढ़ और हिन्दू धर्म के लोग थे। हिन्दू धर्म में हमारी जगह क्या थी, कहाँ थी? थी भी या नहीं, यह बात अलग थी। जमीन-जायदाद वालों में ऊँची जात के सिख थे, और अल्पभूमि या भूमिहीनों में रविदासी और मजहबी सिख होते थे। ये छोटी जोत वाले होते थे और अपनी किसानों का काम खुद ही करते थे। इन का रंग ज्यादातर काला होता था।⁸⁰

II

बालक श्यौराज दिल्ली बाल मजदूरी करने आये थे। वे यहाँ घर-घर जा कर नीबू बेचते थे। वे

अपने मौसा के घर रहते थे। उन के मौसरे भाई यहीं दिल्ली में पढ़ाई करते थे। उन की भी पढ़ाई की बात यहाँ चली थी लेकिन ऐसा नहीं हो पाया और उन्हें गाँव वापस आना पड़ा। लेकिन दिल्ली की संगति में रहते हुए उन्हें मिला क्या था—उन्होंने बताया है।

उन्होंने लिखा है :

दिल्ली से गाँव आने के बाद से ही एक बात मन में बैठ गयी थी। अच्छी चीज किसी तरह पढ़ना है। पर स्कूल नसीब नहीं था। अक्षर तो दूर, रोटी तक दुर्लभ थी। पर शौक था, अपने हमउम्र बच्चों की पुरानी और बाजार की फुटपाथी किताबों को मौका मिलते ही पढ़ता रहता था। कोई दिशा या स्पष्ट लक्ष्य मेरे सामने नहीं था।¹

उन्होंने आगे लिखा है :

दिल्ली आने-जाने का मुझ पर यह प्रभाव पड़ा कि मैंने स्कूल, अस्पताल और बाजार हर जगह लिखे-पढ़े लोगों को ही सार्थक जीवन जीते देखा-समझा। इस कारण पढ़ाई के प्रति मेरी इच्छा बढ़ती गयी। कक्षा नौ में जब मैं अपने रोटी, कपड़े और आश्रय की व्यवस्था नहीं कर पा रहा था तब स्कूली शिक्षा से निराश हो कर प्राइवेट पढ़ने की सोच रहा था। पर शिक्षा मेरे लिए उस कबूतर के चुंगे की तरह थी, जिसे पाने के लालच में मैं हर बार किसी-न-किसी शोषण के जाल में फँस जाता था।²

दिल्ली की संगति में रहते हुए उन्हें एक अमूल्य विचार शिक्षा का मिला था। यह एक स्वप्नदर्शी व्यक्ति के लिए बहुत बड़ी बात थी। यह परिवेश उन्हें शिक्षा के महत्व को समझने का अवसर दिया था। वे दिल्ली न आये होते तो शायद ही शिक्षा के महत्व को समझ पाते। कहा जाए कि उन में शिक्षा पाने का संकल्प दिल्ली की संगति ने भरा था। अपने संकल्प के साथ ईमानदारी से जुड़े रहने पर बड़ी से बड़ी कठिनाइयों के बीच से भी रास्ते निकल आते हैं। बालक श्यौराज के साथ भी ऐसा ही हुआ था। उन के मौसरे भाई नत्थू लाल की संगति उन के लिए प्रेरणा बन कर आयी थी। नत्थूलाल उन दिनों मौलाना आजाद मेडिकल कॉलेज में रह कर एम.बी.बी.एस. की पढ़ाई कर रहे थे।

प्रो. बेचैन ने लिखा है :

मैं पढ़ना चाहता था, लेकिन हालात मेरे प्रतिकूल थे। भाई साब मेरी कोई आर्थिक मदद तो नहीं कर सके पर कहते थे—‘किसी भी हालत में रहो पर पढ़ो, स्कूल नहीं जा सकते तो सैल्फ-स्टडी करते रहो।’ वे मेरे स्कूल में दाखिला ले कर पढ़ने के फैसले से इतने खुश थे कि मुझे शाबाशी देने नवीं पास करते ही वे दिल्ली से मेरे गाँव नदरोली पहुँचे थे—वैलडन, श्यौराज! उन का वह कथन आज भी कानों में गूँज रहा है। बाकी मेरी जाति-बिरादरी वाले, घर-पड़ोस, नाते-रिश्तेदारों में एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं था जो मेरे स्कूल जाने को उचित ठहराता।³

III

ऐसा नहीं है कि बालक श्यौराज ने संगतियों से हमेशा लिया ही लिया है। उन्होंने संगतियों से मिल रही कुछ चीजों को छोड़ा भी है जो उन के तर्कों पर सही नहीं बैठ रही थीं। उन्हें आर्य समाज के रूप में मिल रही ऐसी ही एक संगति थी। उस समय हिन्दुओं में आर्य समाज के माध्यम से समाज सुधार की एक प्रक्रिया चल रही थी। कुछ आर्य समाजियों द्वारा बालक श्यौराज को उस में दीक्षित भी कर लिया गया था जिस में उन्हें आर्य के रूप में श्रेष्ठ और अ-श्रेष्ठ होने की बात बतायी जा रही थी। आर्य समाजियों के द्वारा आर्य के रूप में किसी को श्रेष्ठ और अ-श्रेष्ठ बताये जाने की बात उन्हें जंची नहीं

थी। इसलिए वे उन लोगों से मन से नहीं जुड़ पाये।

प्रो. बेचैन ने लिखा है :

मैं आर्य समाज के प्रभाव में आ कर हुक्का-बीड़ी और मांस-मछली खाना छोड़ चुका था, यहाँ तक कि मैंने कौंधनी बाँधना भी शुरू कर दी थी। सिर मुँड़ा कर चोटा रखा लिया था और गले में एक यज्ञोपवीत भी धारण करा लिया था। गाँव के सुशिक्षित लोग आर्य समाजी थे। वे मुझ से खुश थे। मैं भी स्वयं को आर्य कहने लगा था।⁴⁴

उन्होंने आगे लिखा है :

मेरे नाम श्यौराज सिंह के साथ 'आर्य' उपनाम जोड़ कर नामकरण-संस्कार भी कर दिया गया था। मतलब भी समझा दिया गया कि आर्य का मतलब है श्रेष्ठ होना और अनार्य का मतलब अ-श्रेष्ठ होता है। उस दिन से मैं स्वयं को श्रेष्ठ और शेष को अश्रेष्ठ मानने का अभ्यास करने लगा। परन्तु ऐसी अताकिर्क आत्म प्रशंसा आज तक मेरे गले नहीं उतर सकी कि कैसे सरनेम 'आर्य' जोड़ लेने से व्यक्ति श्रेष्ठ और न जोड़ने से अश्रेष्ठ होता जाता है।⁴⁵

बालक श्यौराज के लिए यह स्वीकार करना संभव नहीं था। उन का संस्कार आजीवक विचारों से निर्मित हुआ था जिस में व्यक्ति अपने कर्म से श्रेष्ठ और अ-श्रेष्ठ होता है। नाम और पहचान बदलने से नहीं।

घ. परिणति

बालक श्यौराज नियति पर तो विजय नहीं प्राप्त कर सकते थे। लेकिन अपने पुरुषार्थ से उन्होंने जितना इसे अपने अनुकूल बना सकते थे, बनाया। आज उन की परिणति जिस रूप में दिख रही है, इस के पीछे उन का पुरुषार्थ है। कहा जाए कि उन्होंने अपने जीवन में जो भी मुकाम हासिल किया है, वह नियति, भाव और संगति के दायरे में रहते हुए हासिल किया है। इसे उन की उपलब्धि कहें या परिणति दोनों बातें एक ही हैं। हालांकि, उन्हें इस की बड़ी कीमत चुकानी पड़ी है जिसे कलमबद्ध कर उन्होंने समाज को अपने मूल्यवान अनुभव दिये हैं। तब, उन्होंने यहाँ तक कि अपनी यात्रा का अवलोकन किया है। एक लंबी और कठिन यात्रा के बाद प्रो. बेचैन ने अपना मूल्यांकन किया है।

उन्होंने लिखा है :

अब मैं अपने उस तीस साल पहले के मोची से मिलता हूँ तो उस से कहता हूँ—तुम भी बड़े दुस्साहसी मोची थे सौराज। तुम ने हमेशा लकीर से हट कर जोखिम उठा कर, अजनबी रास्तों पर जा कर क्या पाया? पाने की ख्वाहिश क्या थी? जब खोने को कुछ न था तो पाया ही पाया। मैं इतना सुखी और समृद्ध हो गया कि मेरी कवितायें, कहानियाँ, उपन्यास और आत्मकथा बिल्कुल भी गरीब नहीं रह गयी हैं।⁴⁶

यह खुद के बारे में एक सुलझे हुए और बड़े व्यक्तित्व का मूल्यांकन है। इस में बिना कहे बहुत कुछ कह दिया गया है। यह एक स्वनिर्मित व्यक्तित्व है जिस का जितना भी आदर किया जाए कम है। उन्होंने लिखा है—“वह मेरे खेलने-खाने की उम्र थी पर मुझे व्यवस्था ने फुटपाथ दिया था जहाँ बैठ कर मैं बूट पालिश किया करता था और अपने ग्राहकों को पढ़ा करता था। मेरे हालात मेरे विद्यालय थे और मेरे सम्पर्क में आने वाले लोग मेरे शिक्षक।”⁴⁷ कहा जाए कि बालक श्यौराज अपनी मेहनत से कठिन डगर तय कर के आये हुए हैं। इस से भी बड़ी बात कि विपरीत से विपरीत परिस्थितियों में वे वैयक्तिक

और सामाजिक मूल्यों को साध कर आये हुए हैं। अपने स्वभाव के अनुरूप बुरे को छोड़ते हुए और अच्छे को पकड़ते हुए आये हैं। बावजूद इस के, माँ को छोड़ने या कहें कि उन के छूट जाने का उन्हें बेहद पछतावा है। दुख है कि जीवन के अपने संग्राम में वे माँ के प्रति अपनी जिम्मेदारियों को नहीं निभा पाए। उन्हें न चाहते हुए भी भूख से मरने के लिए छोड़ दिया। लेकिन जब माँ के लिए कुछ करने की स्थिति में हुए तो वे इस दुनिया से चली गयीं।

उन्होंने लिखा है :

अब एक ओर अम्मा की स्मृतियाँ हैं, जिन में वह केवल चाचा के जीते जी एक स्त्री थी। कौम की सम्मानित महिला। बाद में उसे इतने कष्ट मिले कि कोई सहृदय इंसान लावारिस गाय-भैंस को भी यातनाएँ और अपमान नहीं देगा। वह उतनी ही निर्वाक् थी। बराबर काटी जा रही गाय-सी वह केवल चीख सकती थी। उस के पास और कोई भाषा न थी, न कोई उस को समझने वाला था। वह कानून नहीं जानती थी। तलाक से परिचित न थी। वह पुरुष पर निर्भर थी। दुष्ट पुरुष ही उस का ईश्वर था, जो उसे मजबूरी में मिला था।⁸⁸

उन्होंने आगे लिखा है :

दूसरी ओर मैं था। क्या मैं अपनी माँ से अलग था? मैं उन हालात से मुक्त होना चाहता था। मेरा जीवन मेरे लिए एक पहाड़ था, पर उसी में से रास्ता निकालना था। गिरते-पड़ते, लहलुहान होते, अपमानों के घूंट पीते और अभावों का जीवन जीते जब मैं चौरस जमीन पर खड़ा हुआ तो भी माँ से कहाँ अलग रहा? हम दोनों अपनी-अपनी स्थितियों में विवश थे, फिर भी मेरा मन मुझे हमेशा धिक्कारता रहा।⁸⁹

उन्होंने और आगे लिखा है :

किस तर्क से अपने नैतिक बल को ऊंचा रखूं, क्या यह मान लूं कि मैं मजबूरी छोड़ कर यदि न पढ़ता तो हमारे खानदान में पढ़ने-लिखने की शुरुआत न होती? या कहूं कि मैंने जो किया, यदि वह न करता तो न स्वयं बचता न माँ को बचा पाता। माँ को मरते हुए छोड़ कर मैं जो कुछ बना और आज अपने बहाने चमार जीवन की जो व्यथा-कथा जो कह रहा हूँ, उस का गौरव-बोध लूं और मान लूं कि अपनी माँ के जीवन-भर के कष्टों और अपने मन की इन फाँसों के सहारे पूरी चमार जाति के जीवन को एक अनुत्तरित सवाल बनाता जा रहा हूँ?⁹⁰

कहना क्या है? यही कि किसी को मुकम्मल जहाँ नहीं मिलता। तब, बालक श्यौराज को भी नहीं मिला है। सुख-दुख एक संगटे के दो छोर हैं जिन्हें साथ-साथ चलना होता है। कम और ज्यादा की बात हो सकती है, लेकिन ये किसी को मिलने हैं तो साथ-साथ मिलने हैं, अकेले नहीं। कोई यह दावा नहीं कर सकता कि उसे सुख ही सुख मिला है। कोई यह भी दावा नहीं कर सकता कि उसे दुख ही दुख मिला है। यह नियति का खेल है।

बड़ी बात है कि बालक श्यौराज ने इस नियति के खेल को कलमबद्ध कर दिया है। देश में लाखों बाल श्रमिक हैं। उन के मन पर क्या गुजरती है, हम नहीं जानते। बालक श्यौराज ने इस से हमें परिचित करवाया है। ऐसा कर के उन्होंने श्रमिक बच्चों पर बड़ा उपकार किया है जिसे डा. धर्मवीर ने भी संज्ञान में लिया है। उन्होंने लिखा है—“यह भारतीय बच्चों पर उन का उपकार है। इस पुस्तक की वजह से लोगों को इस व्यक्ति के प्रति कृतज्ञ होना चाहिए।”⁹¹

बालक श्यौराज ने एक पितृहीन बाल श्रमिक के रूप में अपने अनुभव लिखे हैं। मराठी के दलित साहित्यकार शरण कुमारे लिम्बाले ने अपनी आत्मकथा ‘अक्करमाशी’ में एक अवैध बच्चे के रूप में

अपने अपमानजनक अनुभव लिखे हैं। इसी तरह, विरेन गोहिल जो एक वेश्या के पुत्र थे, अपनी आत्मकथा 'नाम चाहिए एक बाप का' में अपने अपमानित और तिरस्कृत होने के अनुभव रखे हैं। इन तीनों आत्मकथाओं में उन बच्चों के हृदय-विदारक अनुभव आये हैं जिन के सिर पर उन के जीवित या मृत पिता का साया नहीं था।

डा. धर्मवीर ने प्रो. बेचैन की आत्मकथा को आजीवक धर्म के संस्थापक मक्खलि गोसाल की आत्मकथा बताया है। उन्होंने लिखा है—“मैं आजीवक धर्म की बात कर रहा हूँ तो लोग मुझ से उस के संस्थापक मक्खलि गोसाल के बारे में जानना चाहेंगे। वे मुझ से उन की जीवनकथा पूछेंगे। मेरा उत्तर है कि नए मक्खलि गोसाल की जीवनी मेरे पास है और नए मक्खलि गोसाल ने अपनी आत्मकथा लिख दी है। इस आत्मकथा का शीर्षक मेरा बचपन मेरे कन्धों पर है और ये हमारे नए मक्खलि गोसाल श्यौराज सिंह बेचैन हैं।”⁹²

मेरे हिसाब से, बच्चों को ले कर अभी बात पूरी नहीं हुई है। अभी सिद्धार्थ गौतम के पुत्र राहुल की आत्मकथा आनी बाकी है। सभी जानते हैं, राहुल शाक्यमुनि गौतम बुद्ध के पुत्र थे। जिस दिन वे पैदा हुए उसी दिन उन के पिता सिद्धार्थ गौतम यानी बुद्ध ने घर-बार छोड़ संन्यास धारण कर लिया था। तब, जीवित पिता के अभाव में बालक राहुल पर क्या बीती थी, कोई नहीं जानता। अभी किसी न किसी राहुल को अपनी बात कहनी शेष रह गयी है। चूँकि, अब गौतम बुद्ध के पुत्र राहुल हैं नहीं, इसलिए उन की आत्मकथा किसी बालक श्यौराज के रूप में ही आनी है।

संदर्भ:

1. बालक श्यौराज : महाशिलाखंडों का संग्राम, डा. धर्मवीर, 4695, 21-ए दरियागंज, नयी दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण, 2014
2. मेरा बचपन मेरे कन्धों पर, श्यौराज सिंह बेचैन, 4695, 21-ए दरियागंज, नयी दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण, 2009, पृ. 43
3. वही, पृ. 44
4. वही, पृ. 45
5. वही, पृ. 275
6. वही, पृ. 275
7. वही, पृ. 195
8. वही, पृ. 196
9. वही, पृ. 326
10. वही, पृ. 252
11. वही, पृ. 253
12. महान आजीवक कबीर, रैदास और गोसाल, डा. धर्मवीर, 4695, 21-ए दरियागंज, नयी दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण, 2009, पृ. 180
13. गोशालक : बुद्ध और महावीर के प्रतिद्वंद्वी मंखलिपुत्र गोशालक की क्रांतिकथा, डा. राजेन्द्र रत्नेश, राधाकृष्ण प्रकाशन प्राइवेट लिमिटेड, 7/31, अंसारी मार्ग, दरियागंज नई दिल्ली-110002, पहला संस्करण, 2015, पृ. 81
14. वही, पृ. 20
15. वही, पृ. 20
16. वही, पृ. 234

17. वही, पृ. 37
18. वही, पृ. 37
19. वही, पृ. 38
20. वही, पृ. 38
21. वही, पृ. 73
22. वही, पृ. 302
23. वही, पृ. 302
24. वही, पृ. 359
25. वही, पृ. 359
26. महान आजीवक कबीर, रैदास और गोसाल, डा. धर्मवीर, 4695, 21-ए दरियागंज, नयी दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण, 2009, पृ. 195
27. मेरा बचपन मेरे कन्धों पर, श्यौराज सिंह बेचैन, 4695, 21-ए दरियागंज, नयी दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण, 2009, पृ. 362
28. वही, पृ. 323
29. वही, पृ. 390
30. वही, पृ. 387
31. वही, पृ. 387
32. वही, पृ. 187
33. वही, पृ. 187
34. वही, पृ. 65
35. बालक श्यौराज : महाशिलाखंडों का संग्राम, डा. धर्मवीर, 4695, 21-ए दरियागंज, नयी दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण, 2014, पृ. 42
36. मेरा बचपन मेरे कन्धों पर, श्यौराज सिंह बेचैन, 4695, 21-ए दरियागंज, नयी दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण, 2009, पृ. 189
37. वही, पृ. 190
38. वही, पृ. 191
39. वही, पृ. 93
40. वही, पृ. 109
41. वही, पृ. 404
42. वही, पृ. 340
43. वही, पृ. 401
44. वही, पृ. 401
45. वही, पृ. 401
46. वही, पृ. 183
47. वही, पृ. 184
48. वही, पृ. 353
49. वही, पृ. 364
50. वही, पृ. 365
51. बालक श्यौराज : महा शिलाखंडों का संग्राम, डा. धर्मवीर, 4695, 21-ए दरियागंज, नयी दिल्ली-110002,

प्रथम संस्करण, 2014, पृ. 69

52. मेरा बचपन मेरे कन्धों पर, श्यौराज सिंह बेचैन, 4695, 21-ए दरियागंज, नयी दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण, 2009, पृ. 340
53. वही, पृ. 193
54. वही, पृ. 312
55. वही, पृ. 312
56. वही, पृ. 64
57. वही, पृ. 312
58. वही, पृ. 350
59. वही, पृ. 404
60. बालक श्यौराज : महा शिलाखंडों का संग्राम, डा. धर्मवीर, 4695, 21-ए दरियागंज, नयी दिल्ली-110 002, प्रथम संस्करण, 2014, पृ. 56
61. मेरा बचपन मेरे कन्धों पर, श्यौराज सिंह बेचैन, 4695, 21-ए दरियागंज, नयी दिल्ली-110002, प्रथम संस्करण, 2009, पृ. 185
62. वही, पृ. 341
63. वही, पृ. 390
64. वही, पृ. 78
65. वही, पृ. 369
66. वही, पृ. 320
67. वही, पृ. 320
68. वही, पृ. 190
69. वही, पृ. 420
70. वही, पृ. 64-5
71. वही, पृ. 374
72. वही, पृ. 346-47
73. वही, पृ. 26
74. वही, पृ. 167
75. वही, पृ. 334
76. वही, पृ. 193
77. वही, पृ. 271
78. वही, पृ. 271
79. वही, पृ. 340
80. वही, पृ. 271
81. वही, पृ. 139-40
82. वही, पृ. 235
83. वही, पृ. 340
84. वही, पृ. 336
85. वही, पृ. 303
86. वही, पृ. 306

87. वही, पृ. 289
88. वही, पृ. 67
89. वही, पृ. 67
90. वही, पृ. 67
91. बालक श्यौराज : महा शिलाखंडों का संग्राम, डा. धर्मवीर, 4695, 21-ए दरियागंज, नयी दिल्ली-110 002,
प्रथम संस्करण, 2014, पृ. 5
92. वही, पृ. 7



सागर में हिमखंड ज्यों डूबकर बचे
ठीक उसी तरह ये दुख
शिखर लाँघ—लाँघ कर आते हैं।
यादों की दाहक बूँदें
शरीर पर तेजाब छिड़कने—सी
आग दहका जाती है
काँधे पर जिंदगी का यह सलीब
और माथे पर भाग्य की तख्ती ठोंक कर
तुमने खुल्लम—खुल्ला हाथ झटक लिए हैं
अब भूतकाल की खाल खींच कर
साफ चेहरे से कैसे घूमा जा सकता है!

— दया पवार, अछूत, पृ. ११



प्रेमचंद की कहानियाँ : उर्दू-हिंदी पाठ भेद के कुछ

उदाहरण और कुछ सवाल

○ आशुतोष पार्थेश्वर

प्रेमचंद की कहानी-यात्रा 1908 में 'जुमाना' पत्रिका के अप्रैल अंक में प्रकाशित कहानी 'इश्क़े-दुनिया और हुब्बे-वतन' से शुरू हुई थी। यह एक उर्दू कहानी थी। हिंदी में उनकी पहली कहानी 'प्रताप' में 1914 के अक्टूबर माह में प्रकाशित हुई थी। कहानी का शीर्षक था-परीक्षा। 1908 से लेकर 1936 तक के अंतराल में उनकी तीन सौ से अधिक कहानियाँ प्रकाशित हुईं। इन कहानियों को तीन समूहों में वर्गीकृत किया जा सकता है। एक समूह में वे कहानियाँ होंगी जो केवल उर्दू में आईं। दूसरे समूह में वे कहानियाँ रहेंगी जो केवल हिंदी में आईं। तीसरा समूह उन कहानियों का होगा जिन्हें प्रेमचंद ने दोनों भाषाओं में प्रकाशित कराया। यह लेख इसी तीसरी श्रेणी की कहानियों पर केंद्रित है। ऐसी कहानियों की संख्या कम-से-कम एक सौ बासठ है। इनमें पचास ऐसी कहानियाँ हैं जो पहले उर्दू में छपीं फिर हिंदी में, शेष एक सौ बारह वे कहानियाँ हैं जो पहले हिंदी में छपीं फिर उर्दू में। दोनों भाषाओं में प्रकाशित इन कहानियों के पाठ का तुलनात्मक अध्ययन करते हुए हम प्रेमचंद की उर्दू-हिंदी की परस्परता से परिचित हो सकते हैं। प्रायः यह कहा जाता है कि प्रेमचंद की हिंदी तनिक परिवर्तन से उर्दू हो सकती है और उर्दू तनिक परिवर्तन से हिंदी। या, यह कि उनकी उर्दू और हिंदी में कोई विशेष अंतर नहीं है। जाफ़र रज़ा ने इस आम ख़्याल का परिचय देते हुए लिखा है, "प्रेमचंद की शैली के संबंध में हिंदी और उर्दू समूहों में एक प्रकार का भ्रम है कि प्रेमचंद की उर्दू और हिंदी रचनाएँ शैली के आधार पर एक सी हैं। कुछ परंपरागत शब्दों के प्रयोग का अंतर है और बस, उर्दू में फ़ारसी एवं अरबी के कुछ शब्द और हिंदी में संस्कृत और देशी बोलियों के कुछ शब्दों का अंतर होता है। उन्हें एक दूसरे में परिवर्तित कर दीजिए तो फिर कोई शैलीगत अंतर शेष नहीं रह जाता। यह विचार सरासर सुविधावादिता का परिणाम है।" इस कथन के आधार पर यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि क्या प्रेमचंद की उर्दू और हिंदी रचनाएँ सचमुच इतनी भिन्न हैं! क्या शब्दों में बदलाव से इतर भी उनमें अंतर है? तो वे अंतर किस प्रकृति के हैं। उनके कारण क्या हैं?

इस विषय में आगे बढ़ने से पहले रामविलास शर्मा का एक कथन देख लेना अनुचित न होगा। जाफ़र रज़ा की ही तरह वे प्रेमचंद की हिंदी और उर्दू को एक समान नहीं मानते। वे लिखते हैं, "प्रेमचंद की हिंदी-उर्दू में काफ़ी भेद है। लेखक एक ही है, विषय भी एक है, पर जब हिंदी लिखता है तब भाषा दूसरे ढंग की होती है, उर्दू लिखता है तब भाषा दूसरे ढंग की होती है।" वे इसे स्पष्ट करते हैं, "प्रेमचंद की रचनाओं में आमतौर से किसान अपनी जनपदीय भाषा नहीं बोलते। उनकी बातचीत पढ़कर ऐसा नहीं

लगता कि उनके लिए यह भाषा कृत्रिम है, गढ़ी हुई है। प्रेमचंद की किसी कहानी, किसी उपन्यास के पात्रों की बातचीत की तुलना कीजिए, उर्दू रूप वाली कृति में किसान किस तरह बोलते हैं और हिंदी रूपवाली कृति में किसान किस तरह बोलते हैं। कहाँ किसानों की भाषा अधिक स्वाभाविक है, इसका तुरंत पता लग जाएगा। कहानियों और उपन्यासों में प्रेमचंद जब खुद बोलते हैं, तब उनकी भाषा किसानों से बहुत अलग नहीं होती। पढ़कर ऐसा लगता है, किसान अगर हिंदी बोलते तो इसी ढंग की बोलते। प्रेमचंद की सफलता और लोकप्रियता का यही रहस्य है कि वह अपनी हिंदी को किसानों की भाषा के बहुत नज़दीक ले आए हैं, इतना नज़दीक कि दोनों एक मालूम होती हैं।³ रामविलास शर्मा किसान, हिंदी और प्रेमचंद को एक बिंदु पर लाकर खड़ा कर रहे हैं, और बहुत सचेत ढंग से उर्दू को उस बिंदु से विस्थापित कर देते हैं। क्या वाकई उर्दू इस व्यवहार की हकदार है? और, केवल किसानों के संवाद पर ही हिंदी-उर्दू को क्यों परखा जाए; स्वतंत्रता आंदोलन का वह दौर अपने भीतर अनेकानेक सवालों, बहसों और बेचैनियों को समोए हुए है और प्रेमचंद का लेखन उनसे परिचित होने के लिए सबसे विश्वसनीय 'पाठ' है। तो, किसानों के साथ ही दूसरे विषयों, जैसे-स्त्री, दलित आदि को इस 'कसौटी' पर क्यों न कसा जाए! और, यह क्यों न देखा जाए कि क्या यहाँ भी प्रेमचंद की हिंदी उसी तरह का व्यवहार करती है जैसा रामविलास शर्मा को किसानों के संवाद वाले उदाहरणों में करती दिखाई देती है।

यह एक बड़ा विषय है और किसी एक लेख में इसके साथ न्याय कर पाना, प्रेमचंद की हिंदी-उर्दू की समानता और भिन्नता, दोनों की पूर्ण पहचान कर पाना संभव नहीं है। बहरहाल, इस लेख में भिन्नता के कुछ उदाहरणों के ज़रिए यह समझने का प्रयास किया गया है कि यदि उनकी हिंदी और उर्दू में अंतर है, तो वह केवल भाषायी अंतर नहीं है, उस अंतर के स्पष्ट सामाजिक कारण हैं; और, दोनों भाषाओं में कोई एक भाषा यह दावा नहीं कर सकती कि वही प्रेमचंद की चेतना की असली संवाहिका है। उदाहरणों पर आने से पहले कहानियों के रूपांतरण के संबंध में शैलेश जैदी का एक मत विचारणीय है। उन्होंने लिखा है कि “कहानियों के उर्दू पाठ जहाँ मुस्लिम पाठकों की रुचि को सामने रखकर तैयार किए गए हैं, वहीं हिंदी पाठ में हिंदू पाठकों की रुचि का ध्यान रखा गया है।”⁴ यह एक ऐसा मत है जिसे न तो झटके से खारिज किया जा सकता है और न ही पूरी तरह स्वीकारा जा सकता है। एक उदाहरण से इसे समझा जाए; 1913 में प्रकाशित 'बाँगे-सहर' कहानी जब 'शंखनाद' शीर्षक से 1915 में आई तो हिंदी में उसके पात्र बदल गए। उर्दू पाठ में कहानी के पात्र मुस्लिम हैं और हिंदी कहानी में पात्र हिंदू। एक दूसरे उदाहरण के रूप में 'जमाना' पत्रिका में 1916 में प्रकाशित 'दो भाई' कहानी को ले सकते हैं। हिंदी में यह कहानी 1918 में 'लक्ष्मी' पत्रिका में 'दो भाई' शीर्षक से प्रकाशित हुई। इस कहानी के उर्दू पाठ में माँ जसोधा के दो बेटे हैं-कृष्ण और बलराम। यह कहानी हमारी पारिवारिक संरचना के टूटने, एक भाई द्वारा दूसरे भाई को ठगे जाने, बेवकूफ़ बनाए जाने, संपत्ति के लोभ में भाई की बर्बादी का सारा सामान जुटाने की कहानी है। हिंदी में भी कहानी वही है, जो उर्दू में है। किंतु पात्रों के नाम बदल दिए गए हैं। हिंदी पाठ में माँ का नाम कलावती है और उसके बेटों का नाम कंदार और माधव है। भला, हिंदी पाठ में बड़ा भाई कृष्ण छोटे भाई बलराम की बर्बादी का सामान कैसे जुटाता! सो, उसका नाम बदल दिया गया।

'बाँगे-सहर' से 'शंखनाद' में हुए रूपांतरण और 'दो भाई' कहानी के रूपांतरण को एक ही प्रकार का रूपांतरण नहीं मानना चाहिए। 'दो भाई' कहानी में पात्रों के नाम में परिवर्तन एक सचेत परिवर्तन है जबकि 'बाँगे-सहर' कहानी में पात्रों के नाम में परिवर्तन कहानी की पुनः प्रस्तुति की तरह है। 'शंखनाद'

कहानी में आए इस परिवर्तन को क्या हिंदू पाठकों की रुचि से संचालित माना जाए। क्या यह कहानी की समस्या को, उसमें निहित संवेदना को किसी भी तरह से भोथरा करने की कोशिश है। और, क्या इसी से कहानी कमजोर हो जाती है। यकीनन ऐसा नहीं होता। तब 'हिंदू पाठकों की रुचि' को किस प्रकार समझा जाए? या 'मुस्लिम पाठकों की रुचि' को किस प्रकार चिह्नित किया जाए? 'पंचायत' कहानी में उपस्थित 'गाजी मियाँ' का प्रसंग तो 'पंच परमेश्वर' में भी है। इसी तरह 'ईदगाह' कहानी में ऐसा कोई उल्लेखनीय प्रसंग नहीं है जो हिंदू पाठकों की रुचि के अनुरूप बदला गया हो। न ही ऐसा कोई परिवर्तन 'दुर्गा का मंदिर' कहानी के उर्दू पाठ में है। तब, यह रुचि वाला सवाल क्या एक निरर्थक सवाल है? या, यह एक बड़ा सवाल है जिसे शैलेश जैदी सही तरीके से उठा नहीं पाते। निश्चय ही, इसे एक बड़े सवाल के रूप में देखना चाहिए किंतु, हिंदू रुचि और मुस्लिम रुचि में वर्गीकृत करने के बजाय स्वतंत्रता आंदोलन के समानांतर हिंदी और उर्दू भाषा के स्वभाव के रूप में देखना चाहिए। उर्दू से हिंदी रूपांतरण या हिंदी से उर्दू रूपांतरण में शब्दों, मुहावरों या सूक्तियों का बदल जाना एक स्वाभाविक परिवर्तन है। संभव है, इस परिवर्तन से किसी एक भाषा में 'पाठ' अधिक सफल जान पड़े, यह भी संभव है कि दोनों ही भाषाओं में पाठ बिलकुल समरूप जान पड़े। इस तरह के परिवर्तन को धार्मिक पहचान के साथ जोड़ना अनुचित है। यहाँ तक कि पात्रों का बदल जाना भी बहस का विषय नहीं बन सकता। सवाल तो वहाँ उठना चाहिए जहाँ भाषिक परिवर्तन के कारण कहानी के कंटेंट में अंतर आता हो। इस लेख में कहानियों के कुछ उद्धरणों के ज़रिए शब्दों, मुहावरों, सूक्तियों आदि में आए बदलाव के साथ-साथ कंटेंट में आए परिवर्तन से परिचित होने का प्रयास है। इस विश्लेषण में पहले उन कहानियों का उल्लेख प्रस्तुत है जो पहले उर्दू में छपीं तत्पश्चात हिंदी में।

उर्दू से हिंदी में रूपांतरित कहानियों के कथ्य में परिवर्तन के बहुत अधिक उदाहरण नहीं मिलते। विशेषकर, उन कहानियों में जिनके प्रकाशनकाल में अधिक अंतराल नहीं है। अपवाद के रूप में हम 'नीच जात की लड़की' कहानी का उल्लेख कर सकते हैं। उर्दू में यह कहानी 'ज़माना' पत्रिका के दिसंबर 1925 के अंक में प्रकाशित हुई थी। हिंदी में यह ठीक उसी समय 'चाँद' के जनवरी 1926 के अंक में प्रकाशित हुई। किंतु, दोनों पाठ में पर्याप्त अंतर है। उर्दू में यह कहानी चार भागों में है और हिंदी में विस्तार लेते हुए दस भागों में। आरंभ के तीन हिस्से दोनों ही पाठ में एक समान हैं, लगभग अनुवाद की तरह। किंतु, उसके बाद हिंदी कहानी की यात्रा बदल जाती है। हिंदी पाठ में कहानी के चौथे भाग में कलकत्ता से एक व्यक्ति मंगरू का संदेश लेकर गौरा के पास आता है, वह उसे झाँसा देकर गाँव से ले जाता है। गौरा के साथ अन्य स्त्रियाँ भी हैं, वह उन्हें जहाज से दूसरी जगह ले जाता है। जहाँ उनसे मजदूरी कराई जाती है, उनका शोषण होता है। जहाज से उतरने के समय मंगरू और गौरा की भेंट हो जाती है, फिर कहानी में अंग्रेज़ एजेंट की ज़्यादती, हृदय परिवर्तन, मंगरू का शक करना, गौरा का प्राण देना और फिर उसे बचाने के क्रम में मंगरू का भी जान दे देना—यह पूरा वृत्तांत हिंदी पाठ में है; किंतु उर्दू पाठ में यह विस्तार नहीं है। उर्दू पाठ में मंगरू कलकत्ते से गौरा के लिए कुछ रुपए भिजवाता है और कुछ दिनों बाद अचानक उसके निधन की ख़बर बैरंग डाक से आती है। तदंतर, उसके वियोग में गौरा का निधन हो जाता है। यानी, उर्दू में कहानी एक बिंदु पर आकर ठहर जाती है जबकि हिंदी में उसे विस्तार दिया जाता है।

इस तरह का विस्तार कहानी को कभी प्रभावकारी बनाता है तो कभी निष्प्रयोज्य भी हो जाता है। 'मंत्र' कहानी में यह देखा जा सकता है। कहानी में जब बूढ़ा डॉक्टर के पास अपने बीमार बच्चे को

लेकर आता है और डॉक्टर कल आने के लिए कहकर बिना देखे निकल जाता है, वह दृश्य उर्दू पाठ में इस तरह है-

“डॉक्टर ने चिलमन उठाई और मोटर की तरफ़ चले, बूढ़ा पीछे पीछे यह कहता हुआ दौड़ा-सरकार बड़ा धर्म होगा, हज़ूर दया कीजिए। मगर डॉक्टर साहब मुतलक मुख़ातिब न हुए। मोटर पर बैठकर बोले-कह दिया कल सवेरे आओ।”

हिंदी पाठ में यह अंश इस प्रकार है-

“ऐसा उजड़ड देहाती यहाँ प्रायः रोज़ ही आया करते थे। डॉक्टर साहब उनके स्वभाव से ख़ूब परिचित थे। कोई कितना ही कुछ कहे, पर वे अपनी ही रट जगाते जाएँगे। किसी को सुनेंगे नहीं। धीरे से चिक उठाई और बाहर निकलकर मोटर की तरफ़ चले। बूढ़ा यह कहता हुआ उनके पीछे दौड़ा-सरकार बड़ा धर्म होगा, हज़ूर दया कीजिए, बड़ा दीन-दुखी हूँ, संसार में कोई और नहीं है, बाबूजी। मगर डॉक्टर साहब ने उसकी ओर मुँह फेरकर देखा तक नहीं। मोटर पर बैठकर बोले-कल सवेरे आना।”

दोनों अंशों को साथ-साथ पढ़ते हुए हम कह सकते हैं कि उर्दू पाठ में जो तुरंत घटित हो जाता है, हिंदी में प्रेमचंद उसे रसाते हैं, लड़ी जोड़ते हैं। वे भाव को और गहराते हुए जान पड़ते हैं। इसी अंश के आगे उर्दू में उल्लेख है-

“बूढ़ा कई मिनट तक सकते के आलम में खड़ा रहा। दुनिया में ऐसे भी इंसान भी होते हैं, शाना उसे अब भी यक़ीन न आता था। फिर उसने कहारों से डोली उठाने को कहा।”

हिंदी में यह अंश इस प्रकार है-

“बूढ़ा कई मिनट तक मूर्ति की भाँति निश्चल खड़ा रहा। संसार में ऐसे मनुष्य भी होते हैं, जो अपने आमोद-प्रमोद के आगे किसी की जान की भी परवा नहीं करते, शायद इसका उसे अब भी विश्वास न आता था। सभ्य संसार इतना निर्मम, इतना कठोर है, इसका ऐसा मर्मभेदी अनुभव अब तक न हुआ था। वह उन पुराने ज़माने के जीवों में था, जो लगी हुई आग को बुझाने, मुर्दे को कंधा देने, किसी के छप्पर को उठाने और किसी कलह को शांत करने के लिए सदैव तैयार रहते थे। जब तक बूढ़े को मोटर दिखाई दी, वह खड़ी टकटकी लगाए उस ओर ताकता रहा। शायद उसे अब भी डॉक्टर साहब के लौट आने की आशा थी। फिर उसने कहारों से डोली उठाने को कहा। डोली जिधर से आई थी उधर ही चली गई।”

उर्दू में पूरा दृश्य जितना प्रकट है, उससे अधिक भीतर ही भीतर घुलता हुआ है। हिंदी में इस दृश्य ने विस्तार पाया है। बिंबात्मक दृष्टि से देखें तो हिंदी अंश अधिक सफल है, कार की ओर टकटकी लगाकर देखता बूढ़ा, डोली का उठना और फिर जिधर से वह आई थी उसी ओर चले जाना-ये विजुअल्स हिंदी पाठ को अधिक कलात्मक बना देते हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि वर्षों बाद यही बूढ़ा जिस भाव और जवाबदेही के कारण डॉक्टर के बेटे की जान बचाता है, मानो उसकी भूमिका हिंदी पाठ में पहले ही प्रस्तुत कर दी गई है।

किंतु, इसी कहानी में कई स्थलों पर उर्दू पाठ, हिंदी की अपेक्षा अधिक सशक्त है। कहानी का एक दृश्य है; बूढ़ा अपनी झोंपड़ी में है और यह जानने के बाद कि डॉक्टर के बेटे को साँप ने काटा है, उसका ध्यान डॉक्टर के बेटे पर अटका है। प्रेमचंद उर्दू में यह दृश्य इस तरह खींचते हैं-

“मगर उसकी हालत उस कुत्ते की सी हो रही थी जो रात को किसी अजनबी की आहट पाकर मालिक के मना करने पर भौंकना नहीं छोड़ता। जोर से चाहे न भौंके मगर आहिस्ता आहिस्ता गुर्राता रहता

है। भगत का नफ़्स उसे पूरी ताक़त से रोक रहा था पर उसके वजूद का एक एक ज़र्रा हवा के झोंके से उड़ें हुए पत्ते की तरह उस बदनसीब नौजवान की तरफ़ उड़ा जा रहा था जो उस वक़्त मर रहा था और जिसके लिए एक एक लम्हा की देर बाज़याफ़्त के इमकान को और दूर टाल रही थी।”

हिंदी में यह दृश्य इस प्रकार है—

“पर उसके मन की कुछ वही दशा थी जो बाजे की आवाज़ कान में पड़ते ही, उपदेश सुननेवालों की होती है। आँखें चाहे उपदेशक की ओर हों, पर कान बाजे ही की ओर होते हैं। दिल में भी बाजे की ध्वनि गूँजती रहती है। शर्म के मारे, जगह से नहीं उठता। निर्दयी प्रतिघात का भाव भगत के लिए उपदेशक था, पर हृदय उस अभागे युवक की ओर था जो इस समय मर रहा था, जिसके लिए एक-एक पल का विलंब घातक था।”

स्पष्ट है, कि जितनी प्रभावी उपमा उर्दू पाठ में है, वह हिंदी में नहीं है। हिंदी की उपमा अत्यंत शुष्क है। हिंदी में उर्दू की तरह बात नहीं बन पाती। और, यह केवल अकेला उदाहरण नहीं है। यह कहने में कोई संकोच नहीं करना चाहिए कि उर्दू में पहले छपी कहानियों में उनके हिंदी पाठ की तुलना में उपमाओं का प्रयोग अधिक कलात्मक एवं सफल रूप में हुआ है। इसी तरह उनके मुहावरे भी पहले उर्दू में लिखी गई कहानियों में अधिक अनुभव पगे दिखाई देते हैं। कहानी का अंत भी प्रायः उर्दू में ही अधिक सफल दिखाई पड़ता है।

उर्दू कहानी के हिंदी रूपांतरण में शब्दों और मुहावरों का बदलना स्वाभाविक है। रूपांतरण के स्वरूप का अवलोकन करते हुए हम मोटे तौर पर कह सकते हैं कि उर्दू से हिंदी में आने पर कहानी का प्रभाव और प्रवाह दोनों क्षरित होता जान पड़ता है। कुछ उदाहरणों से हम इसे समझ सकते हैं। 1910 में प्रकाशित कहानी ‘गुनाह का अगनकुंड’ जब 1917 में हिंदी में ‘पाप का अग्निकुंड’ शीर्षक से प्रकाशित हुई तो पाठ का बदलाव देखना चाहिए; उर्दू पाठ में उल्लेख है—

“धर्म सिंह ज़्यादा जोधपुर ही में रहते। पृथ्वी सिंह उनके दिली दोस्त थे। एक जान, दो क़ालिब। उनमें वो दोस्ती थी, जो बिरादराना ताल्लुक़ात से भी ज़्यादा मज़बूत होती है। दोनों एक दूसरे के राज़दार और हमदर्द।”

यह अंश हिंदी में इस प्रकार है—

“धर्मसिंह अधिकतर जोधपुर में रहता था। पृथ्वीसिंह उसके गाढ़े मित्र थे। इनमें जैसी मित्रता थी, वैसी भाइयों में भी नहीं होती।”

हिंदी रूपांतरण में ‘एक जान दो क़ालिब’ छूट गया। ‘दोनों एक दूसरे के राज़दार और हमदर्द’ यह भी हिंदी में छूटा हुआ है। क्रिया रूप का परिवर्तन भी हिंदी अंश में प्रवाह को उसी तरह नहीं बना कर रखता, जिस तरह वह उर्दू में है। इसी कहानी से एक अन्य अंश द्रष्टव्य है; पृथ्वीसिंह की बहन राजनंदिनी का विवाह धर्मसिंह के साथ होता है, कहानी में उल्लेख है—

“इसकी शादी कुँवर धर्म सिंह से हुई जो एक छोटी सी रियासत के वली अहद थे और जसवंत सिंह की फ़ौज में एक आला ओहदे पर मामूर थे। धर्मसिंह बड़ा शुजाअ और कारपर्दाज़ आदमी था। उसे होनहार देखकर राजा ने नंदिनी को उसके आगोश में दे दिया था, और ये बड़े इख़लास से रहते थे और दोनों एक दूसरे के शैदा थे।”

हिंदी में यह अंश इस प्रकार है—

“इसका ब्याह कुँवर धर्मसिंह से हुआ था। ये एक छोटी रियासत के अधिकारी और महाराज यशवंत

सिंह की सेना के उच्च पदाधिकारी थे। धर्मसिंह बड़ा उदार और कर्मवीर था। इसे होनहार देखकर महाराजा ने राजनदिनी को इसके साथ ब्याह दिया था और दोनों बड़े प्रेम से अपना वैवाहिक जीवन बिताते थे।”

अब यहाँ अंतर देखें, यह मान लें कि ‘आगोश में देना’ हिंदी का मुहावरा नहीं है इसलिए इसे हिंदी में छोड़ दिया गया है। तब यह भी देखें कि उर्दू में ‘इखलास’ है और ‘शैदा’ भी। यह वैविध्य हिंदी अंश में नहीं है। और, यह केवल इसी कहानी तक सीमित नहीं है, उर्दू में पहले प्रकाशित कहानियों में सामान्यतः वैविध्य, प्रभाव और प्रवाह अधिक है। उन कहानियों में प्रेमचंद की उर्दू, हिंदी की तुलना में अधिक निखरी हुई, गतिमान और संप्रेष्य है। वह अधिक आलंकारिक है और कलात्मक भी। यहाँ यह उल्लेख करना जरूरी है कि आलंकारिक भाषा का प्रयोग प्रेमचंद हिंदी में भी करते हैं। किंतु उर्दू की तुलना में वह प्रायः फीका, सायास और कृत्रिम जान पड़ता है। उपर्युक्त कहानी से ही एक उदाहरण द्रष्टव्य है—

“रात ज़्यादा आ गई थी। आसमान ने तारीकी की चादर मुँह पर लपेट ली थी। सारस की दर्दनाक आवाज़ कभी कभी सुनाई दे जाती थी और रह-रहकर क़िले के संतरियों की आवाज़ कान में आ पड़ती थी।”

यह अंश हिंदी में इस प्रकार है—

“रात बहुत बीत गई है। आकाश में अँधेरा छा गया है। सारस की दुख से भरी हुई बोली कभी-कभी सुनाई दे जाती है और रह-रहकर क़िले के संतरियों की आवाज़ कान में आ पड़ती है।”

उर्दू में ‘थी’ क्रिया का प्रयोग प्रभाव वृद्धि में सहायक है। यहाँ उर्दू प्रयोग की नवीनता भी देखनी चाहिए—‘रात ज़्यादा आ गई थी’ को हिंदी में ‘बीत गई है’ का रूप दिया गया है। उर्दू अंश की तुलना में हिंदी का प्रयोग सपाट है। इसी तरह ‘आसमान ने तारीकी की चादर मुँह पर लपेट ली थी’ की भव्यता और बिंबात्मकता, ‘आकाश में अँधेरा छा गया है’ के प्रयोग से अधिक प्रभावी है।

उर्दू पाठ में सामासिकता के कारण भी प्रभाव बढ़ा हुआ और कसा हुआ है। इसी कहानी से उर्दू अंश द्रष्टव्य है—

“पृथ्वी सिंह ने उन्हें कई मर्तबा छोड़ा। मगर देखा कि वह बहुत ज़्यादा दिल-गिरफ़ता हैं, तो ख़ामोश हो गए।”

हिंदी में यह अंश इस प्रकार है—

“पृथ्वी सिंह ने उन्हें कई बार छोड़ा, पर जब देखा कि वे बहुत दुखी हैं, तो चुप हो गए।”

‘दिल-गिरफ़ता’ एक विशिष्ट प्रयोग है, इसमें उदासी है, दुख है और चिंता भी; केवल दुख के प्रयोग से वह भाव सघनता प्रकट नहीं होती। इसी प्रसंग में एक उदाहरण ‘रानी सारंधा’ कहानी से द्रष्टव्य है—

“आज खुशी से उसका एक एक अजू मुस्कुरा रहा था और दिल सीने के जामे में फूला नहीं समाता था। जिस तरह रेगिस्तान का जाँ-बलब मुसाफ़िर नख़्तिस्तान दूर से देखकर खुशी से दीवाना हो जाता है उसी तरह बुंदेलों की यह पुरजोश घटा देखकर शहज़ादों की मुसरत की कोई इंतहा न रही।”

हिंदी में यह अंश इस प्रकार है—

“आज उसका एक एक अंग मुसकुरा रहा है और हृदय हुलसित है। बुंदेलों की यह सेना देखकर शाहज़ादे फूले न समाए।”

स्पष्ट है कि उर्दू पाठ का वैभव हिंदी से खोया हुआ है। हिंदी पाठ की संक्षिप्तता, उर्दू की तुलना में सपाट होना, अनलंकृत और शाब्दिक वैविध्य से वंचित होना—आसानी से पहचाने जा सकते हैं।

उर्दू पाठ के हिंदी रूपांतरण में कई स्थलों पर अनावश्यक संक्षिप्तता है। पाठ की संक्षिप्तता से प्रायः प्रभाव क्षरण हुआ है। इस प्रसंग में ‘रानी सारंधा’ से ही एक अंश द्रष्टव्य है-

“जिस सीने से लिपटकर उसने शबाब की बहारें लूटीं, जो सीना उसकी उम्मीदों का काशना और उसकी आरजुओं का आशियाना था जो सीना उसकी इज्जत का पासबाँ और उसकी मुहब्बत का गँजीना था, उस सीने को आज सारंधा की तलवार चूम रही है। उस बहरे उल्फत में आज प्रेम की नाव तैर रही है। हाँ, यह तलवार फ़र्ज़ की कटार है। यह तलवार प्रेम की बरछी है। किसी औरत की तलवार से ऐसा काम हुआ है?”

यही अंश हिंदी पाठ में इस प्रकार है-

“जिस हृदय से आलिगित होकर उसने यौवन सुख लूटा, जो हृदय उसकी अभिलाषाओं का केंद्र था, जो हृदय उसके अभिमान का पोषक था, उसी हृदय को आज सारंधा की तलवार छेद रही है। किस स्त्री की तलवार से ऐसा काम हुआ है।”

उर्दू अंश के विस्तार को देखें, वहाँ मूलतः गप्प रसाने की क्लासिकल कला का एक नमूना है। यह सही है कि कहानी अब परंपरित तरीके से नहीं कही जा रही थी, वह पढ़ी जा रही थी, तो यह कहा जा सकता है कि कहानी के हिंदी पाठ में आया परिवर्तन श्रोता और पाठक के स्थान भेद के कारण है, उसी से क्राफ़्ट में परिवर्तन आया है। ऐसे में यही स्थिति उर्दू के भी समक्ष रही होगी। किंतु, प्रेमचंद उर्दू में उसे सँभालते हुए आगे बढ़ते हैं, उनकी बहुचर्चित कहानी शैली का निर्माण परंपरा से इसी संवाद से संभव होता है। याद रहे, हिंदी कहानी का ढाँचा उर्दू कहानी की उपलब्धियों पर ही खड़ा हुआ है, किंतु हिंदी में कहानी प्रस्तुत करते हुए वे परंपरा से संवाद के प्रति उतने सजग नहीं रहते; फलतः कहानी यत्र-तत्र अपने प्रभाव को खोती जाती है। इसी के विपरीत जहाँ वे उर्दू की अपेक्षा हिंदी में अधिक सजग हैं, तो अधिक सफल भी हैं। उदाहरण के लिए 1911 में प्रकाशित ‘आहे-बेकस’ कहानी से एक अंश लिया जा सकता है। हिंदी में यह कहानी 1919 में ‘ग़रीब की हाय’ शीर्षक से प्रकाशित हुई। उर्दू पाठ का अंश है-

“मुंशीजी की ज़िल्लत जितनी होनी चाहिए थी उससे ज़रा भी कम न हुई।”

हिंदी में यह अंश इस प्रकार है-

“मुंशी जी का अपमान जितना होना चाहिए था, उससे बाल बराबर भी कम न हुआ। उनका बचा खुचा पानी भी इस घटना से चला गया।”

द्रष्टव्य है कि उर्दू पाठ में एक भी मुहावरा नहीं है, और हिंदी में दो-दो। इससे हिंदी अंश अधिक सफल बन जाता है।

पहले उर्दू, फिर हिंदी में प्रकाशित कहानियों के शब्द-प्रयोग पर विचार करें; और इसके लिए ‘राजा हरदौल’ कहानी के उर्दू पाठ से एक उद्धरण प्रस्तुत है :

“आज रानी कुलीना ने अपने हाथों से ज्योनार बनाया।”

हिंदी पाठ में यह उद्धरण इस रूप में प्रस्तुत है :

“आज रानी कुलीना ने अपने हाथों से भोजन बनाया।”

उर्दू में प्रयुक्त ‘ज्योनार’ हिंदी में नहीं है। अब यहाँ, रामविलास शर्मा की पूर्वोद्धृत बात को याद किया जाए और उनकी ‘कसौटी’ को परखा जाए! क्या प्रेमचंद की हिंदी-उर्दू का स्वभाव पहचानने के लिए, दोनों भाषाओं से प्रेमचंद की तुलनात्मक निकटता को परखने के लिए ‘किसानों’ का इस्तेमाल करना

पर्याप्त है? यह कैसे संभव हुआ कि 'ज्योनार' उर्दू में तो है हिंदी में नहीं। और, उर्दू में इसके प्रयोग को महज़ इसलिए महत्त्वहीन मान लिया जाए क्योंकि यहाँ किसान नहीं, सामंती परिवेश का चित्रण है। मामला इतना ही नहीं, रामविलास शर्मा के हिंदी प्रेम और प्रेमचंद को हिंदी में अधिक दक्ष-सहज तथा उनकी हिंदी को अधिक संप्रेषणीय बनाने का 'दावा' इतना खोखला है कि वह रामविलास शर्मा जैसे बड़े आलोचक की दृष्टि पर भी सवाल खड़ा कर देता है। संप्रेषणीयता का बिंदु सामने रखें और 1913 में प्रकाशित 'बाँगे-सहर' कहानी से एक उद्धरण देखें :

"मियाँ जुमराती के दिल पर इस पुरजोर वकालत ने जो असर किया वह चेहरे से झलक रहा था।"

हिंदी में यह अंश देखें :

"नीतिज्ञ विज्ञान पर इस प्रबल वक्तृता का असर हुआ। वह उनके विकसित और प्रमुदित चेहरे से झलक रहा था।"

उल्लेखनीय है कि कहानी के हिंदी पाठ में पात्रों के नाम बदलकर हिंदू नाम दे दिए गए हैं। पर, इसी से उनकी भाषा, जिसका ताना-बाना किसी भी धार्मिक पहचान से अधिक विस्तृत और घना होता है, और भारत जैसे बहुभाषी समाज में, जहाँ भाषाओं की इतनी आवाजाही हुई है, होती है, और आगे भी होती रहेगी, वह आवाजाही जो समाज के लिए आवश्यक है; इसी आवाजाही की बुनियाद पर यह बेधड़क कहा जा सकता है कि हिंदी में प्रयुक्त 'प्रबल वक्तृता' की जगह उर्दू में प्रयुक्त 'पुरजोर वकालत' अधिक सहज और हिंदी के ठेठपन के अनुकूल है। हिंदी पाठ में इस तरह के तत्समीकरण ने कई कहानियों में प्रभाव और प्रवाह को कमजोर किया है।

हिंदी पाठ में मानकीकरण की भी प्रवृत्ति दिखाई देती है। मानकीकरण की प्रवृत्ति ने भी लाभ की जगह पाठ को नुकसान ही पहुँचाया है। 'बाँगे-सहर' कहानी से ही एक अंश द्रष्टव्य है—

"अपना आदमी ऐसा निकम्मा, नालायक न होता तो काहे को दूसरों का मुँह देखना पड़ता।"

यही अंश हिंदी में इस प्रकार है—

"अपना आदमी ऐसा निकम्मा न होता, तो क्यों दूसरों का मुँह देखना पड़ता।"

यहाँ हिंदी अंश में 'नालायक' नहीं है, इसके साथ ही उर्दू में प्रयुक्त 'काहे को', हिंदी में 'क्यों' से बदला गया है। यह परिवर्तन बीसवीं सदी के उन वर्षों में हिंदी के मानकीकरण की प्रक्रिया का हिस्सा है। यह दुहराना ज़रूरी है कि इस प्रक्रिया ने हिंदी को जितना दिया, उससे अधिक विपन्न किया। हिंदी के अनावश्यक मानकीकरण ने इसे दूसरी स्थानीय भाषाओं से काट दिया, इसके शब्द भंडार को संकुचित किया; और सबसे बढ़कर यह संकट खड़ा किया कि हिंदी को 'श्रेष्ठ' होने की ग्रंथि से भर दिया।

उर्दू में पहले प्रकाशित कहानियाँ हिंदी रूपांतरण में कई बार संकुचित दिखाई देने लगती हैं। यह संकोच कटेंट और भाषा दोनों के स्तर पर है। बल्कि, यह कहना अधिक उचित होगा कि भाषायी संकोच ही कटेंट में संकोच ला देता है।

1908 में प्रकाशित 'सोजे-वतन' में संकलित कहानी 'यही मेरा वतन है' जब हिंदी में 1924 में 'यही मेरी मातृभूमि है' शीर्षक से प्रकाशित हुई तो उसमें यह भाषायी संकोच कटेंट के संकोच के रूप में उभर कर आया। एक नब्बे वर्षीय व्यक्ति साठ वर्ष पश्चात अमरीका से भारत लौटता है तो उसे भारत अपना देश नहीं लगता। वह अमरीका लगता है, यूरोप लगता है, इंग्लैंड लगता है, किंतु भारत नहीं। गहन निराशा में जब वह 'हर-हर गंगे' तथा 'शिव-शिव' कहते हुए स्त्रियों और पुरुषों को गंगा स्नान के लिए जाते देखता है तो उसे एकबारगी महसूस होता है—यही मेरा वतन है। कहानी के उर्दू पाठ से अंश है—

“मेरे दिल ने फिर गुदगुदाया और मैं ज़ोर से कह उठा-हाँ, हाँ यही मेरा देस है, यही मेरा प्यारा वतन है, यही मेरा भारत है और इसी के दीदार की, इसी के खाक में पैवंद होने की हसरत मेरे दिल में थी।”

यही अंश हिंदी पाठ में इस प्रकार है-

“मेरा हृदय फिर उत्साहित हुआ और मैं ज़ोर से कह उठा-हाँ, हाँ यही मेरा प्यारा देश है, यही मेरी पवित्र मातृभूमि है, यही मेरा सर्वश्रेष्ठ भारत है और इसी के दर्शनों की उत्कट इच्छा थी तथा इसी की पवित्र धूलि के कण बनने की प्रबल अभिलाषा है।”

यहाँ दो बातें ध्यान देने लायक हैं। पहली बात, उर्दू अंश ‘थी’ के साथ समाप्त है और हिंदी अंश ‘है’ के साथ। ‘है’ के प्रयोग से ठीक पहले ‘थी’ का भी प्रयोग हिंदी पाठ में है। इस तरह के प्रयोग से प्रवाह अटकता है। यह दोष उर्दू में नहीं है। दूसरी बात, देश को डूबकर प्यार करना, वतन के लिए खून का आखिरी कतरा बहा देने के लिए तैयार रहना, वतन के लिए सब कुछ त्याग देना-यह ‘सोजे-वतन’ और प्रेमचंद की कई आरंभिक रचनाओं का केंद्रीय भाव है। किंतु, उक्त अंश और उसके साथ-साथ प्रेमचंद के समूचे उर्दू लेखन को देखें, ‘वतन’ को डूबकर प्यार करना और उसे ‘सर्वश्रेष्ठ’ कहने का लोभ रखना-ये दोनों भिन्न भाव हैं; और, इसका सूक्ष्म विवेक युवा प्रेमचंद में है। इसलिए वतन को ‘सर्वश्रेष्ठ’ कहने का लोभ उर्दू पाठ में दूर-दूर तक नहीं है। हिंदी में यह लोभ किस दरवाजे से प्रवेश कर गया! यह विचारणीय है। यह एक बड़ा सवाल है, जिसका उल्लेख रामविलास शर्मा के प्रेमचंद के किए समूचे ‘पाठ’ में नहीं है और जिस सवाल को शैलेश जैदी सही तरीके से नहीं पूछते। क्या इस प्रयोग को छायावादी काव्यभाषा और छायावादी सांस्कृतिक बोध से अभिन्न न समझा जाए। क्या इसे हिंदी के मानकीकरण और तत्समीकरण की प्रक्रिया के सहारे सचेत तरीके से प्रविष्ट श्रेष्ठताबोध, जो केवल भाषायी नहीं है बल्कि मूलतः सामाजिक और राजनीतिक है, से अभिन्न न समझा जाए! और, क्या इस श्रेष्ठताबोध ने सचेत तरीके से उर्दू और उर्दूभाषी समाज को अपने प्रतिपक्ष के रूप में खड़ा नहीं किया। सीधे-सीधे यह क्यों न कहें कि यह ‘श्रेष्ठता’ की यह घोषणा भारत में सांप्रदायिक और संकीर्ण राजनीति के लिए मुखर प्रस्थान बिंदु है। प्रेमचंद ने अपनी रचना यात्रा इंग्लैंड के ‘ओलीवर क्रॉमवेल’ की जीवनी लिखते हुए शुरू की थी। उन्होंने अपनी कहानियों की यात्रा इटली के मैज़ीनी को नायक बनाते हुए शुरू की थी। यानी, एक युवा जो अपना दायरा इतना विस्तृत रख रहा था, वह अपनी उर्दू को भी ऐसे प्रयोगों से मुक्त रख रहा था; किंतु 1924 में हिंदी में स्थापित हो जाने के साथ प्रेमचंद से यह सावधानी नहीं रहती। प्रेमचंद ने सचेत रूप में इसका प्रयोग किया होगा, यह कहना उचित नहीं है किंतु यह हिंदी का ‘संस्कार’ बनकर भाषा में ज़रूर समाहित रहा है। और, यह कोई अकेला उदाहरण नहीं है। ‘रानी सारंधा’ कहानी से एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है; कहानी के उर्दू पाठ से अंश है-

“वह ज़माना ही ऐसा था जब हर शख्स को ज़रूरतन दिलेर और जाँबाज़ बनना पड़ता था। एक तरफ़ मुसलमान फ़ौजें पैर जमाए खड़ी रहती थीं। दूसरी तरफ़ ज़बरदस्त बुंदेल राजे छोटी-छोटी रियासतों को हवसनाक निगाहों से देखते रहते थे। अनिरुद्ध सिंह के पास सवारों और प्यादों की मुख़्तसर मगर आज़मूदाकार जमायत थी। उससे वह अपने ख़ानदान का वक़ार, अपने बुजुर्गों की इज़्ज़त कायम रखता था।”

हिंदी में यह अंश इस प्रकार है-

“वह ज़माना ही ऐसा था, जब प्राणी मात्रा को अपने बाहुबल और पराक्रम ही का भरोसा था। एक

और मुसलमान सेनाएँ पैर जमाए खड़ी रहती थीं, दूसरी ओर बलवान राजे अपने निर्बल भाइयों के गला घोटने पर तत्पर रहते थे। अनिरुद्ध सिंह के पास सवारों और पियादों का एक छोटा सा, मगर सजीव दल था। इसी से वह अपने कुल और मर्यादा की रक्षा किया करता था।”

उर्दू पाठ में उल्लेख है कि बुंदेल राजे छोटी छोटी रियासतों पर हवसनाक निगाहें रखते थे, हिंदी पाठ में उल्लेख है कि बलवान राजे अपने निर्बल भाइयों के गला घोटने पर तत्पर रहते थे। हिंदी पाठ की यह ‘चिंता’ जिसमें ‘बुंदेल राजे’, ‘बलवान राजे’ के रूप में उपस्थित हैं, यह मूलतः हिंदी के माध्यम से हिंदू समाज के दोष को ढँकने-छिपाने की राजनीति है, वह केवल कहानी की नहीं, लेखक की नहीं, बल्कि उस समय की हिंदी मनीषा की राजनीति है। चूँकि प्रतिपक्ष में मुसलमानी फौज है तो एक ओढ़ी हुई लाचारगी से हिंदी कहानी यह कहती है कि बलवान भाई निर्बल भाई को दबा रहे हैं। सच को सच कहने का वही जोखिम हिंदी पाठ में क्यों नहीं है?

ऐसे कई उदाहरण हैं, जिनमें उर्दू पाठ हिंदी की अपेक्षा अधिक समावेशी और पठनीय है। प्रेमचंद की बहुचर्चित कहानी ‘बड़े घर की बेटी’ से एक अंश तुलनीय है; उर्दू पाठ है—

“उन्हीं की ज़ात से गोरखपुर में रामलीला का वजूद हुआ। पुराने रस्मों-रिवाज का उनसे ज़्यादा पुरजोश वकील मुश्किल से कोई होगा।”

हिंदी पाठ में यह अंश इस प्रकार है—

“गौरीपुर में रामलीला के वही जन्मदाता थे। प्राचीन हिंदू सभ्यता का गुणगान उनकी धार्मिकता का प्रधान अंग था। सम्मिलित कुटुंब के तो वह एक मात्र उपासक थे। यही कारण थे कि गाँव की ललनाएँ उनकी निंदक थीं। कोई-कोई तो उन्हें अपना शत्रु समझने में भी संकोच न करती थीं।”

हिंदी अंश में शब्दों का विस्तार है, किंतु एक अलग तरह की संकीर्णता भी है। ‘गोरखपुर’ का ‘गौरीपुर’ से बदलना कोई उल्लेखनीय बदलाव नहीं है, किंतु ‘पुराने रस्मों रिवाज’ का ‘हिंदू सभ्यता’ से बदलाव हिंदी अंश के संकोच को प्रकट करता है। यह विचारणीय है कि क्या ‘पुराने रस्मों रिवाज’ का संबंध केवल ‘हिंदू सभ्यता’ से है?

‘राजा हरदौल’ कहानी के उर्दू पाठ से एक अन्य उदाहरण प्रस्तुत है—

“फागुन का महीना, अबीर और गुलाब से ज़मीन सूख़ हो रही थी और फाग के पुरजोश नग्मे बेनियाज़ माशूकों के दिलों में तमन्ना और इश्तयाक़ की आग भड़का रहे थे, रबी ने खेतों में सुनहरा फ़र्श बिछा दिया था, रबी ने खेतों में सुनहरा फ़र्श बिछा दिया था और खलिहानों में ख़ोश-ए-ज़री के महल खड़े कर दिए थे।”

हिंदी पाठ में यह अंश इस प्रकार है—

“फागुन का महीना था, अबीर और गुलाब से ज़मीन लाल हो रही थी। कामदेव का प्रभाव लोगों को भड़का रहा था, रबी ने खेतों में सुनहला फ़र्श बिछा रक्खा था और खलिहानों में सुनहले महल उठा दिए थे।”

उर्दू पाठ में ‘फागुन का महीना’ है और ‘फाग के पुरजोश नग्मे’ हैं, यह खुलापन, लोक को महत्त्व हिंदी पाठ में ‘कामदेव’ के प्रयोग से सीमित हो जाता है। हिंदी रूपांतरण की ऐसी सीमा प्रायः नज़र आ जाती है। प्रसंगवश, कुछ अन्य उदाहरण देखे जा सकते हैं। 1910 में प्रकाशित कहानी ‘सैरे-दरवेश’, 1924 में ‘शाप’ शीर्षक से आई। इस कहानी में एक राजपूत युवक शापवश शेर बन जाता है। उसकी पत्नी कहती

है-

“मैंने पीढ़े से उतरकर अपने शौहर के क़दम चूमे और उन्हें साथ लिए हुए अपने मकान पर आई।”

यही अंश हिंदी में इस प्रकार है-

“मैंने पटरे से उतरकर पतिदेव के चरणों पर सिर झुकाया और उन्हें साथ लिए हुए घर चली आई।”

यहाँ कह सकते हैं कि ‘क़दम चूमना’ हिंदी में प्रचलित नहीं है, उसके स्थान पर यहाँ ‘सिर झुकाया’ प्रयोग है। यह हिंदी की निजता है। लेकिन उर्दू का स्वभाव भिन्न किस्म का है। वहाँ मामला बराबरी का है। ‘रानी सारंधा’ कहानी में जब सारंधा ने चंपत राय को ओरछा की याद दिलाई, झकझोरा; तो चंपत राय जागे और वतन लौटने के लिए तैयार हुए। उर्दू पाठ में यह वर्णन इस प्रकार है-

“जैसे यतीम बच्चा माँ का तज़िकरा सुनकर रोने लगता है, उसी तरह ओरछा की याद से चंपतराय की आँखों में आँसू छलक आए, उसी अक़ीदत से जो एक सच्चे उपास को देवी से होती है, उन्होंने सारंधा के क़दम चूम लिए।”

हिंदी में यह अंश इस प्रकार है-

“जैसे बे माँ-बाप का बालक माँ की चर्चा सुनकर रोने लगता है, उसी तरह ओरछा की याद से चंपत राय की आँखें सजल हो गईं। उन्होंने आदरयुक्त अनुराग से सारंधा को हृदय से लगा लिया।”

उर्दू पाठ के ‘अक़ीदत’ को हिंदी में ‘आदरयुक्त अनुराग’ से बदला गया है। यह देखें कि एक उर्दू कहानी में नायिका यदि पति के क़दम चूमती है तो एक दूसरी कहानी में नायक भी पत्नी के क़दम चूमता है। किंतु जिस तरह नायिका हिंदी पाठ में पति के समक्ष सिर झुकाती है, हिंदी में नायक का सिर उसी तरह पत्नी के समक्ष नहीं झुकता। यह मुहावरे का अंतर है और निश्चय ही मुहावरे को सिरजनेवाले समाज का भी अंतर है।

बाद में रूपांतरित-प्रकाशित होने के कारण हिंदी पाठ में कई जगहों पर तत्कालीन समय और समाज की धड़कन अधिक सुनाई दे जाती है। जैसे, 1918 में प्रकाशित ‘बाज़याफ़्त’ कहानी जब 1921 में ‘शांति’ शीर्षक से आती है तो उसमें महात्मा गाँधी के चरखे की उपस्थिति संभव हो जाती है। कहानी के उर्दू पाठ का अंश है-

“मुझे तो अपनी रामायण ओर महाभारत में फिर वही लुत्फ़ आने लगा है।”

यह अंश हिंदी में इस प्रकार है-

“मुझे तो अपनी रामायण और महाभारत में फिर वही आनंद प्राप्त होने लगा है। चरखा अब पहले से अधिक चलाती है; क्योंकि इस बीच में चरखे ने ख़ूब प्रचार पा लिया है।”

सारांशतः, पहले उर्दू तत्पश्चात हिंदी में प्रकाशित कहानियों की तुलना के पश्चात हम कह सकते हैं कि कहानियों का उर्दू पाठ हिंदी की तुलना में अधिक विस्तृत, प्रभावी एवं समावेशी है। कहानियों में विशेष अंतर वहाँ मिलता है जहाँ उनके प्रकाशनकाल में अधिक अंतराल है। जिन कहानियों के प्रकाशनकाल में अधिक अंतराल नहीं है उनमें पाठ भेद कम मिलता है।

इसी क्रम में पहले हिंदी तत्पश्चात उर्दू में प्रकाशित कहानियों की तुलना करें तो पहली बात यह दिखाई देती है कि इनके प्रकाशन में उसी प्रकार का अंतराल नहीं है, जैसा उर्दू में पहले तत्पश्चात हिंदी में प्रकाशित कहानियों में मिलता है। इस कारण मोटे तौर पर कहानियों के कथ्य में विशेष अंतर नहीं

है। कुछ कहानियाँ तो बिलकुल समरूप हैं। जैसे-परीक्षा (हुस्ने-इंतखाब), कौशल, परीक्षा, सत्याग्रह, वज्रपात, मुक्तिमार्ग, निर्वासन, सौभाग्य के कीड़े, भूत, दीक्षा, सवा सेर गेहूँ, डिग्री की रुपए, सभ्यता का रहस्य, भाड़े का टट्टू, लैला, गुरुमंत्र आदि। इनके हिंदी और उर्दू पाठ में शाब्दिक अनुवाद के अतिरिक्त कोई अंतर नहीं है। और, यह अनुवाद भी बहुत कुशलता से संपादित है। जाफ़र रज़ा का पूर्वोद्धृत मत इन कहानियों पर लागू नहीं होता।

दूसरी ओर कुछ कहानियों के कंटेंट और प्रस्तुति के तरीके में पर्याप्त अंतर है। ‘विध्वंस’ कहानी के हिंदी और उर्दू पाठ में पात्रों के नाम और संवाद भिन्न हैं। इस कहानी का अंत भी भिन्न है। हिंदी पाठ में भुनगी पत्तों के ढेर में आग लगती देख कूद जाती है और अपने प्राण दे देती है। इससे भिन्न उर्दू पाठ में जब वह आग में कूदती है तो ठाकुर आगे बढ़कर उसकी जान बचा लेता है और अपने घर लाकर उसकी देखभाल करता है। ‘त्यागी का प्रेम’ कहानी का दूसरा अंश हिंदी और उर्दू में भिन्न है। इस कहानी का उर्दू पाठ हिंदी की अपेक्षा विस्तृत है। ‘हार की जीत’ कहानी के उर्दू पाठ में सावित्री और सत्यवान का उल्लेख है, हिंदी में यह नहीं है। ‘अधिकार चिंता’ कहानी आकार में छोटी होने के बावजूद, दोनों भाषाओं में भिन्न रूप में लिखी हुई जान पड़ती है। हिंदी पाठ में कहानी के दो हिस्से हैं और उर्दू में तीन। कहानी का उर्दू पाठ, हिंदी की अपेक्षा विस्तार लिए हुए है। कहानी का पहला भाग, दोनों भाषाओं में एक समान है, उसके पश्चात कहानी में भिन्नता आने लगती है। हिंदी पाठ में टामी द्वारा बड़े जानवरों को आपस में लड़वाने का उल्लेख है, वह उर्दू में नहीं है। इसी तरह उर्दू पाठ में जैक के पुराने इलाके में आने का विवरण अधिक विस्तारपूर्वक है। दूसरे कुत्तों से उसकी लड़ाई का दृश्य वहाँ अधिक नाटकीय रूप में है। ‘नैराश्य लीला’ कहानी हिंदी में पाँच हिस्से में है और उर्दू में चार। कहानी का आरंभ दोनों भाषाओं में भिन्न रूप में है। हिंदी में आरंभ हृदयनाथ, उनकी पत्नी और बेटी कैलाश कुमारी का विस्तार से परिचय देते हुए है, फिर कैलाश कुमारी के वैधव्य का उल्लेख है। जबकि उर्दू में यह विस्तार नहीं है, कैलाश कुमारी के वैधव्य का उल्लेख यहाँ पहले ही वाक्य में है। तेरहवें वर्ष में विधवा हुई कैलाश कुमारी के अबोध मन और फिर उदासी का परिचय जिस रूप में हिंदी पाठ में है, वह उर्दू में नहीं है। ‘क्षमा’ शीर्षक कहानी का पहला भाग, दोनों भाषाओं में तनिक भिन्न है, उसके पश्चात समरूप है। इस तरह के अंतर का सबसे रोचक उदाहरण ‘पूस की रात’ कहानी में है। हिंदी में यह कहानी ‘माधुरी’ पत्रिका के मई 1930 के अंक में प्रकाशित हुई थी और कुछ ही माह पश्चात उसी वर्ष उर्दू में ‘प्रेम चालीसी’ (भाग-2) में संकलित हुई थी। यानी, एक ही समय। हिंदी में यह कहानी इस प्रकार समाप्त होती है-

“दोनों फिर खेत की डाँड़ पर आए। देखा, सारा खेत रौंदा पड़ा हुआ है, और जबरा मड़ैया के नीचे चित लेटा है; मानो प्राण ही न हों।

दोनों खेत की दशा देख रहे थे। मुन्नी के मुख पर उदासी छाई हुई थी। पर हल्कू प्रसन्न था। मुन्नी ने चिंतित होकर कहा-अब मजूरी करके मालगुजारी भरनी पड़ेगी।

हल्कू ने प्रसन्न मुख से कहा-रात की ठंड में यहाँ सोना तो न पड़ेगा।”

उर्दू में कहानी का अंत इस प्रकार है-

“रात बड़े ग़जब की सर्दी थी।”

“मैं क्या कहती हूँ, तुम क्या सुनते हो-”

“तू गाली खिलाने की बात कह रही है। सहना को इन बातों से क्या मतलब? तुम्हारा खेत चाहे जानवरों ने खाया या आग लग जाए, ओले पड़ जाएँ उसे तो अपनी मालगुजारी चाहिए।”

“तो छोड़ दो खेती। मैं ऐसी खेती से बाज आई।”

हल्कू ने मायूसाना अंदाज़ से कहा- “जी में तो मेरे भी यही है कि खेती बाड़ी छोड़ दूँ। मुन्नी तुझसे सच कहता हूँ मगर मजूरी का ख्याल करता हूँ तो जी घबरा उठता है। किसान का बेटा होकर अब मजूरी न करूँगा चाहे कितनी ही दुर्गत हो जाए, खेती का काम न बिगाड़ूँगा।”

जबरा! जबरा! क्या सोता ही रहेगा? चल, घर चलें।

हिंदी में यह कहानी औपनिवेशिक भारत में एक किसान के खेती से मोहभंग की कहानी के रूप में पढ़ी जाती है। जब श्रम का मूल्य न मिले तो मोहभंग स्वाभाविक है। किंतु, उपर्युक्त उर्दू अंश से स्पष्ट है कि हल्कू तमाम निराशा के बावजूद मोहभंग की अवस्था तक नहीं पहुँचा है। एक किसान की ज़िद उसके भीतर बची हुई है। तात्पर्य यह है कि एक ही समय दो भाषाओं में प्रकाशित कहानी भिन्न तेवर प्राप्त कर लेती है। इस तरह के अंतर का उदाहरण ‘शूद्रा’ कहानी के प्रसंग में पूर्व में भी दिया जा चुका है।

पहले हिंदी, फिर उर्दू या लगभग दोनों भाषाओं में साथ-साथ प्रकाशित कहानियों में भी पात्रों के नाम बदलने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। उदाहरण के लिए ‘हंस’ में अप्रैल 1935 में प्रकाशित कहानी ‘स्मृति का पुजारी’ का उल्लेख किया जा सकता है। उर्दू में यह कहानी ‘वफ़ा का देवता’ शीर्षक से ‘इस्मत’ पत्रिका के जुलाई-अगस्त 1935 के संयुक्तांक में प्रकाशित हुई थी। उर्दू पाठ में कहानी के पात्र मुस्लिम हैं और हिंदी में हिंदू।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि कई कहानियाँ पर्याप्त समरूप हैं तो कई कहानियों में पर्याप्त भिन्नता भी है। कुछ कहानियाँ हिंदी में विस्तार के साथ हैं तो कुछ उर्दू में। विस्तार के साथ कहानी कहीं प्रभावी बनती है तो कहीं उसका प्रवाह कमज़ोर भी हो जाता है। कुछ उदाहरणों के ज़रिए इन प्रवृत्तियों को समझा जा सकता है। ‘ईश्वरीय न्याय’ कहानी हिंदी में जुलाई 1917 में ‘सरस्वती’ में प्रकाशित हुई थी और उर्दू में यह ठीक उसी समय ‘ज़माना’ पत्रिका में सितंबर और अक्टूबर 1917 के अंकों में छपी थी। इस कहानी के हिंदी पाठ का एक अंश प्रस्तुत है-

“ऐसी फूहड़ थीं कि रोटियाँ अपने हाथ से बना लेती थीं। कजूसी के मारे दालमोट, समोसे कभी बाज़ार से न मँगातीं। आगरेवाले की दूकान की चीज़ें खाई होतीं, तो उनका मज़ा जानतीं। बुढ़िया खूसट दवा दरपन भी जानती थी। बैठी-बैठी घास-पात कूटा करती।”

उर्दू पाठ में यह अंश इस प्रकार है-

“ऐसी फूहड़ थीं कि दालमोट, समोसे वगैरह भी घर ही में बना लेती थीं। अपने ही हाथों से कितनी ही जिस्मानी शिकायतों का ईलाज कर लेती थीं। बैठी घास-पात कूटा करती थीं।”

यहाँ हिंदी पाठ में डिटेलिंग अधिक है। इस डिटेलिंग में ‘दवा दरपन’ जैसा प्रयोग भी है; उर्दू में यह कथन तुलनात्मक रूप से संक्षिप्त है और सपाट भी।

‘सरस्वती’ के मई 1918 में प्रकाशित कहानी ‘बलिदान’ से भी एक अंश द्रष्टव्य है-

“लेकिन विदेशी शक्कर की आमद ने उसे मटियामेट कर दिया। धीरे-धीरे कारख़ाना टूट गया, हल

टूट गए, कारोबार टूट गया, ज़मीन टूट गई, गाहक टूट गए और वह खुद भी टूट गया। सत्तर वर्ष का बूढ़ा, जो एक तकिएदार माचे पर बैठा हुआ नारियल पिआ करता था, अब सिर पर टोकरी लिए खाद फेंकने जाता है, परंतु उसके मुख पर अब भी एक प्रकार की गंभीरता, बातचीत में अब भी एक प्रकार की अकड़ चाल-ढाल में अब भी एक प्रकार का स्वाभिमान भरा हुआ है। इन पर काल की गति का प्रभाव नहीं पड़ा।”

उर्दू में यह कहानी ‘कु’ शीर्षक से ‘जमाना’ पत्रिका के जनवरी 1919 अंक में प्रकाशित हुई। उक्त अंश उर्दू पाठ में इस प्रकार है—

“लेकिन विदेशी शक्कर की आमद ने उसे इतना नुकसान पहुँचाया कि रफ़्ता रफ़्ता कारख़ाना टूट गया, हल टूट गए, कारोबार टूट गया, ज़मीन लौट गई और वह खुद टूट गया। सत्तर बरस का बूढ़ा तकियादार माचे पर बैठा हुआ नारियल पिया करता था। अब सिर पर टोकर लेकर खाद फेंकने जाता है।”

उर्दू पाठ की संक्षिप्तता स्पष्ट है। यहाँ हिंदी पाठ के विस्तार ने दृश्य को अधिक प्रभावी बना दिया है। इतना ही नहीं, कलात्मक सावधानी भी हिंदी अंश में अधिक है। उर्दू पाठ में ‘वह खुद टूट गया’ है और हिंदी में ‘वह खुद भी टूट गया’ प्रयोग है। हिंदी में ‘भी’ का प्रयोग ‘टूटने’ की पीड़ा को अधिक मार्मिक बनाता है।

प्रेमचंद हिंदी में लिखते हुए लोक के अनुभवों और मुहावरों को जगह देने का भरपूर प्रयास कर रहे थे। यह कोशिश 1916 में प्रकाशित ‘पंच परमेश्वर’ से ही दिखाई देने लगती है। कहानी के हिंदी पाठ से एक अंश द्रष्टव्य है—

“बैल देखा, गाड़ी में दौड़ाया, बाल-भौरी की पहचान कराई, मोल-तोल किया और उसे लाकर द्वार पर बाँध ही दिया। एक महीने में दाम चुकाने का वादा ठहरा। चौधरी को भी गरज़ थी ही, घाटे की परवा न की।”

उर्दू में यह अंश संक्षिप्त होकर इस रूप में है—

“बैल देखा, गाड़ी में दौड़ाया। दाम के लिए एक महीने का वादा हुआ। चौधरी भी गर्जमंद थे, घाटे की कुछ परवाह न की।”

‘बाल भौरी की पहचान’ और ‘मोल-तोल’ को उर्दू रूप में छोड़ दिया गया है। इसके होने से हिंदी पाठ अधिक विश्वसनीय बन जाता है। इसी कहानी में ‘क्या बिगाड़ के डर से ईमान की बात न कहोगे?’ का प्रयोग हिंदी रूप में अधिक है। हिंदी में दुहराव ने उसे एक आप्त वाक्य की तरह बना दिया है। एक ऐसा वाक्य जो हिंदी साहित्य की उपलब्धि और देन, दोनों है। यानी, यहाँ भी कलात्मक रूप से हिंदी पाठ अधिक सफल है।

विस्तार से उत्पन्न प्रभाव-वृद्धि को परखने के लिए ‘नैराश्य लीला’ कहानी का यह अंश भी द्रष्टव्य है—

“दूसरी देवी ने आँखें मटकाते हुए कहा—“अरे, तो यह तो बदे-बदे की बात है। सभी के दिन हँसी-खुशी में कटें तो रोए कौन। यहाँ तो सुबह से शाम तक चक्की-चूल्हे ही से छुट्टी नहीं मिलती; किसी बच्चे को दस्त आ रहे हैं तो किसी को ज्वर चढ़ा हुआ है। कोई मिठाइयों की रट लगा रहा है तो कोई पैसों के लिए महनामथ मचाए हुए है। दिन भर हाय-हाय करते बीता जाता है। सारे दिन कठपुतलियों की भाँति नाचती रहती हूँ।”

उर्दू में यह अंश इस प्रकार है-

“दूसरी ख़ातून ने फ़रमाया- अरे तो यह तो बदे-बदे की बात है। सभी के दिन हँसी-खुशी में कटें तो रोए कौन? यहाँ तो सुबह से शाम तक चूल्हे चक्की ही से फुरसत नहीं मिलती। किसी बच्चे को दस्त आ रही हैं, तो किसी को बुख़ार चढ़ा हुआ है। दिन भर हाय हाय करते बीत जाती है। सारे दिन कठपुतली की तरह नाचती रहती हूँ।”

उर्दू अंश की संक्षिप्तता के साथ ही हिंदी में प्रयुक्त ‘महनामथ’ शब्द का प्रयोग विशेष रूप से द्रष्टव्य है। उल्लेखनीय है कि यह कहानी हिंदी में 1923 में और उर्दू में 1930 में प्रकाशित हुई थी। इसी समय हिंदी में प्रकाशित उन कहानियों पर यदि हम नज़र डालें, जो पहले उर्दू में प्रकाशित हुई थीं, तो उनकी हिंदी और सीधे हिंदी में लिखी जानेवाली कहानियों की भाषा में एक प्रकार का अंतर साफ तौर पर दिखाई देता है। अनूदित या रूपांतरित कहानियों की तुलना में सीधे हिंदी में लिखी कहानियों की भाषा अधिक सहज है।

उपर्युक्त अंशों में उर्दू की अपेक्षा हिंदी में अधिक विस्तार दिखाई देता है। इससे अलग कई स्थलों पर उर्दू में विस्तार अधिक है। ‘बलिदान’ कहानी के हिंदी पाठ से एक अंश द्रष्टव्य है-

“गिरधारी-नहीं सरकार, ऐसा न कहिए; नहीं तो हम बिना मारे मर जाएँगे। आप बड़े होकर कहते हैं तो मैं बैल-बधिया बेचकर पचास रुपए ला सकता हूँ। इससे बेशी की हिम्मत मेरी नहीं पड़ती।”

उर्दू में यह अंश इस प्रकार है-

“गिरधारी-नहीं सरकार। आप हमारी बड़ी परवरिश कर रहे हैं, तुमने सदा से हमारे ऊपर दया की है, लेकिन इतना नज़राना मेरा किए न होगा। मैं आपका गरीब आसामी हूँ, देस में रहूँगा तो जन्म भर आपकी गुलामी करता रहूँगा, बैल बधिया बेच कर पचास रुपए हाज़िर करूँगा। उससे बेशी की मेरी हिम्मत नहीं पड़ती, आप को नारायण ने बहुत कुछ दिया है, इतनी परवरिश और कीजिए।”

यहाँ हिंदी की अपेक्षा उर्दू अंश का विस्तार दृश्य को अधिक सफल बनाने में मददगार है।

‘शतरंज के खिलाड़ी’ कहानी में भी इसके लक्षण दिखाई देते हैं। कहानी के हिंदी पाठ से एक अंश द्रष्टव्य है-

“उनमें राजनीतिक भावों का अधःपतन हो गया था-बादशाह के लिए, बादशाहत के लिए क्यों मरें, पर व्यक्तिगत वीरता का अभाव न था। दोनों ने पैतरे बदले, तलवारें चमकीं, छपाछप की आवाज़ें आईं।”

यही अंश विस्तार पाकर उर्दू में इस रूप में है-

“उनके सियासी ज़ुबात फ़ना हो गए थे। बादशाह के लिए सल्तनत के लिए, क़ौम के लिए क्यों मरें, क्यों अपनी मीठी नींद में खलल डालें। मगर इन्फ़ेरादी ज़ुबात में मुतलक़ ख़ौफ़ न था बल्कि वह क़ौमी हो गए थे। दोनों ने पैतरे बदले। लकड़ी और गतका खेले हुए थे। तलवारें चमकीं, छपाछप की आवाज़ आई और दोनों ज़ख़्म खाकर गिर पड़े।”

इस विस्तार से मीर और मिर्ज़ा के चरित्र का पता चलता है और ऐतिहासिक सामाजिक स्थितियों का भी। ‘क्यों अपनी मीठी नींद में खलल डालें’-यह अंश दोनों की, और केवल दोनों की ही नहीं, उस दौर के कुलीनों के वर्गीय चरित्र को उद्घाटित करनेवाला है। इसी तरह ‘लकड़ी और गतका खेले हुए थे’ का प्रयोग भी सोद्देश्य है। यह दोनों ज़मींदारों पर व्यंग्य है। इसके ज़रिए एक ओर दोनों के युद्धानुभव

से अनभिज्ञ होने का परिचय मिलता है, वहीं समूची राजनीति को, राजकाज को केवल आनंद और खेल मात्र समझने की आदत का भी।

पहले उर्दू में प्रकाशित कहानियों के संबंध में यह उल्लेख किया गया है कि प्रायः कहानियों का हिंदी पाठ, उर्दू की अपेक्षा संक्षिप्त है। यही निर्णय पहले हिंदी तत्पश्चात् उर्दू में प्रकाशित कहानियों के लिए नहीं किया जा सकता। इस कोटि की कहानियों में कहीं हिंदी पाठ में विस्तार है तो कई स्थलों पर उर्दू में। उर्दू पाठ की विवरणात्मकता का एक उदाहरण 'स्मृति का देवता' यानी 'वफ़ा का देवता' कहानी से देखना चाहिए। कहानी के हिंदी पाठ का अंश है—

“बड़ी बहन ने जो कुछ कहा उसके सिवा और दूसरा उपाय नहीं। कोई तो कलेजा तोड़ तोड़कर कमाए, मगर पैसे-पैसे को तरसे, तन ढाकने को वस्त्र तक न मिलें और कोई सुख नींद सोवे, हाथ बढ़ा-बढ़ाके खाए! ऐसी अँधेर नगरी में अब हमारा निबाह न होगा।”

यही अंश उर्दू में इस प्रकार है—

“रहीमन बहन ने जो राह निकाली है, उसके सिवा और कोई रास्ता नहीं है। अब इसी तरह काम चलेगा। कोई तो कलेजा तोड़ तोड़ के मेहनत करे। न दिन को दिन समझे, न रात को रात। एक एक पैसे को तरसे, कभी तन ढाँकने को चार तार न मिले, और कोई बैठे लुकमे खाए और चैन की नींद सोए। हम छाती फाड़ के कमाएँ। दूसरे हाथ बढ़ाके खाएँ। ऐसी अँधेर नगरी में अब हमारा गुज़र न होगा। हम भी अपनी हांडी अलग जलाएँगे जो रूखा सूखा अल्लाह देगा खाएँगे और उसका शुक्र करेंगे।”

यहाँ उर्दू अंश न केवल विस्तृत है बल्कि स्थानीयता के रंग से संपन्न भी है। पारिवारिक संकट को, मन-मुटाव को व्यक्त करनेवाले अंश हिंदी में इसी रूप में नहीं हैं। बनारस के प्रेमचंद उर्दू पाठ में 'चार तार' का इस्तेमाल करते हैं। यह प्रयोग कपड़ों के लिए है। इसका ठेठपन और मामूलीपन, हिंदी अंश में प्रयुक्त 'तन ढाकने को वस्त्र' से चाहकर भी व्यक्त नहीं होता।

इसी कहानी के हिंदी पाठ से एक अन्य अंश द्रष्टव्य है—

“ऐसे व्यक्तियों पर दूसरों को दया आती ही है।”

उर्दू में यह इस प्रकार व्यक्त होता है—

“दीवानों का गुम खानेवाले दूसरे निकल ही आते थे।”

इस अंश में हिंदी में जहाँ सपाटबयानी है, उर्दू में 'अंदाजे-बयाँ' वाला मामला है।

इसी कहानी से एक अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है, जहाँ हिंदी अंश का विस्तार प्रभाव में वृद्धि लाता है। हिंदी अंश है—

“दोनों एक दूसरे के थे, और उनका प्रेम पौधे के क़लम की भाँति दिनों के साथ और भी घनिष्ठ होता जाता था। समय की गति उस पर जैसे आशीर्वाद का काम कर रही थी।”

उर्दू में यह अंश इस प्रकार है—

“दोनों एक दूसरे के आशिक थे। उनकी मुहब्बत की ताज़गी में ज़माने के असरात से कोई फ़र्क़ न आता था।”

स्पष्टतः हिंदी में यह अंश एक सूक्ति के रूप में गढ़ा हुआ है। यह गंभीरता उर्दू अंश में नहीं है। अगर तत्कालीन राजनीतिक-सामाजिक स्थिति का आकलन करना हो तो स्पष्टतः हिंदी पाठ में

उसकी उपस्थिति अधिक मुखर रूप में है। अपनी उपलब्धियों के साथ भी और सीमाओं के साथ भी। 1921 में दोनों भाषाओं में प्रकाशित कहानी 'लालफीता' का इस दृष्टि से उल्लेख किया जा सकता है। प्रथम विश्वयुद्ध के पश्चात लिखी यह कहानी नए नए उभर रहे भारतीय मध्यवर्ग की ब्रिटिश सत्ता के प्रति समर्पण को चित्रित करती है। कहानी के हिंदी पाठ का यह अंश, उर्दू में नहीं है—

“राष्ट्रीय भावों की ऐसी जागृति कहाँ थी? वह जानते थे कि इस राज्य में भी कुछ न कुछ बुराइयाँ अवश्य हैं। मानवी संस्थाएँ कभी दोषरहित नहीं हो सकतीं, लेकिन बुराइयों से भलाई का पल्ला कहीं भारी है।”

इस कहानी से एक और अंश द्रष्टव्य है, इस अंश में हिंदी पाठ में हल्के व्यंग्य के साथ अंग्रेजी सत्ता के प्रति कहानी के पात्र की वफादारी को उभारा गया है—

“यही विचार थे जिनसे प्रेरित होकर यूरोपीय महासमर में हरिविलास ने सरकार की खैरख्वाही में कोई बात उठा नहीं रखी, हज़ारों रंगरूट भरती कराए, लाखों रुपए कर्ज़ दिलवाए और महीनों घूम-घूमकर लोगों को उत्तेजित करते रहे। इसके उपलक्ष्य में उन्हें रायबहादुरी की पदवी मिल गई।”

उर्दू में यह अंश संक्षिप्त है, मानो प्रेमचंद तेज़ी से आगे बढ़ जाना चाहते हों—

“यही ख़्यालात थे जिनसे मुतास्सिर होकर दौराने-जंगे-यूरोप में मिस्टर हरिविलास ने हर एक मुमकिन तरीक़ से वफादारी का सबूत दिया और रायबहादुरी के एज़ाज़ से सरफ़राज़ हुए।”

इसी तरह ख़िलाफ़त आंदोलन का संदर्भ 1921 में प्रकाशित 'दुस्साहस' की अपेक्षा 1922 में प्रकाशित उर्दू रूप 'बज़्मे-परेशाँ' में तनिक अधिक स्पेश प्राप्त करता है। कहानी के हिंदी पाठ का अंश है—

“मौलाना ज़ामिन ने ईदू से बड़ी नम्रता से कहा—“दोस्त, यह तो तुम्हारी नमाज़ का वक़्त है, यहाँ कैसे आए? क्या इसी दीनदारी के बल पर ख़िलाफ़त का मसला हल करोगे?”

यही अंश उर्दू में इस प्रकार है—

“मौलाना ज़ामिन ने ईदू से निहायत आजिज़ाना अंदाज़ से कहा—दोस्त यह तो तुम्हारी नमाज़ का वक़्त है। यहाँ कैसे आए? क्या इसी दीनदारी की बल पर ख़िलाफ़त का मसला हल करोगे, तुम्हारे लाखों भाई अंगूरा में भूकों मर रहे हैं, कुछ उनकी भी ख़बर है।”

यह पहले उल्लेख किया गया है कि प्रेमचंद ने हिंदी से उर्दू या उर्दू से हिंदी रूपांतरण करते हुए कहानी के पात्रों और मुहावरों में भरसक परिवर्तन किए हैं। 'शंखनाद' का उदाहरण पूर्व में दिया गया है। यहाँ 1920 में हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं में प्रकाशित 'प्रतिज्ञा' कहानी से एक उदाहरण देखना चाहिए। कहानी के हिंदी पाठ का अंश है—

“सूर्य भगवान बड़े वेग से अस्ताचल की ओर दौड़े चले जाते थे, मानो वे इस मेघ दल से भयभीत हो गए हों पर उनका भागना भी निष्फल हो गया। क्षण भर में वे इस काले मेघ सागर में विलीन हो गए।”

उर्दू अंश में 'सूर्य भगवान' की जगह केवल 'आफ़ताब' है—

“आफ़ताब निहायत तेज़ी से मगरिब की जानिब भाग रहा था, गोया वह बादल की फौज़ से ख़ायफ़ होकर अपनी जान छुपाना चाहता था, मगर उसका भागना बेकार हो गया। चश्मे-ज़दन में वह बादलों के दिल में छुप गया।”

‘पुत्र प्रेम’ कहानी के हिंदी और उर्दू पाठ से ऐसा ही एक अंश द्रष्टव्य है-

“बिलकुल बच्चों की सी बातें करती हो। इटली में ऐसी कोई संजीवनी नहीं रखी हुई है, जो तुरंत चमत्कार दिखाएगी। जब वहाँ भी केवल प्रारब्ध की परीक्षा करनी है तो सावधानी से कर लेंगे।”

उर्दू अंश में सांस्कृतिक संदर्भ बिलकुल भिन्न हो जाता है और ‘संजीवनी’ के स्थान पर ‘खुदा’ और ‘आबे-हयात’ की उपस्थिति हो जाती है-

“बिलकुल बेवकूफ हो। क्या तुम समझती हो कि इटली में कोई दूसरा खुदा है। या वहाँ कोई आबे-हयात का चश्मा है। जब वहाँ भी तक्दीर का इस्तेहान ही करना है तो इत्मेनान से कर लेंगे।”

शैलेश जैदी का संकेत ऐसे ही परिवर्तनों की ओर है। वे इसे ही हिंदू पाठकों की रुचि और मुस्लिम पाठकों की रुचि के चिह्नित करना चाहते हैं। यहाँ दुहराना चाहिए कि इस तरह के अंतर से कहानी के कंटेंट में परिवर्तन नहीं आता। ये अंतर उस प्रकार के नहीं हैं जिनका उल्लेख ‘यही मेरा वतन है’ और ‘रानी सारंधा’ कहानी के प्रसंग में किया गया है। यह कहानी की दूसरी भाषा में पुनः प्रस्तुति है। इसे धार्मिक पहचान के साथ नत्थी करना उचित नहीं है।

यदि सामाजिक (कु)प्रथाओं और मान्यताओं का चित्रण देखना हो तो हिंदी पाठ, उर्दू की अपेक्षा अधिक आग्रही मिलता है। ‘नैराश्य लीला’ कहानी ही देखें, इसमें हृदयनाथ और जागेश्वरी के द्वारा जितने प्रकार के नियमन और बंधनों का खाका हिंदी पाठ में खींचा हुआ है, वह उसी रूप में उर्दू पाठ में नहीं है। इस चित्रण को दो रूपों में देखा सकता है। पहला इस रूप में कि हिंदी पाठ में समाज की गतानुगतिकता का अधिक विश्वसनीय चित्र उभरा है। दूसरा, यदि हम कहानी से पाठक और पाठक के समाज को भी जोड़ें तो यह संकेत ग्रहण करना होगा कि उर्दूभाषी समाज, हिंदीभाषी समाज की तुलना में उस तरह की गतानुगतिकता से एक हद तक मुक्त था।

संदर्भ:

1. जाफ़र रज़ा, प्रेमचंद : कहानी का रहनुमा, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2005; पृ. 178
2. प्रेमचंद रचनावली, जनवाणी प्रकाशन, दिल्ली, 2006; खंड-1, भूमिका, पृ० 17
3. वही, पृ. 19
4. शैलेश जैदी, प्रेमचंद की उपन्यास यात्रा का नवमूल्यांकन, यूनीवर्सिटी पब्लिशिंग हाउस, अलीगढ़, 1978; पृ. 476



‘उत्तरार्द्ध’ लघु पत्रिका में प्रकाशित जनवादी काव्य

○ सुरेश चंद्र



भारतीय समाज में विद्यमान पूँजीवादी और सामन्ती जनघाती जीवन-दर्शन के प्रतिरोध में जन-साधारण की चेतना को जगाने और उसकी संघर्ष-चेतना को विकसित करने के लिए जो लघुपत्रिका आन्दोलन प्रारम्भ हुआ, उसमें अन्य लघुपत्रिकाओं की भाँति ‘उत्तरार्द्ध’ पत्रिका ने भी महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की है। इस पत्रिका ने जनवादी सरोकारों के लिए प्रतिबद्ध साहित्यकारों को एक अभिव्यक्ति-मंच प्रदान करने के साथ-साथ उन्हें एक संघटनात्मक-सूत्र में पिरोकर जनवादी साहित्य को अभूतपूर्व शक्ति प्रदान की। इस पत्रिका ने तमाम नयी और व्यावसायिक साहित्य की दृष्टि से हीन प्रतिभाओं का जन-सामान्य से परिचय कराया और उनकी उपयोगिता से साहित्य-जगत को लाभान्वित किया। ‘उत्तरार्द्ध’ ने हिन्दी के अतिरिक्त स्वदेशी और विदेशी अनेक भाषाओं के जनवादी साहित्य को अनूदित रूप में जनता के बीच

पहुँचा कर लघुपत्रिका आन्दोलन का फलक और प्रभाव व्यापक किया। इस पत्रिका के अब तक 60 अंक प्रकाशित हो चुके हैं। ‘उत्तरार्द्ध’ का प्रवेशांक साइक्लोस्टाइल्ड रूप में अक्टूबर, सन् 1971 ई. में भारत-पाकिस्तान के युद्ध के समय निकला था। प्रवेशांक का सम्पादन बृजेन्द्र कौशिक और महेन्द्र नेह ने किया। इस पत्रिका के अंक-2 से अंक-5 तक का प्रकाशन बृजेन्द्र कौशिक और राजमणि चतुर्वेदी के सम्पादकत्व में हुआ। “उत्तरार्द्ध” के अंक-2 एवं अंक-3 अनुपलब्ध हैं। प्रवेशांक से अंक-5 तक का प्रकाशन कोटा, राजस्थान से हुआ था। अंक-6 से लेकर अंक-47 तक का सम्पादन सव्यसाची ने किया। 7 दिसम्बर, 1997 ई. को सव्यसाची की मृत्यु हो गयी। उनकी मृत्यु के बाद अंक-48 से अंक-60 तक का सम्पादन उनकी पत्नी श्रीमती विजय लक्ष्मी ने किया। “उत्तरार्द्ध” के अंक-6 से लेकर अंक-60 तक का प्रकाशन मथुरा, उत्तर प्रदेश से हुआ। समय-समय पर आवश्यकतानुसार निकले इस पत्रिका के विशेषांक महत्त्वपूर्ण हैं। इसके विशेषांक इस प्रकार हैं : प्रेमचन्द विशेषांक, मार्क्स विशेषांक, जनवादी साहित्य विशेषांक, जनवादी नाटक विशेषांक, शहीद भगत सिंह विशेषांक, साम्राज्य विरोधी विशेषांक, साम्प्रदायिकता विरोधी विशेषांक, नारी-मुक्ति विशेषांक एवं स्वाधीनता विशेषांक।

आमजन के शोषण के विरुद्ध जनवादी सरोकारों की काव्यात्मक अभिव्यक्ति करना जनवादी कवियों का प्रमुख उद्देश्य रहा है। कवि अपनी लक्ष्यसिद्धि के लिए लघु पत्रिकाओं से बराबर जुड़े हुए हैं। “उत्तरार्द्ध” पत्रिका को भी बड़े-बड़े लोकोन्मुखी जनवादी कवियों की रचनाओं को प्रकाशित करने का गौरव प्राप्त हुआ है। यहाँ “उत्तरार्द्ध” पत्रिका में प्रकाशित हुई कुछ जनवादी कवियों की कविताओं का विवेचन करने का लघु प्रयास किया जा रहा है।

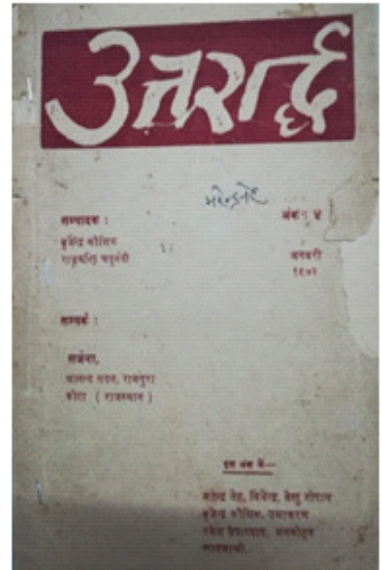
उत्तरार्द्ध का प्रवेशांक 12 पृष्ठ का है। इसमें पृष्ठ-4 से लेकर पृष्ठ-8 तक 5 पृष्ठ पर तीन कवियों (श्रीहर्ष, जगदीश विमल और मेघ वाहन) की कविताएँ प्रकाशित हुई हैं। श्रीहर्ष की कविता का शीर्षक है – “डरे घर”। यह कविता स्वातंत्र्योत्तर भारत में लोकतन्त्र के प्राणतत्व आमजन की भयाक्रान्तता को बयान कर आमजन के लिए लोकतन्त्र की व्यर्थता स्पष्ट करती है। कवि आमजन के प्रति जो प्रगाढ़ सर्जनात्मक संवेदना रखता है, उसका सारगर्भित शब्दांकन है यह कविता। यथा –

“अभी भी काँपते हाथों से दरवाजे खोलकर – लोग
झाँकते हैं बाहर
और हवा के पहुँचने के पहले ही
कर लेते हैं बंद।
कहाँ मिट पाया है – डरे घरों का अँधेरा ?
डरे घर – अँधेरे में बैठकर सुलगाते हैं बीड़ी
ठंडे चूल्हे पर बैठी रहती है भूख
खाली कटोरे खोजते हैं – धान।
जब भी कोई तनकर खड़ा होता है
उसकी हड्डी-पसली तोड़ने दौड़ने लगते हैं – घोड़े।”

कवि वेणु गोपाल “देकर तो देखो” शीर्षक कविता में अपनी शोषित अवस्था को नामंजूर कर देते हैं। उन्हें अपनी जनवादी कविताई की शक्ति पर भरोसा है। साधन-संपन्नता में कम, परन्तु सर्जनात्मकता में सशक्त जनकवियों के परिवर्तन लाने में सक्षम होसलों को स्वर देते हुए उन्होंने लिखा है कि –

“कद हैं पिद्दी तो क्या
हमारी कविताएँ तो इस्पाती हैं
हमारी आवाज तो घन-गरज है
हमारे हौसले तो आसमान चीर सकते हैं
बस,
एक उजला सन्दर्भ
एक वजनदार अवसर
और

एक अटूट आत्मीयता देकर तो देखो।”²



कवि कौशल किशोर ने “आखिर कब तक” शीर्षक कविता श्रमजीवी जनों की बदहाली के लिए जिम्मेदार पूँजीपतियों के प्रति अपने अविश्वास को स्वर देते हुए श्रमजीवी जनों की नासमझी का बोध कराया है। कवि ने पूँजीपति वर्ग के प्रति आक्रोश व्यक्त करते हुए मजदूरों को अपने हितों के लिए सचेतन सक्रियता की शिक्षा दी है -

“उनके प्रति रहने वाला मेरे मन का मोह
विश्वास के पत्रों पर इस्तीफा लिख रहा है।
आखिर कब तक
हम सब बने रहेंगे महलों की ईंट जोड़ने वाले मजूर-मिस्त्री
और सहते रहेंगे झुगियों का त्रासद-महानर्क
दिन-रात उठते-बैठते सोते-जागते।
आखिर कब तक
अपनी अनास्था के शिकस्त होने का
नकली नाटक दुहराते रहेंगे?
जबकि हमारी जरूरतें हर जगह चित्त लेटी हैं
और खुशनुमा लॉन में उसी स्वच्छंदता से
वे आज भी टहल रहे हैं।
यह अलग बात है.....
नासमझ बने रह कर अपनी दृष्टियों को
तुमने तेज नहीं होने दिया
अन्यथा यह तो बहुत पहले ही मालूम हो गया होता कि
उस लॉन का हर फूल तुम्हारे ही पसीने से गमक रहा है।”^७

कंदारनाथ अग्रवाल ने विरूपताओं से घिरे अपने देश में जनविरुद्ध जो कुछ देखा - जो कुछ अनुभव किया है, उसका वर्णन अपनी “जिन्दगी” शीर्षक कविता में किया है। यह 90 पंक्तियों की कविता है। कवि देख रहा है कि प्राचीन भारत की महानता अब हास की तरफ अग्रसर होती जा रही है। कवि को सब कुछ विपरीत होता दिखाई देता है :

“देश की छाती दरकते देखता हूँ।
मैं अहिंसा के निहत्थे हाथियों को,
पीठ पर बम बोझ लादे देखता हूँ।
देव कुलों के किन्नरों को,
मन्त्रियों का साज साजे,
देश की जनशक्तियों का
खून पीते देखता हूँ।

- - -
ज्ञान के
सब सूरजों को,
अर्थ के पैशाचिकों से,

रोशनी को माँगते मैं देखता हूँ
सत्य के हरिश्चन्द्र को अन्याय-घर में
झूठ की देते गवाही देखता हूँ।”⁴

निहित स्वार्थों की पूर्ति के लिए देश की एकता-अखण्डता और मान-मर्यादा को क्षति पहुँचाना अधिकांश आधुनिक लोगों की आदत बन गयी है। “जिन्दगी” कविता लोगों की इसी आदत की काव्यात्मक अभिव्यक्ति है। इस कविता में कवि द्वारा किया गया सामाजिक सन्दर्भों का गहन विश्लेषण अपनी पूर्णता में मुखरित हुआ है।

खेमसिंह नागर जनवादी विचारधारा के गीतकार हैं। आपके गीतों में शोषणोन्मुख सोच वाली शासन-व्यवस्था के प्रति आक्रोश और क्रान्ति की भावना मुखरित हुई है। नागर जी ने इस व्यवस्था के तमाम अवगुणों का उल्लेख करते हुए इसे बदलने के लिए जनता का लोकभाषा में आह्वान किया है। उनके “याहि बदली जाइ तो बदल” और “टक्कर लेनी पड़ेगी कनासन ते” उल्लेखनीय गीत हैं।

“याहि बदली जाइ तो बदल” गीत में नागर जी ने पूँजीवादी शासन व्यवस्था के तन्त्र की तमाम खराबियों को उजागर करके उसे बदलने अथवा लामबन्द होकर तोड़ डालने की बात कही है। जिस प्रकार राम ने लंकाधिपति दुष्ट रावण का नाश किया था, उसी प्रकार आज सत्ता में बैठी रावणीय शक्तियों को ध्वस्त करने के लिए शोषित-पीड़ित करोड़ों रामों को क्रान्ति करने की आवश्यकता है :

“याहि बदली जाइ तो बदल, न देगी काम मशीन पुरानी है।
धुरी मुरकि टेढ़ी भई, याके भए बोल्ट नट सब तंग
कोरे सोने से मढे, याके पुरजन खा गई अब जंग
अहिंसा की गई टूटि कमानी है।

— — — — —
प्रेम एकता टूट के, आज है गई चकनाचूर,
ये दिल्ली की अजुध्या, आज पहुँची कोसन दूर,
बन गई रावण की रजधानी है
याहि बदली जाइ तो बदल, न देगी काम मशीन पुरानी है।”⁵

‘टक्कर लेनी पड़ेगी कनासन ते’ शीर्षक गीत में भ्रष्ट राजनेताओं से सीधे-सीधे भिड़कर उन्हें सबक सिखाने पर बल दिया गया है।

जुग मन्दिर तायल की “रम्मो चमारिन” शीर्षक कविता नीचे समझे जाने वाले समाज की अज्ञानता जन्य सोचनीय स्थिति का उद्घाटन करती है। रम्मो चमारिन घास बेचकर अपना जीवन चलाती है। चुनाव के दौरान उसके समाज के हितों को लेकर जगह-जगह सभाएँ हो रही हैं। उसकी झोपड़ी के पास वाली सड़क पर प्रचार वाली कार और जीपें दौड़ती रहती हैं। नेता उसकी तमाम समस्याओं पर बात करते हैं और उसकी स्थिति देखकर चिन्तित भी होते हैं। लेकिन भोलीभाली अनपढ़ रम्मो उनकी परेशानी के रहस्य को नहीं समझ पाती। वह अपने काम घास काटने और उसे बेचने में ही खुश है। वह यह नहीं जानती कि नेताओं का बार-बार आना और उसके हितों की बात करने का कारण उसका वोट है, जिसे प्राप्त करने के बाद वे उसे और उसके हितों को भूल जायेंगे। इस कविता में दलित समाज के साथ कवि की गहरी सहानुभूति और राजनेताओं की अवसरवादिता साकार हो उठी है। इस कविता में कवि की सूक्ष्म

विवेचन दृष्टि का जो शब्दांकन हुआ है वह बेजोड़ है।

जनजीवन के सफल चितरे नागार्जुन के काव्य में आम जनता की विकट स्थिति उसकी आशा-आकांक्षा की अभिव्यक्ति व्यापक स्तर पर हुई है। नागार्जुन ने अपने रचना-कर्म में जन प्रतिबद्धता का जिस शिद्धत से निर्वाह किया है, उसे उन जैसी प्रतिभा ही कर सकती है। नागार्जुन साहित्य-जगत के सच्चे और प्रतिनिधि जनकवि हैं। “भारत-भूमि में प्रजातंत्र का बुरा हाल है” शीर्षक कविता में उन्होंने अपनी जनवादिता को वाणी दी है। यथा -

“जनता मुझसे पूछ रही है, क्या बतलाऊँ?
जन कवि हूँ मैं साफ कहूँगा, क्यों हकलाऊँ?
नेहरू को तो मरे हुए सौ साल हो गये,
अब जो हैं वो शासन के जंजाल हो गये।
गृह मन्त्री के सीने पर बैठा अकाल है,
भारत-भूमि में प्रजातंत्र का बुरा हाल है।”^७

नागार्जुन की “पता नहीं दिल्ली की देवी” और “देवी तुम तो काले धन की” नामक कविताएँ उनकी विशुद्ध लोकधर्मिता और शोषक-शासक के विरुद्ध क्रांतिधर्मी चेतना का प्रतिनिधित्व करती हैं। इन कविताओं में स्वर्गीय श्रीमती इन्दिरा गाँधी की शासन-नीति पर तीखे प्रहार किए गये हैं। “पता नहीं दिल्ली की देवी” शीर्षक कविता में इन्दिरा गाँधी को नये खून की प्यासी और नये राष्ट्र की नव दुर्गा बताकर उनके जनघाती क्रिया-कलापों का वर्णन किया है। यथा -

“लूट पाट के काले धन की
करती है रखवाली,
पता नहीं दिल्ली की देवी
गोरी है या काली ?”

‘देवी तुम तो काले धन की’ शीर्षक कविता नागार्जुन की एक लम्बी कविता है। इसमें इन्दिरा गाँधी द्वारा की गयी अपने वर्गीय हितों की रक्षा की ओर संकेत किया गया है। कवि ने इन्दिरा गाँधी को प्रजातंत्र की हत्यारी घोषित करते हुए निर्भयता से लिखा है -

“ठगों-उच्चकों की मलिकाइन,
प्रजातंत्र की ओ हत्यारी।
अब के हम को पता चल गया,
है तू किन वर्गों की प्यारी।
अपने वर्ग-हितों की खातिर,
तूने बड़े प्रपंच रचे हैं।
दिखा चुकी तू सभी करिश्मे,
अब दो ही दिन शेष बचे हैं।”^८

नागार्जुन ने ये कविताएँ इन्दिरा गाँधी द्वारा सन् 1975 ई. में लगाई गयी इमरजेंसी के दौरान हुए जन-दमन को देखकर लिखी थी। इन कविताओं में व्यवस्था विरोध की गूँज और जनता की पक्षधरता देखने योग्य है।

अशोक चक्रधर द्वारा रचित 210 पंक्तियों की 'मेरा पड़ोसी' शीर्षक कविता बहुत महत्वपूर्ण है। इस कविता में विदेशीपन और पूँजीवादी व्यवस्था से टूटते हुए मोह का वर्णन किया गया है। प्रारंभ में कवि का पड़ोसी अपने पाश्चात्त्यीकरण के कारण उससे कटा-कटा बिल्कुल अलग-अलग रहता है, जबकि उनके घरों की बालकनी के बीच कोई दीवार नहीं है और दोनों के प्रयोग के लिये एक ही जीना है। दोनों एक ही जीने से चढ़कर अपने-अपने घर जाते हैं। उनके बीच अलगाव की भावना इतनी प्रबल है कि कवि अपने और अपने पड़ोसी के घर के बीच दो देशों की दूरी अनुभव करता है। कवि लिखता है -

“हमारे बीच कभी कोई बात नहीं हुई
कभी हाल नहीं पूछा गया
कभी दुआ-सलाम नहीं हुई
शायद इसलिए कि हम दोनों एक-दूसरे को
अच्छी तरह जानते थे।
हम जानते थे कि हमारे दरवाजों के
बीच की दूरी
दो देशों के बीच की दूरी से कम नहीं है।
सभ्यता का पश्चिमी रूमाल
उसकी नाक पर रहता है।”

यहाँ सटे हुए घरों के बीच दो देशों के बराबर दूरी बताने से अभिप्राय यह है कि उन घरों में दो भिन्न-भिन्न देशों की संस्कृतियाँ और व्यवस्थाएँ वास करती हैं। कवि भारतीय संस्कृति और अपने देश की लोकतंत्रात्मक व्यवस्था का प्रतिनिधि है और उसका पड़ोसी पाश्चात्य संस्कृति और अमेरिकन पूँजीवादी व्यवस्था का आग्रही है। पड़ोसी जब कम्बोडिया और वियतनाम के मजदूरों द्वारा की जा रही क्रान्ति के समाचार पढ़ता है तो उसको दुःख होता है। कवि ने उसके इस दुःख को अग्रलिखित पंक्तियों में स्पष्ट किया है -

“पिछले दिनों से ही ये क्या हुआ कि
सबसे ऊपर की पंक्तियाँ -
वियतनाम कम्बोडिया की होने लगीं
और छोटे-छोटे नक्शों में
खिंचे हुए तीर, एन.एल.एफ. के
धमाकों को बताने लगे।
मैंने नक्शों के तीरों को
अखबारों से निकल कर ठीक उसके
कलेजे में धँसते हुए देखा था।”

इन पंक्तियों में पड़ोसी की पूँजीवादी मनोवृत्ति का उद्घाटन बड़े सलीके से किया गया है। पड़ोसी को हमारे देश में व्याप्त भुखमरी, बेरोजगारी और गरीबी पर होने वाली चर्चा तक बुरी लगती है।

उत्तरार्द्ध में यह कविता एक विचित्र मोड़ लेती है। मनोवैज्ञानिक आधार पर यह अस्वाभाविक-सा लगता है। यहाँ पहुँच कर पड़ोसी की मनोवृत्ति में एक बदलाव आता है। अब उसका रूझान समाजवादी

व्यवस्था की तरफ हो जाता है। साम्राज्यवादी बेड़ियों से कम्बोडिया के मुक्त होने पर वह कवि को चाय पर बुलाता है और अपनी खुशी का इजहार करता है। यथा -

“जिस दिन कम्बोडिया मुक्त हुआ

- - -

उसने मुझे चाय पर बुलाया

वह बोला कि आप तो खुश होंगे

मैं बोला कि क्या आप दुःखी हैं

वह बोला कि ऐसी बात नहीं है।”¹¹

इसके बाद साइगौन के आजाद होने की खबर सुनकर वह मुस्कराता है और अमेरिका की विकट्री के दो उँगलियों वाले “वी” को अपने बेटे की पैट से उखाड़ देता है। अन्त में वह वियतनामी मजदूरों की क्रान्ति को बहुत अच्छा बताकर समाजवादी व्यवस्था का खुलकर समर्थन करता है -

“भाई भौत अच्छे

सुनते हैं कल हजारों मजदूर

वियतनाम एम्बेसी गये थे

सुनते हैं वहाँ आतिशबाजी भी छूटी थी

भाई भौत अच्छे।”¹²

चक्रधर जी ने इस कविता में पूँजीवादी व्यवस्था पर समाजवादी व्यवस्था की विजय दिखाकर अपनी सामाजिक प्रतिबद्धता का सफल चित्रण किया है। पूँजीवादी व्यवस्था का प्रतीक पड़ोसी ही कवि से हाथ मिलाने को मजबूर होता है। कवि उसके पास पहले नहीं जाता।

टूटती-पिसती बदहाल जनता के गीतकार श्री रमेश रंजक ने अपने गीतों में व्यवस्था-विरोध के साथ-साथ हासोन्मुख लोक संस्कृति के प्रति अपनी रागात्मकता को अभिव्यक्ति प्रदान करके अभूतपूर्व सम्मान और प्रशस्ति प्राप्त की है। उनके बहुत से प्रभावोत्पादक गीत “उत्तरार्द्ध” में प्रकाशित हुए हैं।

जैसा कि शीर्षक से ही स्पष्ट है कि “नहिं चइए सरकार सयानी नहिं चइए” अपने गीत में उन्होंने तत्कालीन सरकार का निर्भय होकर खुले कंठ से विरोध किया है। “दमन की चक्की पीस रही इन्सान” शीर्षक गीत में रंजक जी ने भारतीय लोकतंत्र में व्याप्त तानाशाही के कारण तबाह हो रही जनता की दयनीय दशा का चित्रण किया है और प्रेमचन्द की प्रासंगिकता का उद्घाटन करके उनका महत्व रेखांकित किया है। यथा -

“बेटा-बेटी, गइय्या, मइय्या,

सब पर चला दमन का पइय्या।

- - -

होरी पड़ा अचेत खेत में,

धनिया खाय पछाड़ रेत में।

गोबर भूखा फिरे शहर में,

ऐसी हालत है घर-घर में,

प्रेमचन्द के बाद दूसरा कौन लिखे गोदान।
दमन की चक्की पीस रही इन्सान।”³

“मुफलिसी का गीत” में रंजक जी ने गरीबी की गम्भीरता को गीत का रूप प्रदान किया है। उन्होंने लिखा है -

“चोरी पे उतर आई है नादान-सी उमर
सड़कों पे भीख माँगती-फिरती झुकी कमर
चंगे हैं चन्द आदमी नंगा पड़ा शहर
आँतों में टीस मारता रोटी का कैसर
पानी को परेशान है मजदूर की रानी
जनता की कहानी है ये जनता की जुबानी।”⁴

रंजक जी ने “चरवाहों का गीत” चरवाहों पर ढाये जाने वाले जुल्मों को आधार बनाकर लिखा है। मालिक चरवाहों को जो-जो प्रताड़नाएँ देते हैं, इस गीत में उनका मार्मिक चित्रण किया गया है। ढोर (पशु) चराई सात रुपये तय होती है, लेकिन चरवाहे को मालिक पाँच ही देता है -

“पइसा काटि लये जालिम ने
म्हारी ढोर चराई के।
- - -
कही सात की पाँच थमाये
चार दिना फाँके टरकाए।”⁵

“हरिजन महिला का गीत” में अस्पृश्यता की समस्या उठायी गयी है। दलित महिला जेठ की चिलचिलाती धूप में कुँए के पास घड़ा भर पानी के लिए टेर लगा रही है, पर उसे पानी नहीं मिलता है। उसे बस्ती में रहने पर भी वनवास मिला हुआ है -

“अरे,
ठाढ़ी टेरूँ रे। कुँआ के पास
घड़ा भर पानी कूँ।
- - -
मोकूँ बस्ती में मिल्यौ है वनवास
घड़ा भर पानी कूँ।”⁶

इस प्रकार हम देखते हैं कि रमेश रंजक ने अपने गीतों में समाज में व्याप्त छोटी-से-छोटी और बड़ी-से-बड़ी बुराइयों का चित्रण अपने काव्य में किया है।

सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का ‘प्याऊ’ शीर्षक गीत भी महत्पूर्ण एवं उल्लेखनीय है। इस गीत में दया-धर्म के नाम पर पलते अन्याय का विनाश करने के लिए शोषित जनता का आह्वान किया गया है-

“तिलक लगाए बामन बैठा
टोपी धारे नेता
जैसे उसके बाप का पानी

ऐसे तुमको देता
ताकत हो तो छीन के
अपनी धरती कुआँ खोदो
दया-धर्म के नाम पे पलता
हर अन्याय डुबो दो।”⁷

शमशेर बहादुर सिंह की दो महत्वपूर्ण कविताएँ “राजरानी” और “धार्मिक दंगों की राजनीति” “उत्तरार्द्ध” में प्रकाशित हुई हैं। पहली दहेज की समस्या को लेकर लिखी गयी है और दूसरी में धार्मिक (साम्प्रदायिक) दंगे करवाने के लिए असामाजिक तत्वों द्वारा की जाने वाली भ्रष्ट राजनीति की ओर संकेत किया गया है।

विष्णु नागर की ‘श्रीमती गाँधी की वापसी पर’ और ‘रोटी का सवाल’ शीर्षक कविताएँ उल्लेखनीय हैं। पहली कविता में श्रीमती इन्दिरा गाँधी के सत्ता में वापस आ जाने पर उनके व्यवहार में आये अप्रत्याशित परिवर्तन को रेखांकित किया गया है। दूसरी कविता में आवागम की रोटी की समस्या के प्रति शासन की निष्क्रियता का उल्लेख किया गया है।

शील की कविताओं और गीतों में उनकी विश्वबंधुत्व की भावना मुखरित हुई है। ‘देश हमारा’ शीर्षक गीत में उन्होंने जनता को एक करके संसार भर की ममता को सींचने की अभिलाषा व्यक्त की है –

“एक करेंगे जन जनता को,
सींचेंगे जग की ममता को।”⁸

‘दुनिया के लोगों’ शीर्षक कविता में शील जी ने राष्ट्रों की सीमाओं को तोड़कर सबको जोड़ने के लिए दुनिया भर के लोगों का आह्वान किया है –

“दुनिया के लोगों !
- - -
राष्ट्रों की सीमाएँ तोड़ें
नये विश्व के लिए --
अर्थ की--
अपनी एक इकाई जोड़ें।”⁹

हरीश भादानी जनप्रिय कवि हैं। ‘उत्तरार्द्ध’ में उनकी एक कविता और एक गीत प्रकाशित हुआ है। ‘जटायु’ शीर्षक कविता में उन्होंने प्रतीकों के माध्यम से भारतीय समाज का चित्रण किया है। ‘हल्ला बोल’ शीर्षक गीत में भादानी जी ने शोषण की पोषक व्यवस्था को तोड़ने के लिए मजदूर वर्ग का आह्वान किया है –

“बोल मजूरे हल्ला बोल।
बोल दीनिये हल्ला बोल।”¹⁰

इन कविताओं के अतिरिक्त अनिल गंगल की ‘अग्निशामक’, अरुण कमल की ‘बूढ़ा कामरेड’, ऋतुराज की ‘लिफ्ट पर चढ़ते कामरेड से’, कातिमोहन की ‘सामराजियों के नाम’ एवं ‘मजदूर किसान हमारे’, कुँवर बेचैन की ‘काट री मधुमक्खी’, गौरव पाण्डेय की ‘चेतावनी’, ज्ञानेन्द्र पति की ‘अपना

बधवा', चंचल चौहान की 'नीम का रुदन', दूधनाथ सिंह की 'कृष्ण कान्त की खोज में दिल्ली यात्रा', धूमिल की 'भूख', बद्री नारायण की 'कहीं भी पहुँच जाएगा रीगन', मनमोहन की 'जो हो रहा है' एवं 'नंगे सवाल के आमने-सामने', रघुवीर सहाय की 'राष्ट्रीय प्रतिज्ञा' एवं 'पैदल आदमी' और राजेश जोशी की 'बच्चे' एवं 'घबराहट' शीर्षक कविताएँ उल्लेखनीय हैं।

सव्यसाची की मृत्यु के बाद उनकी पत्नी विजय लक्ष्मी के संपादन में 'उत्तरार्द्ध' का संयुक्तांक 48-49 प्रकाशित हुआ। इस संयुक्तांक में सव्यसाची की अनेक कविताएँ प्रकाशित हुईं। ये कविताएँ आमजन के प्रति सव्यसाची की घनीभूत प्रतिबद्धता की दस्तावेज हैं। सव्यसाची की 'प्रतिबद्धता' शीर्षक कविता की अग्रांकित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं -

“हम हैं प्रतिबद्ध
आज तोड़ेंगे कारा को
जीवन की धारा को
नया मोड़ देंगे हम।
स्वर्ण-कलश लायेंगे
चक्रव्यूह वेध कर
जख्मी जो इन्द्रधनुष
उनको सहेज कर
जीवन के टूटे सब स्वप्न
जोड़ देंगे हम।”²¹



इक्कीसवीं सदी की अब तक की अवधि में विकास के साथ-साथ मँहगाई की चर्चा जोरों पर है। इसी अवधि में (जुलाई, 2012 ई. में) 'उत्तरार्द्ध' का अंक-60 प्रकाशित हुआ। इस अंक में कवि घनश्याम अकोला की 'क्या यह सच नहीं?' शीर्षक के अन्तर्गत छोटी-छोटी छः कविताएँ प्रकाशित हुई हैं। कवि ने कविता संख्या-4 में मँहगाई के समानान्तर आमजन के बीच पसरी मन्दी का त्रासद रूप प्रस्तुत करके भारतीय समाज की वास्तविक स्थिति से परिचित कराया है। कविता प्रस्तुत है -

“सारे जग में मँहगाई
भारत में पर नजर न आई
दस-दस रुपये में बालक मिलते
बीस में उनके पालक मिलते
चार रोटियों के बदले
मिलती छोरी एक जवान
अन्ना बाबा दोनों देखो
सबसे सस्ता हिन्दुस्तान।”²²

संदर्भ:

1. उत्तरार्द्ध, प्रवेशांक, अक्टूबर, 1971 ई., सम्पादक : बृजेन्द्र कौशिक एवं महेन्द्र नेह, सर्जना, आनन्द सदन, रामपुरा, कोटा, राजस्थान, पृ. 4
2. उत्तरार्द्ध, अंक 4, जनवरी, 1973 ई., सम्पादक : बृजेन्द्र कौशिक एवं राजमणि चतुर्वेदी, सर्जना, आनन्द सदन, रामपुरा, कोटा, राजस्थान, पृ. 11
3. वही, अंक 13, जनवरी, 1976 ई., सम्पादक : सव्यसाची, 2164-डेम्पियर नगर, मथुरा, उत्तर प्रदेश, पृ. 38
4. वही, अंक 26, अक्टूबर, 1986 ई., सम्पादक : सव्यसाची, 2164-डेम्पियर नगर, मथुरा, उत्तर प्रदेश, पृ. 20 एवं 21
5. वही, अंक 24, अप्रैल, 1986 ई., पृ. 14
6. वही, अंक 26, पृ. 49
7. वही, अंक 26, पृ. 47
8. वही, अंक 26, पृ. 48
9. वही, अंक 10, जुलाई, 1975 ई., पृ. 30
10. वही, अंक 26, पृ. 33
11. वही, अंक 26, पृ. 33
12. वही, अंक 26, पृ. 35
13. वही, अंक 8, नवम्बर, 1974 ई., पृ. 21
14. वही, अंक 9, अप्रैल, 1975 ई., पृ. 69
15. वही, अंक 17, जून, 1978 ई., पृ. 84
16. वही, अंक 17, पृ. 84-85
17. वही, अंक 9, पृ. 71
18. वही, अंक 20, अक्टूबर, 1982 ई., पृ. 22
19. वही, अंक 18, अक्टूबर, 1978 ई., पृ. 82
20. वही, अंक 23, जनवरी, 1986 ई., पृ. 19
21. वही, संयुक्तांक 47-48, दिसम्बर, 1998 ई., प्रबन्ध सम्पादक : विजय लक्ष्मी, पृ. 40 एवं 41
22. वही, अंक 60, जुलाई, 2012 ई., सम्पादक : विजय लक्ष्मी, पृ. 36



प्रेमचंद के आरंभिक उपन्यासों में स्त्री : असरारे-मआबिद से सेवासदन तक

○ जीनत ज़्या

प्रेमचंद के लेखन से हिंदी साहित्य में भारतीय स्त्री की जीवन-स्थितियों की समझ, उनका संघर्ष, शोषण व दमित इच्छाओं की अभिव्यक्ति की शुरुआत होती दिखाई देती है। 'असरारे-मआबिद' से लेकर 'गोदान' तक की उनकी समूची रचना यात्रा में स्त्री की स्थिति एवं उसकी समस्याएँ केन्द्र में विद्यमान हैं। प्रेमचंद के लेखन में कहीं-कहीं आदर्शवादिता व भाववादिता की भी दृष्टि दिखाई देती है। इन सब के बावजूद उनके लेखन के केन्द्र में स्त्री व उसकी समस्याएँ हैं, साथ ही उनका प्रतिरोधी स्वर भी है जो तत्कालीन समाज के परिवेश के अनुसार बहुत बड़ी बात है।

असरारे-मआबिद :

प्रेमचंद की उपन्यास यात्रा की शुरुआत 'असरारे-मआबिद' हिन्दी में देवस्थान का रहस्य नाम से अनूदित नामक उपन्यास से होती है। प्रेमचंद का यह उपन्यास पहली बार 8 अक्टूबर 1903 से 1 फरवरी 1905 तक बनारस से निकलने वाले उर्दू पत्र 'अवाज-ए-खल्क' में मुंशी धनपतराय उर्फ नवाबराय इलाहाबादी के नाम से प्रकाशित हुआ। यह 'मंगलाचरण' में संकलित है। 'असरारे-मआबिद' उपन्यास उर्दू भाषा में लिखा गया था। सम्भवतः यह उपन्यास कभी पुस्तक रूप में नहीं प्रकाशित हुआ। इसे संयोग ही कह सकते हैं कि आखिरी उपन्यास 'मंगलसूत्र' की तरह यह उपन्यास भी अधूरा ही रहा।

'असरारे-मआबिद' पाँच परिच्छेदों में मंगलाचरण में संकलित है। इस उपन्यास में प्रेमचंद मन्दिर के पुजारी और महन्तो की दुराचारी प्रवृत्ति को रेखांकित करते हैं। उपन्यास में श्री महादेव लिंगेश्वरनाथ के मन्दिर को कथा का केन्द्र बिंदु बनाया गया है। प्रेमचंद ने अपने इस उपन्यास में समाज और उनमें स्त्रियों को उनकी इच्छाओं एवं सपनों के साथ पूरेपन में चित्रित किया है, "आज वही शुभ दिन है औरतों की एक टोली चली जा रही है तमाम औरतें कपड़े लत्ते से लैस हैं, जेवरों से गोंडनी की तरह लदी हुयी, मारे जेवरों के जिस्म पर तिल रखने की जगह नहीं है। आज वह कीमती जोड़े निकाले गये हैं। जो धराऊँ कहलाते हैं और जो शादी-ब्याह के अवसर पर बड़े ठाट बाट से पहने जाते हैं। उसमें हरेक बेजोड़ है। कोई छाँटेने काबिल नहीं। कस्तूरी में बसी हुयी चोटियाँ, जो स्नान करने के बाद कंधों पर बिखरे दी गयी हैं, उनकी सुन्दरता को और भी बढ़ाती है। हरेक स्त्री के सुन्दर सुकुमार हाथों में एक बहुत अच्छा पीतल का कमण्डल लटक रहा है। जिसमें पूजा का सामान है। यह व्रत कुछ ऐसा लोकप्रिय है कि बूढ़ी तो बूढ़ी, जवान और कमसिन औरतें भी बड़े सच्चे दिल से उसको रखती हैं। आम रिवाज के मुताबिक यह औरतें भी रास्ते की थकान को दूर करने के लिए एक फड़काने वाला गीत अलापती हुई चली जा रही

हैं-

“झंझरे गड़उआ गंगाजल पानी
झंझरे गड़उआ गंगाजल पानी
अरे पनिया न पिए धरे मोरी बहियाँ
मोरा सैयां घरे आए रतिया॥ मोरा सैयां.....॥
चुन चुन कलियाँ मैं सेज बिहाऊँ
सेज न सोवे धरे मोरी बहियाँ
मोरा सैयां घरे आए रतिया॥ मोरा सैयां.....॥”

प्रेमचंद ने इस उपन्यास में यह वर्णित किया है कि भारतीय समाज के मध्यवर्गीय परिवार में जहाँ स्त्रियों को घर से बाहर निकलने की बंदिशें हैं वहाँ मन्दिर और पूजा-पाठ के लिए घर से बाहर निकलने में स्वतंत्रता मिलती है तो वे किस तरह आपस में बतियाते और हँसी मजाक करते चली जा रही हैं-

“एक नौजवान चंचल औरत आगे बढ़कर अपनी सहेली से पूछने लगी- क्यों दीदी तुमने कौन सी मनौती की है?

वह औरत (नौजवान, सुन्दर, गोरी कम उम्र की) मुझको अच्छा वर मिलेगा।

पहली औरत- क्या इतने दिनों में एक से मन भर गया है जो दूसरा करने पर तुली हो?

वही औरत - क्या कहूँ मेरा आदमी मुझको मानता ही नहीं।

दूसरी औरत - आओ फिर अदला-बदली हो जाय।

पहली - ना बहन, मेरा आदमी बेचारा मेरी-सी बीबी कहाँ पायेगा। चिराग लेकर ढूँढेगा तब भी मुझ जैसी न पायेगा।

दूसरी - अब आप को भी सुन्दर होने का दावा हुआ। वही मसल है सूरत न शकल चूल्हे से निकल। कुच्ची-कुच्ची आँख लेकर चली हो वहाँ से दून की लेने! जरा जाकर आइने में मुँह तो देखो!

एक तीसरी औरत - (अधेड़, भदेस, मोटी) - तुम छोकरियों से आज बरस-बरस के दिन भी चुप नहीं रहा जाता।”

प्रेमचंद ने अपने इस उपन्यास में भारतीय समाज की मध्यवर्गीय परिवार की स्त्रियों की दशा का वर्णन किया है, जिसमें उन्हें धार्मिक कृत्यों के बहाने ही घर के बाहर जाने की स्वातंत्रता प्राप्त होती है।

प्रेमा

‘प्रेमा’ हिंदी में प्रकाशित होने वाला प्रेमचंद का प्रथम उपन्यास है जो बाबू नवाबराय बनारसी के नाम से प्रकाशित हुआ था। इस उपन्यास का प्रथम संस्करण सन् 1907 ई. में इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद से छपकर प्रकाश में आया। ‘प्रेमा’ उपन्यास मूलतः प्रेमचंद के उर्दू उपन्यास ‘हमखुर्मा व हमसवाब’ का हिंदी अनुवाद है। ‘सेवासदन’ की तरह ‘प्रेमा’ उपन्यास को भी एक सामाजिक समस्याप्रधान उपन्यास कह सकते हैं। प्रेमचंद ने यथार्थवादी दृष्टिकोण अपनाते हुए अपने इस उपन्यास में न केवल विधवा नारी के जीवन की दयनीय स्थितियों को सामने लाने का प्रयास किया है बल्कि उसके विभिन्न पहलू पर समान रूप से विचार भी किया है। ‘प्रेमा’ उपन्यास की कथा मुख्यतः प्रेमा एवं पूर्णा नामक दो सखियों के विवाह से सम्बद्ध है। इसलिए प्रेमचंद ने इस उपन्यास का नाम भी ‘प्रेमा’ अथवा ‘दो सखियों का विवाह’ रखा है। उपन्यास का नामक अमृतराय और नायिका प्रेमा है। प्रेमा मुंशी बदरीप्रसाद की बेटी है। अमृतराय और

प्रेमा परस्पर एक दूसरे से प्रेम करते थे और प्रेमा का विवाह अमृतराय से होना था, लेकिन अमृतराय समाज सुधार का कार्य करते हैं और उसकी चर्चा पूरे शहर में थी। एक दिन दाननाथ ने अमृतराय के ईसाई होने की चर्चा पूरे शहर में फैला दी। प्रेमा के पिता बदरीप्रसाद खिन्न होकर प्रेमा का विवाह दाननाथ से कर देते हैं, “हमने सुना है कि अब आप सनातन धर्म को त्याग करके ईसाईयों की उस मण्डली में जा मिले हैं जिसको लोग भूल से सामाजिक सुधार सभा कहते हैं। इसलिए अब हम अति शोक के साथ कहते हैं कि हम आपसे कोई नाता नहीं कर सकते। आपका शुभचिंतक बदरीप्रसाद।”³

इस उपन्यास की एक पात्र है पूर्णा, जो प्रेमा की सखी है। पूर्णा के पति का गंगा में डूब जाने से स्वर्गवास हो जाता है। अमृतराय पूर्णा के साथ सहानुभूति जताते हैं उसकी मदद करते हैं और अन्त में विधवा पूर्णा से विवाह कर लेते हैं।

इस उपन्यास की एक और सशक्त पात्र है रामकली। वह पूर्णा की सखी और एक विधवा युवती है। प्रेमचंद ने इसके माध्यम से स्त्री की सामाजिक पराधीनता का सशक्त चित्र प्रस्तुत किया है। एक स्थल पर रामकली पूर्णा से कहती है “जब तमाम औरतों को बनाव सिंगार किये हैंसी-खुशी चलते फिरते देखती हूँ तो छाती पर सांप लोटने लगता है। विधवा क्या हो गयी, घर भर की लौंडी बना दी गई। जो काम कोई न करे वो मैं करूँ, उस पर रोज उठते जुती बैठते लात। काजल मत लगाओ, बाल मत गुंथाओ, रंगीन साड़ियाँ मत पहनो, पान मत खाओ। एक दिन एक गुलाबी साड़ी पहन ली थी तो वह चुड़ैल मारने उठी थी। जी में तो आया कि सर के बाल नोच लूँ।”⁴ इसी आक्रोश का परिणाम है कि मंदिर में जाती हूँ उसकी बला। वहाँ तो जरा दिल बहलाने को मिलता है।

प्रेमचंद जिस समय ‘प्रेमा’ उपन्यास की रचना कर रहे थे उस समय पुरुषप्रधान समाज का जो दृष्टिकोण था उसको उजागर करने के साथ-साथ विधवा नारी की दयनीय दशा को सम्मुख लाने का प्रयास उन्होंने उपन्यास में किया। विधवाओं की दयनीय दशा का जिम्मेदार एक ओर वैचारिक और सामाजिक परम्परा को तो दूसरी ओर नारी के आत्मबल की कमी को ठहराया गया है। अमृतराय के रूप में उन्होंने सामाजिक रूढ़ियों का विखण्डन करवाकर समाज को विधवा नारी के अनुरूप बनाने की कोशिश की है।

वरदान

वरदान उपन्यास प्रेमचंद द्वारा उर्दू में रचित ‘जलव-ए-ईसार’ उपन्यास का हिंदी अनुवाद है। उर्दू में इस उपन्यास का प्रकाशन सन् 1912 में इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद से नवाबराय के लेखकीय नाम से हुआ था। हिन्दी में इस उपन्यास का प्रकाशन संवत् 1977 में ग्रंथ भण्डार, बम्बई में हुआ था। वरदान उपन्यास की कहानी देश के लिए उपकारी बेटे का वरदान मांगने वाली माँ सुवामा और उसके संयासी जातिसेवी तथा राष्ट्रप्रेमी बेटा प्रतापचंद्र की कहानी है। इस उपन्यास का नायक प्रतापचंद्र और नायिका विरजन है। लेकिन विरजन संजीवन लाल की बेटी है। विरजन को अपने घर के दूसरे भाग में रहने वाले प्रतापचंद्र से प्रेम होता है। विरजन के पिता कमजोर मस्तिष्क वाले कमलाचरण से उसका विवाह कर देते हैं। असमय कमलाचरण की मृत्यु हो जाती है। विरजन को जीवन में कम उम्र में ही वैधव्य का ग्रहण लग जाता है। विरजन के विधवा होने के बाद उसके प्रति प्रतापचंद्र का सोया हुआ प्रेम पुनः जाग्रत हो जाता है। इधर कमलाचरण की मृत्यु के पश्चात विरजन कवयित्री बन जाती है और अपनी सहेली माधवी के साथ रहने लगती है। प्रतापचंद्र के लिए विरजन के मन में जो प्रेम था अब वह श्रद्धा में परिवर्तित हो जाता है। विरजन

माधवी का विवाह प्रतापचंद्र से कराना चाहती है। बालाजी की ख्याति विरजन तक पहुँचती है। वह उन्हें काशी आने का निमंत्रण देता है। माधवी से मिलने के पश्चात् बालाजी उसके प्रेम को देखते हुए अपना संन्यास त्यागने को तैयार हो जाते हैं पर माधवी उन्हें कर्तव्य मार्ग से विमुख नहीं होने देती और संन्यासिनी बन जाती है। इस उपन्यास के माध्यम से प्रेमचंद ने ऐसी नारी का चित्रण किया है जिसका जीवन अभावों से परिपूर्ण है जिसके कारण वह हर समय वेदना से पीड़ित रहती है।

प्रेमचंद ने इस उपन्यास में अनमेल विवाह के दुष्परिणामों का यथार्थ चित्रण किया है। विरजन पर कच्ची अवस्था में ही वैधव्य का पहाड़ टूट पड़ता है। विरजन और कमलाचरण का विवाह अल्पायु में हुआ था। उस युग में ऐसी छोटी-सी उम्र में विवाह करने की कुप्रथा प्रचलित थी। माता पिता विवाह को बोझ समझकर जल्दी से जल्दी अपने इस दायित्व से छुटकारा पाना चाहते थे। बाल विवाह की इस कुप्रथा का सबसे भीषण परिणाम लड़कियों को भुगतना पड़ता है, जिनमें से अधिकतर 15-16 वर्ष की अवस्था में वैधव्य का दुःख झेलती थीं और रूढ़िगत समाज व्यवस्था के अनुसार पुनर्विवाह भी नहीं कर सकती थीं। प्रेमचंद ने लड़कियों के साथ होने वाले इस अन्याय का अपने इस उपन्यास में मर्मस्पर्शी चित्रण करते हुए इस भयंकर सच्चाई को स्पष्ट किया है कि बाल विवाह के परिणामस्वरूप कम उम्र में विधवा होने वाली बालिकाएँ किस प्रकार गालियाँ सहती हैं। वेश्याओं के कोठों पर बैठती थीं और आत्महत्या करके दुनिया के अत्याचारों में मुक्त हो जाती थीं। हमारे समाज में विरजन जैसी लाखों करोड़ों विधवाओं की विडम्बना यह है कि असमय वैधव्य की मार सह रही इन अबलाओं पर अपने पति की मृत्यु का कारण बनने का आक्षेप लगाकर ससुराल में इन्हें रात-दिन ताने देकर प्रताड़ित किया जाता है, कमलाचरण की मृत्यु के उपरान्त विरजन के प्रति कमलाचरण की माँ प्रेमावती के दृष्टिकोण-परिवर्तन तथा व्यवहार के द्वारा प्रेमचंद समाज की पाषाण हृदयता को उजागर करते हुए लिखते हैं- “बात-बात पर विरजन से चिढ़ जाती और कटुक्तियों से उसे जलाती। उसे यह भ्रम हो गया था कि ये सब अपत्तियाँ इसी बहू की लायी हुई है। यही अभागिन जबसे घर में आयी घर का सत्यानाश हो गया इसका पैर बहुत निकृष्ट है। कई बार उसने विरजन से स्पष्ट कह दिया कि तुम्हारे चिकने रूप ने मुझे ठग लिया। मैं क्या जानती थी कि तुम्हारे चरण ऐसे अशुभ हैं।”⁵

‘वरदान’ उपन्यास में भारतीय नारी के त्याग, तप, संयम, निस्वार्थ प्रेम एवं समर्पण की भावना व्यक्त हुई है। इस उपन्यास में तद्युगीन भारत के पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में व्याप्त समस्याओं एवं कुरीतियों का चित्रण किया गया है।

सेवासदन

सेवासदन को एक समस्याप्रधान उपन्यास भी कह सकते हैं, जो पाठक के मन में कई तरह के प्रश्न भी खड़ा कर देता है। वह कौन-सी परिस्थिति है जो एक स्त्री को घर के पवित्र वातावरण से निकालकर वेश्यावृत्ति के लिए मजबूर करती है। वेश्याओं को घृणित दृष्टि से क्यों देखा जाता है? वेश्यावृत्ति का निदान कैसे सम्भव है? समाज में वेश्याओं का स्थान क्या होना चाहिए। वैसे तो ‘सेवासदन’ उपन्यास वेश्यावृत्ति की समस्या पर आधारित है। लेकिन इसके मूल में समस्त नारी जीवन से सम्बन्धित वे समस्याएँ हैं जो एक नारी को वेश्या बनने पर विवश करती हैं। किन्तु प्रेमचंद अपने इस उपन्यास के माध्यम से समाज में स्त्रियों की स्थिति को दर्शाते हैं। प्रेमचंद स्त्रियों को समाज में सम्मान दिलाना चाहते थे। वे चाहते थे कि नारी पुरुष वर्ग के शोषण और गुलामी से मुक्ति पाए। अतः “यथार्थ चित्रण की दृष्टि

से 'सेवासदन' का महत्व इस बात में है कि वह अपने युग के समाज का वास्तविक चित्र हमारे सामने प्रस्तुत करता है। सामाजिक यथार्थ का कोई भी पक्ष प्रेमचंद की सूक्ष्मग्राही दृष्टि से बचकर नहीं जा सका है।⁷⁶

सेवासदन की मूल समस्या क्या है? इस प्रश्न को लेकर आलोचकों में मतभेद है। कोई इसे वेश्यावृत्ति की समस्या से सम्बन्धित बताता है तो कोई दहेज प्रथा से। वास्तविकता यह है कि समाज की ये समस्याएँ एक दूसरे से जुड़ी हैं। अतः इन्हीं समस्याओं में पुरुष वर्ग के अत्याचार और दासता से मध्यवर्गीय नारी की मुक्ति का स्वर मुखरित हुआ है। भारतीय समाज में व्याप्त दहेज और विवाह की समस्या ने दारोगा कृष्णचन्द्र को, जो अपनी जिन्दगी के पच्चीस साल के दौरान अपने दामन को हिंस से पाक कर रखा था, वह सुमन के विवाह में मैला हो गया। दहेज के बिना जिस समाज में कन्याएँ कुंवारी ही बूढ़ी हो जाती थीं वहाँ सुमन को बिना दहेज के अच्छा वर कैसे मिल सकता था? इस दहेज के दानव ने उनके जीवन भर की पूँजी, उनकी आस्था को निगल लिया उनके पास और कोई रास्ता नहीं था अतः उन्होंने सोचा- “अब दो ही उपाय हैं, या तो सुमन को किसी कंगाल के पल्ले बाँध दूँ या कोई सोने की चिड़ियाँ फसाऊँ। पहली बात तो होने से रही, बस अब सोने की चिड़ियाँ की खोज में निकलता हूँ। धर्म का मजा चख लिया, सुनीति का हाल भी देख चुका। अब लोगों के खूब गले दबाऊँगाँ, खूब रिश्वतें लूँगाँ, यही अन्तिम उपाय है।”⁷⁷

‘सेवासदन’ की मुख्य पात्र सुमन है जो पाठकों के आकर्षण का केन्द्रबिन्दु है। आदि से अंत तक उन्हें बाँधे रहती है। सुमन के माध्यम से प्रेमचंद ने नारी की निस्सहायता, पराधीनता, विवशता और उसके साथ पशुओं के समतुल्य व्यवहार और उसके परिणामस्वरूप दहेज प्रथा, अनमेल विवाह, वेश्यावृत्ति आदि विभिन्न समस्याओं का विस्तारपूर्वक वर्णन है। “प्रेमचंद ने सबसे पहले इस परिवर्तन को देखा, उसका स्वागत किया और उसे बढ़ावा दिया था। सुमन का चरित्र पाठकों को ऊँचा उठाता है, वह उसके मन में एक नई स्फूर्ति, एक नया विश्वास जगाता है।”⁷⁸ सुमन एक मध्यवर्गीय परिवार की लड़की है जिसके माध्यम से मध्यवर्गीय नारी की पराधीनता की व्यथा और उसकी मुक्ति की गाथा का आरम्भ होता है। सुमन एक सुशील और सुन्दर लड़की है। वह स्वाभिमानी प्रवृत्ति की है। अन्याय के विरुद्ध उसने झुकना नहीं सीखा है। इन सब गुणों से सम्पन्न होते हुए भी उसके परिवार ने उसे योग्य वर से वंचित रखा है दहेज की व्यवस्था न हो पाने के कारण सुमन का विवाह अथेड़ उम्र के दुहाजू वर से हो जाता है। विवाह के बाद सुमन की माँ वर को देखकर रो पड़ती है उन्हें ऐसा लगता है मानो सुमन किसी कुएँ में डाल दी गई हो- “लड़कियों को कुएँ में ढकेलना और फिर सतीत्व और पतिव्रत धर्म के गीत गाना। इस समूचे व्यापार में बेचारी सुमन की इच्छा अनिच्छा का सवाल नहीं उठता। बलि पशु की तरह जिस खूँटे में बाँध दी जाए, उसे बँधना पड़ता है।”⁷⁹ इसी अनमेल विवाह के द्वारा सेवासदन में वर्णित नारी समस्या का जन्म होता है। यदि विचारपूर्वक देखते हैं तो इस समस्या का मूल कारण आर्थिक ही है। प्रेमचंद ने आर्थिक पराधीनता को नारी जीवन की सबसे बड़ी त्रासदी माना है। मध्यवर्गीय भारतीय पुरुषप्रधान समाज में जितने भी सामाजिक और नैतिक प्रतिबंध हैं वह केवल नारियों के लिए हैं। पुरुष मान-मर्यादा के सारे बंधनों से मुक्त हैं। वही कार्य पुरुष करता है तो मर्यादा भंग नहीं होती है और न ही उस पर कोई उंगली उठाता है और अगर वही काम स्त्री करती है तो वह कुलटा और कलंकिनी कहलाती है। सुमन का पति गजाधर स्वयं मौलूद के अवसर पर भोली वेश्या के यहाँ जाता है और सुमन के पूछने पर कहता है कि जब इतने भले मानुस बैठे हुए थे तो मुझे भी वहाँ जाने में क्या संकोच। अंग्रेजी शिक्षा ने लोगों को उदार बना दिया

वेश्याओं का अब उतना तिरस्कार नहीं किया जाता है फिर भोली बाई का शहर में बड़ा नाम है। जब सुमन उसके यहाँ आना जाना शुरू करती है तो गजाधर सुमन को रोकता है सुमन के पूछने पर वह उत्तर देता है तुम्हारा वहाँ जाना बड़ी शर्म की बात है। मैं अपनी स्त्री को वेश्या से मेल-जोल रखते नहीं देख सकता। मैं तुम्हें सचेत कर देता हूँ आज के बाद कभी उधर मत जाना नहीं तो अच्छा न होगा। यह है हमारी पुरुष प्रधान समाज व्यवस्था में पुरुष और नारी का व्यवहार सम्बन्धी आचार संहिता जो पुरुष और नारी के अन्तर को भली-भाँति प्रकट करता है।

‘सेवासदन’ उपन्यास तद्युगीन समाज का वास्तविक रूप हमारे समक्ष प्रस्तुत करता है उस समय आर्य समाज जैसी सुधारवादी कार्यक्रम के प्रसंशनीय कार्यों से बहुत प्रभावित थे। इस प्रकार उन्होंने समाजिक यथार्थ के तत्कालीन विविध पक्षों का दिग्दर्शन कराने के लिए ‘सेवासदन’ की स्थापना किए जाने आदि का चित्रण किया है। इस उपन्यास में प्रेमचंद सामाजिक जीवन के कटु सत्य को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हैं।

समाज का यथार्थ चित्र जिसमें विधवा विवाह, बाल विवाह, दहेज प्रथा जैसी विभिन्न सामाजिक समस्याओं की भीषण शिकार नारी का चित्रण करते हुए प्रेमचंद उसकी भावनाओं, दमित इच्छाओं और प्रतिरोधी स्वर को अपने लेखन के केन्द्र में रखते हैं और यह उनके रचना कर्म को विशिष्ट बनाता है।

संदर्भ:

1. मंगलाचरण, पृ. 26
2. मंगलाचरण, पृ. 27
3. मंगलाचरण, पृ. 213
4. मंगलाचरण, पृ. 244
5. वरदान, प्रेमचंद, पृ. 109
6. प्रेमचंद एक मार्क्सवादी मूल्यांकन, डॉ. जनेश्वर वर्मा, पृ. 136
7. सेवासदन, प्रेमचंद, सरस्वती प्रेस बनारस, पृ. 6
8. प्रेमचंद और उनका युग, रामविलास शर्मा, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ. 36
9. प्रेमचंद और उनका युग, रामविलास शर्मा, पृ. 34



समकालीन हिंदी दलित कविता

○ देवचंद्र भारती 'प्रखर'

समकालीन हिंदी दलित कविता के स्वरूप, संरचना, शिल्प, सौंदर्य और संवेदना को भली-भाँति समझने के लिए दलित कविता के अतीत में थोड़ा झाँक लेना आवश्यक है। चूँकि दलित कविता का जन्म छुआछूत, शोषण, अन्याय और अपमान आदि से निर्मित गर्भ से हुआ है, इसलिए दलित कविता में आक्रोश, नकार, विरोध और विद्रोह आदि भावों का समावेश होना स्वाभाविक है। इस संसार में घटित होने वाले हर कार्य का कोई न कोई कारण होता है, तो फिर दलित कविता का उद्भव अकारण कैसे हो सकता था ? दलित कविता का उदय दलित अस्मिता की सुरक्षा के लिए हुआ। दलित कविता साहित्य की एक मात्र विधा ही नहीं, बल्कि अन्याय से पीड़ित दलितों के लिए क्रांति का बिगुल भी है, जिसे सुनकर दलित समाज के लोग ऊर्जित, उत्साहित और आंदोलित होते हैं और शोषक वर्ग के सामने अपने अधिकारों के लिए सीना तानकर खड़े हो जाते हैं। वर्तमान में दलित समाज की स्थिति में जो भी सुधार हुआ है, उसमें दलित काव्य-साहित्य की महत्वपूर्ण भूमिका है। पं० महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अपने निबंध 'साहित्य की महत्ता' में ठीक ही लिखा है कि 'साहित्य में जो शक्ति छिपी रहती है, वह तोप, तलवार और बम के गोलों में भी नहीं पायी जाती।'

भारतीय और पाश्चात्य काव्य सिद्धांतों के अंतर्गत सार-रूप में चार काव्य प्रयोजन हैं - धन, यश, शिक्षा और आनंद। दलित कविता के संदर्भ में इन काव्य प्रयोजनों में से तीन (धन, यश, आनंद) तो पूर्णतः असंगत हैं, किंतु 'शिक्षा' दलित कविता का प्रयोजन अवश्य है। फिर भी दलित कविता में शिक्षाभाव का अभाव ही दिखता है। दलित कविता का मुख्य प्रयोजन (उद्देश्य) समतामूलक समाज का निर्माण करना है। प्रो० आर० शशिधरन के शब्दों में - "दलित विमर्श मुख्यतः दो महत्वपूर्ण उद्देश्यों को एक साथ लेकर चलता है। पहला, वर्णव्यवस्था जैसे क्रूर, अमानवीय और अन्यायी सामाजिक व्यवस्था का विरोध और दूसरा, समतामूलक, मानव कल्याणकारी सामाजिक व्यवस्था की स्थापना।" इस प्रसंग के दौरान डॉ. शरण कुमार लिंबाले के इस कथन को उद्धृत करना अनुचित नहीं होगा कि "शोषितों का पक्ष लेकर शोषकों के विरुद्ध नकार, विद्रोह और प्रतिशोध की भूमिका लेना ही तो दलित साहित्य का प्रयोजन है।"² दलित कविता का प्रयोजन पारंपरिक काव्यशास्त्रीय प्रयोजनों से भिन्न 'सामाजिक परिवर्तन' है, जो कि क्रांतिकारी विचारों से ही संभव है। काव्य प्रयोजन के संदर्भ में राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने अपनी काव्य पंक्तियों 'केवल मनोरंजन न कवि का कर्म होना चाहिए/उसमें उचित उपदेश का भी मर्म होना चाहिए।' के द्वारा हिंदी कवियों को जो संदेश दिया था, दलित कवियों ने उसे निष्ठापूर्वक ग्रहण किया है। दलित कविता मनोरंजन के लिए नहीं लिखी जाती। दूसरे शब्दों में कहें तो, मनोरंजन के लिए कविता लिखने वाला दलित कवि नहीं कहा जाता। यदि वर्तमान में दलित काव्य आंदोलन कुछ कमजोर दिखाई पड़ रहा

है, तो निश्चित रूप से यह दलित कवियों के भटकाव की स्थिति है। कुछ दलित कवि धन और यश के प्रयोजन (उद्देश्य) से कविताएँ लिख रहे हैं। ऐसे कवियों की कविताओं में दलित चेतना स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त नहीं हो पाती, बल्कि उनके शब्दजाल में कहीं उलझ जाती है।

दलित कविता में दलित चेतना का होना अनिवार्य है। दलित चेतना से रहित कविता को दलित कविता नहीं कहा जा सकता, भले ही उसे दलित समाज के ही किसी कवि ने लिखा हो। दलित चेतना को स्पष्ट करते हुए ओमप्रकाश वाल्मीकि ने लिखा है,

“दलित चेतना के प्रमुख बिंदु हैं – 1. मुक्ति और स्वतंत्रता के सवाल पर डॉक्टर अंबेडकर के दर्शन को स्वीकार करना। 2. बुद्ध का अनीश्वरवाद, अनात्मवाद, वैज्ञानिक दृष्टि-बोध, पाखंड-कर्मवाद विरोध। 3. वर्ण व्यवस्था विरोध, जातिभेद विरोध, सांप्रदायिकता विरोध। 4. अलगाव का नहीं, भाईचारे का समर्थन। 5. स्वतंत्रता, सामाजिक न्याय की पक्षधरता। 6. सामाजिक बदलाव के लिए प्रतिबद्धता। 7. आर्थिक क्षेत्र में पूँजीवाद का विरोध। 8. सामंतवाद, ब्राह्मणवाद का विरोध। 9. अधिनायकवाद का विरोध। 10. महाकाव्य की रामचंद्र शुक्लीय परिभाषा से असहमति। 11. पारंपरिक सौंदर्यशास्त्र का विरोध। 12. वर्ण विहीन, वर्ग विहीन समाज की पक्षधरता। 13. भाषावाद, लिंगवाद का विरोध।”⁸

दलित कविता का विषय-क्षेत्र क्या है ? किन-किन विषयों पर दलित कविता लिखी जा सकती है ? अधिकांश दलित कवि, दलित कविता के पाठक और दलित कविता के आलोचक इस विषय में भ्रमित हैं तथा दलित कविता के विषय-क्षेत्र को एक निश्चित सीमा तक ही मान लेते हैं। दलित कविता के विषय-क्षेत्र को स्पष्ट रूप से समझने के लिए ‘दलित’ शब्द का अर्थ जानना आवश्यक है। नामदेव ढसाल के अनुसार, “दलित यानी कि अनुसूचित जाति, जनजाति, बौद्ध, श्रमिक जनता मजदूर, भूमिहीन, खेत मजदूर, यायावर और आदिवासी हैं।”⁹ इनके अतिरिक्त स्त्री और किन्नर भी दलित कविता के विषय-क्षेत्र में हैं। अफसोस यह कि किन्नरों की पीड़ा पर कोई दलित कविता नहीं है; और यदि होगी भी, तो प्रकाश में नहीं है। या तो दलित कवि किन्नरों को दलित नहीं समझते हों, या फिर उन पर उनका ध्यान ही न गया हो। कारण चाहे जो भी हो, लेकिन यह दुखद स्थिति है। किन्नरों पर भी दलित साहित्य लिखा जाना चाहिए, क्योंकि वे भी सही मायने में दलित हैं।

वर्तमान में, कोरोना की आपदा से पीड़ित प्रवासी मजदूरों की वेदना को अधिकांश कवियों ने अपनी कविताओं में अभिव्यक्त किया है। किसी ने उनकी भूखी-प्यासी स्थिति का चित्रण किया है, तो किसी ने उनकी निर्धनता का सामान्य शब्दों में करुण वर्णन किया है। किसी ने उनके पैदल चलकर घर जाने के संघर्ष को भावुकतापूर्वक प्रस्तुत किया है। फिर भी कुछ ही कवियों की कविताएँ पाठकों के हृदय को उद्देलित कर पाती हैं। सच तो यह है कि केवल मजदूरों की वेदनाभिव्यक्ति से दलित कविता प्रभावी नहीं हो सकती, बल्कि उनकी पीड़ा के कारणों और उनके प्रति अन्याय को ध्यान में रखकर उनके अधिकार प्राप्ति हेतु नकार, विरोध और विद्रोह की भावाभिव्यक्ति ही दलित कविता को प्रभावी बना सकती है। जो लोग दलित कविता को केवल दुःख और पीड़ा की अभिव्यक्ति समझते हैं, वे या तो भ्रम में हैं, या फिर अंबेडकरवाद से अनभिज्ञ हैं। अंबेडकरवादी विचारधारा बौद्ध दर्शन से भी प्रभावित है। दुःख से दुःखी होकर रोने के लिए तो बुद्ध ने भी नहीं कहा था; क्योंकि दुःख है तो दुःख का कारण है, दुःख का कारण है तो दुःख का निवारण है और दुःख निवारण का मार्ग भी है। इसलिए संघर्षयुक्त दुःख की अभिव्यक्ति ही दलित कविता में उचित है, अन्यथा व्यर्थ का विलाप दलित कविता के आंदोलन को अवरुद्ध कर देगा। वैसे भी, यह समय अपना दुखड़ा गाने का नहीं है।

वर्तमान की दलित कविताओं में भोगा हुआ यथार्थ भी कम ही देखने को मिलता है। इसका कारण यह है कि दलित कवि अपनी कविता का विषय अपनी स्थिति के प्रतिकूल चुनते हैं। परिणामस्वरूप दलित कविता प्रभावहीन होती जा रही है। जब बंगला, कार और ए०सी० का सुविधाभोगी धनवान दलित भूख-प्यास से व्याकुल निर्धन की दयनीय स्थिति का चित्रण करता है, तो वह केवल शब्दों का तम्बू ही खड़ा करता है; जिस तरह निराला ने अपनी कविता 'वह तोड़ती पत्थर' में किया है। 'वह तोड़ती पत्थर' कविता की पीड़ित नारी में न ही शोषण के प्रति आक्रोश है, न ही उस पत्थर तोड़ने के कार्य से इनकार है और न ही शोषक के प्रति विद्रोह की भावना है। वह तो सारा दुःख सहते हुए अपने कार्य में लीन है; निराला के शब्दों में, 'लीन होते कर्म में फिर ज्यों कहा - मैं तोड़ती पत्थर।' इस तरह की कविता को दलित कविता नहीं कहा जा सकता। दलित कवि भी यदि इसी तरह की कविताएँ लिखते रहें, तो फिर कैसा दलित कवि और कैसी दलित कविता ?

समकालीन दलित कविता के प्रभावहीन होने का एक कारण, उसमें कलात्मकता का अभाव भी है। दलित कविता की कलात्मकता के विषय में दलित कवियों का यह कथन कि यथार्थ की अभिव्यक्ति होने के कारण दलित कविता कलात्मक नहीं हो सकती; उनके अतिवाद से ग्रसित होने की ओर संकेत करता है। इस बात की पुष्टि के लिए डॉ. शरण कुमार लिंबाले का यह कथन ध्यातव्य है कि "कलाकृति का सौंदर्य विश्वचैतन्य की अथवा परतत्व की अभिव्यक्ति होती है, यह प्रतिपादित करने वाला सौंदर्यशास्त्र विश्वचैतन्यवादी अथवा आध्यात्मवादी कहलाता है। कलाकृति का सौंदर्य वास्तविकता की कलात्मक अभिव्यक्ति होती है, यह प्रतिपादित करने वाला सौंदर्यशास्त्र भौतिकवादी अथवा बाह्यार्थवादी होता है। दलित साहित्य अध्यात्मवाद और गूढ़वाद को नकारता है, इस कारण यह मानना होगा कि इस साहित्य का सौंदर्यशास्त्र अध्यात्मवादी न होकर भौतिकवादी है।"⁵ डॉ. लिंबाले के इस कथन से स्पष्ट है कि दलित कविता का सौंदर्यशास्त्र भौतिकवादी है, जो कि वास्तविकता की कलात्मक अभिव्यक्ति का पक्षधर है। डॉ. एन. सिंह के अनुसार, "दलित साहित्यकारों में साधना का अभाव है, जिसके कारण दलित साहित्य कलात्मक नहीं है।"⁶ साहित्य के पाठकों को यह बताने की आवश्यकता तो नहीं कि कलात्मकता क्या होती है ? फिर भी सामान्य पाठक यह जान लें कि कला का अर्थ है - कौशल। किसी बात को कहने का ढंग ही कौशल है। कवि की कथ्य-शैली ही उसकी कविता में कलात्मकता उत्पन्न करती है। जो दलित कवि शुद्ध सपाटबयानी से मुक्त हैं, उनकी कविताओं में बिंबों, प्रतीकों और अलंकारों के दर्शन अवश्य होते हैं, लेकिन ऐसे दलित कवियों की संख्या अत्यल्प है।

दलित कविताओं में कलात्मकता के साथ-साथ लयात्मकता और गेयता का भी अभाव है। बी०आर० विप्लवी के शब्दों में, "दलित साहित्य में कविता का वर्तमान परिदृश्य परंपरा से हटकर है। ज्यादातर कविताएँ मुक्त छंद या छंदहीन प्रकृति की हैं, जिनमें विचारों की प्रखरता तो है, किंतु गेय कविता की परंपरा नदारद है। छंदहीन कविताओं के दलित विमर्श या दार्शनिक गंभीरता के पक्ष फौरी तौर पर मन को झकझोरते हैं, किंतु इनका स्थायी असर कम होता दिखाई देता है। इन कविताओं में स्वानुभूति का ताप भी है, अनुभव की गहराई भी है और व्यवस्था के प्रति आक्रोश भी है, जो दलित साहित्य के लिए जरूरी अवयव हैं, किंतु इनमें कविता का मूल गेय तत्व नहीं होने से इनकी चिरंजीविता संदिग्ध हो जाती है।"⁷ यह ध्यान रहे कि लय और गेयता का संबंध छंद और तुक से बिल्कुल भी नहीं है, क्योंकि छंद और तुक से विहीन कविताएँ भी गेय होती हैं। उदाहरण के रूप में निराला और अज्ञेय की कविताओं को देखा जा सकता है। खैर, अब कुछ युवा दलित कवियों/कवयित्रियों द्वारा इस अभाव की पूर्ति का

प्रयास किया जा रहा है, जो दलित कविता को एक नई दिशा और दशा प्रदान करने में सहायक होगा।

मिथकों का प्रयोग भी दलित कविता में आरंभ से ही होता चला आ रहा है। सोचने की बात तो यह है कि एक तरफ दलित कवि मिथकीय पात्रों (पौराणिक पात्रों) के अस्तित्व को नकारते हैं और दूसरी तरफ अपनी कविताओं में तथाकथित अपने समाज के मिथकीय पात्रों (शंबूक, एकलव्य आदि) का शान से प्रयोग करते हैं। यह तो वही बात हुई कि गुड़ खाएँ और गुलगुला से परहेज करें। यदि राम, कृष्ण आदि का कोई अस्तित्व नहीं तो शम्बूक, एकलव्य आदि भी अस्तित्वहीन हैं। इसलिए उनको विषय बनाकर कविता लिखना दलित कवियों के लिए अशोभनीय है। बेहतर यही होगा कि युवा कवि/कवयित्री अपनी कविताओं में इस तरह का प्रयोग करने से बचें। अन्यथा, दलित कवियों पर भी भविष्य में दोहरे चरित्र का आरोप लगने की आशंका है। अपने भावों और विचारों को कविता में अभिव्यक्त करने के लिए क्या दलित समाज में ऐतिहासिक पात्रों की कमी है? बिल्कुल नहीं। बल्कि आवश्यकता पड़ने पर तो जीवित पात्रों का भी प्रयोग किया जा सकता है।

युवा रचनाकारों को चाहिए कि वे दलित साहित्य का गहन अध्ययन करते हुए बाबा साहेब डॉ. भीमराव अंबेडकर के साहित्य का भी सूक्ष्म अध्ययन करें। इसके अतिरिक्त अंबेडकरवादी दृष्टि को कविता में सरस और कलात्मक रूप में प्रस्तुत करने की आवश्यकता है। दलित कविता गैर-दलितों को कोसने और गाली देने का माध्यम नहीं है, बल्कि यह गैर-दलितों के सामने अपनी साहित्यिक प्रतिभा को प्रदर्शित करने और दलितों को अपने अधिकारों के लिए संघर्ष करने की प्रेरणा देने का माध्यम है। यथार्थ चित्रण के नाम पर अश्लील और भड़काऊ शब्दों का प्रयोग करना सर्वथा अनुचित है। गैर दलितों के साहित्य को नकारकर दलित साहित्य शिखर को प्राप्त नहीं कर सकता। दलित साहित्य तभी शिखर को प्राप्त करेगा, जब उसमें श्रेष्ठ और साहित्यिक प्रतिमानों पर खरी उतरने वाली रचनाओं की विपुलता होगी; ठीक उसी तरह, जिस तरह कि किसी रेखा को छोटी करने के लिए उस रेखा को मिटाने की बजाय उससे बड़ी रेखा खींची जाती है। दलित कविता का सौंदर्यशास्त्र और दलित कविता के प्रतिमान आदि विषयों पर अभी संतोषजनक समीक्षात्मक अथवा आलोचनात्मक पुस्तकें उपलब्ध नहीं हो सकी हैं। साथ ही ऐसे दलित समीक्षकों और आलोचकों का भी अभाव है, जो रामचंद्र शुक्ल, हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा और नामवर सिंह की तरह दलित साहित्य की समीक्षा और आलोचना कर सकें। आलोचना के अभाव में दलित कविता भी अपनी लीक से विचलित होती दिखाई दे रही है।

संदर्भ:

1. दलित साहित्य : संवेदना के आयाम, सं० : पी० रवि, बी०जी० गोपालकृष्णन, पृ. 26
2. डॉ० शरण कुमार लिंबाले : दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ. 111
3. ओमप्रकाश वाल्मीकि : दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ. 31
4. नामदेव ढसाल : दलित पैंथर का जाहीरनामा
5. डॉ. शरण कुमार लिंबाले : दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र, पृ. 117
6. डॉ. एन० सिंह : दलित साहित्य के प्रतिमान, पृ. 10
7. सामाजिक न्याय और दलित साहित्य, सं० डॉ. श्यौराज सिंह बेचैन, पृष्ठ 226



आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी की दृष्टि में कबीर की भक्ति

○ चंदन साव

पंडित हजारीप्रसाद द्विवेदी की दृष्टि में कबीर की भक्ति पर विचार करने से पूर्व भक्ति के बारे में जान लेना आवश्यक है। ‘भज्-सेवायम्’ से ‘भक्ति’ शब्द की व्युत्पत्ति हुई है, जिसके मूल में सेवा की वृत्ति है। अगर भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से देखा जाए तो ‘भक्ति’ शब्द ‘भज्’ धातु से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ है- सेवा, पूजा, विश्वास, उपचार, स्नेह, अनुराग आदि।

भक्ति से हमारा अटूट नाता सदा से रहा है। भक्ति प्रारंभ से ही हमारे लिए जिज्ञासा और आत्मा का विषय रही है। ऐतिहासिक दृष्टि से भी देखें तो इस बात के पर्याप्त प्रमाण मिलते हैं कि भक्ति की परंपरा यहाँ पहले से ही विद्यमान रही है। वैदिक साहित्य से आधुनिक साहित्य तक में भक्ति के अर्थ और स्वरूप का विविध भावभूमियों तथा विचार-सरणियों पर विकास होता रहा है। वैदिक वाङ्मय के उपासना-कांड में भक्ति के बीज प्राप्त होते हैं। ‘चारु नाम नमामहे’ तथा ‘अग्निमीकेपुरोहितम्’ जैसे वाक्यों में रूप और नाम की भक्ति का स्पष्ट संकेत मिलता है। आधुनिक युग में रामचंद्र शुक्ल और हजारीप्रसाद द्विवेदी जैसे आचार्यों ने भक्ति को गहराई से समझा और समझाया है। इस आलेख में भक्ति पर कबीर के संदर्भ में आचार्य द्विवेदी के विचारों को समझने का प्रयास किया गया है।

द्विवेदी जी ने लिखा है, “भक्ति के लिए केवल एक ही बात आवश्यक है - अनन्यभाव से भगवान की शरणागति, अहैतुक प्रेम, बिना शर्त आत्मसमर्पण। कबीरदास में इन बातों की चरम परिणति हुई है।”¹ उक्त कथन से यह ज्ञात होता है कि कबीरदास जी भक्त ही नहीं थे बल्कि उच्च कोटि के भक्त थे। यूँ तो नामदेव, जायसी, सूरदास, तुलसीदास, रैदास, रसखान, मीराबाई जैसे महानतम भक्तों ने भक्ति के जरिए जनमानस में ईश्वरीय भक्ति का प्रचार-प्रसार किया, किंतु भक्ति का मौलिक लक्षण कबीर में पूर्ण विकसित दृष्टिगोचर होता है। कहना न होगा कि हिंदी में पंडित द्विवेदी पहले आलोचक हैं जिन्होंने कबीर के मर्म को ठीक-ठीक समझा।

एक ऐसे प्रतिकूल समय में जब देश में सामाजिक रूढ़ियाँ और प्राणहीन धार्मिक बाह्याचारों से लोग त्रस्त, आतंकित और पीड़ित थे तब भक्त कबीर ने निर्गुण विचारधारा के जरिए लोगों को ईश्वर का सही रूप ज्ञात कराया। भक्ति की सही दिशा दिखाई -

“आशा एक जू राम की, दूजी आस निरास।
पाँगीमाँ है घर करें, ते भी मरे पियास।”²

अथवा,

“कबीर निरभै राम जपि, जब लग दीवैबाति।

तेल घट्या बाती बुझी, (तब) सोवैगा दिन राति॥”^{१३}

अथवा,

“लूटिसकै तो लुटियो, राम नाम है लूटि।
पीछै ही पछिताहुगे, यहु तन जैहै छूटि॥”^{१४}

इस भक्ति में श्रद्धा और प्रेम का समुचित समन्वय हो रहा था। यह भक्ति प्रेममूला थी जिसके मूल में प्रेम अर्थात् भाव था। इस प्रेममूला भक्ति को सभी भक्तों ने स्वीकार किया। कबीर ने भी स्वीकार किया।

कबीर के संदर्भ में द्विवेदी जी की यह मान्यता एकदम ठीक है- “कबीरदास मुख्य रूप से भक्त थे। वे उन निरर्थक आचारों को व्यर्थ समझते थे, जो असली बात को ढंक देते हैं और झूठी बातों को प्राधान्य दे देते हैं। उनके प्रेम के आदर्श सती और शूर हैं। जो प्रेम या भक्ति पद-पद पर भक्त को भावविह्वल कर देती है, मन और बुद्धि का मंथन करके मनुष्य को परवश बना देती है और जो उन्मत्त भावावेश के द्वारा भक्त को हतचेतन बना देती है, वह कबीर को अभीष्ट नहीं। प्रेम के क्षेत्र में वह गलदशु भावुकता को कभी बर्दाश्त नहीं करते। बड़ी चीज का मूल्य भी बड़ा होता है। भगवान्-जैसे प्रेमी को पाने के लिए भी मनुष्य को बड़े-से-बड़ा मूल्य चुकाना पड़ता है।”^{१५}

कबीर की कविताओं को जब हम पढ़ते हैं तो पाते हैं कि उनके यहाँ प्रेम का जो स्वरूप है उसमें उन्हें अपने राम की बहुरिया या कुत्ता तक बनना पड़ता है या अन्य कई रूपों में आना पड़ता है। तुलसी अपने राम के पास दास्य भाव से जाते हैं। सूरदास के यहाँ प्रेम में अगर कृष्ण राधा को छोड़कर मथुरा जा सकते थे तो वह राधा जो कृष्ण के बगैर एक पल भी नहीं रह सकती थी, वह कृष्ण से मिलने मथुरा नहीं गई। अपने प्रेमी को पाने के लिए जो बड़ा से बड़ा मूल्य चुकाने की बात है वह कबीर की भक्ति में देखने को मिलती है-

“कबीर कूता राम का, मुतिया मेरा नाउँ।
गले राम की जेवडी, जीत खैचेतितजाउँ॥”^{१६}

कबीर के यहाँ जो समर्पण का भाव है वह उनके उच्च कोटि के भक्त होने का प्रमाण देता है। सचमुच उनके प्रेम के आदर्श सती (पतिव्रता) और शूर (सूरमा) ही हैं। कबीर ने तो कहा ही है-

“हरि मेरा पीव भाई, हरि मेरा पीव, हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव।
हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया, राम बड़े मैं छुटक लहुरिया॥”^{१७}

अथवा,

“कबीर यहु घर प्रेम का, खाला का घर नाहिं।
सीस उतारैहाथिकरि, सो पैसे घर माँहि॥”^{१८}

अथवा,

“सूरै सीस उतारिया, छाड़ी तन की आस।
आगैथैं हरि मुल किया, आवतदेख्या दास॥”^{१९}

अथवा,

“भगतिदुलेही राम की, नहिं कायर का काम।
सीस उतारैहाथिकरि, सो लेसी हरि नाम॥”^{२०}

इसी निर्मल आत्म-समर्पण ने कबीर की रचनाओं को श्रेष्ठ काव्य बना दिया है। संसार में जहाँ कहीं भी उनकी रचना गई है, वहीं उसने लोगों को काफी प्रभावित किया है। सूरदास के पदों में भी प्रेम का सहज रूप दिखता है। उनकी राधा कृष्ण से कहीं कमतर नहीं जान पड़ती है। तुलसीदास अपने रामराज्य के यूटोपिया के साथ नजर आते हैं। मीरा उस सामंती समाज की जकड़न से छटपटाती नजर आती हैं। ऐसे में सहज सत्य को सहज ढंग से वर्णन करके भगवान-जैसे प्रेमी को पाने के लिए खुद को आत्म-समर्पित कर देना कबीर के अद्वितीय भक्त होने का पता देता है, अन्यतम होने का भी पता देता है।

द्विवेदी जी ने कबीर को मुख्य रूप से भक्त कहा है। वस्तुतः कबीर को भक्त स्वीकार करने के पीछे सबसे बड़ा तर्क यह है कि उनके संपूर्ण साहित्य का केंद्रबिंदु भक्ति और ईश्वरानुभूति है। कबीर महज भक्त नहीं थे बल्कि वे हिंदीभाषी प्रांतों में भक्ति आंदोलन के सूत्रधार भी माने जाते हैं। कबीर भक्ति-आन्दोलनकालीन काव्यधारा के प्रथम कवि हैं जिन्होंने जन-मानस को सबसे अधिक प्रभावित किया। यही कारण है कि उनका भक्त होना निर्विवाद है। पर यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि भक्ति उस युग की एक सामाजिक मनोवृत्ति थी जिसके जरिए जनता के हृदय को स्पर्श किया जा सकता था। भक्त होना सामाजिक आवश्यकता थी। इसीलिए बड़े स्वाभाविक रूप से कबीरदास ने भी भक्ति को अपनी काव्य साधना का साधन बनाया। फिर भी इस बात से इन्कार करना उचित नहीं होगा कि कबीर एक प्राचीन और पुष्ट परंपरा के उत्तराधिकारी थे, जो सिद्धों और नाथों द्वारा आगे बढ़ी थी। द्विवेदी जी ने अपने 'कबीर' ग्रंथ में इस परंपरा पर सविस्तार चर्चा की है। यह परंपरा कभी योग-साधना तो कभी सहज-साधना और चित्त-निवृत्ति आदि के चोले पहनकर वर्ण-वैषम्य, जाति-पाँति, छुआछूत, पुराण, कर्मकांड, वेद (लबेद) आदि के विरुद्ध आवाज बुलंद करती आ रही थी। कबीर का युग भक्ति का था; उन्होंने भक्ति का चोला पहना। भक्ति को उन्होंने एक प्रभावशाली और कारगर माध्यम के रूप में अपनाया और इस विश्वास के साथ अपनाया कि इससे उन्हें अपने प्रयोजन में सफलता मिल सकती है।

कबीर की भक्ति विषयक चर्चा करते वक्त भक्तिकाल के भीतर हिंदी साहित्य में जो कुछ लिखा गया है उस पर आचार्य रामचंद्र शुक्ल के विचारों पर दृष्टिपात करना उचित होगा। उचित इसलिए होगा कि उन्होंने भी भक्तिकाल को अपने अध्ययन का केंद्र बनाया है। शुक्ल जी भक्ति का सामान्य परिचय देते हुए लिखते हैं कि "देश में मुसलमानों का राज्य प्रतिष्ठित हो जाने पर हिंदू जनता के हृदय में गौरव, गर्व और उत्साह के लिए वह अवकाश न रह गया। उसके सामने ही उसके देवमंदिर गिराए जाते थे,अपने पौरुष से हताश जाति के लिए भगवान की शक्ति और करुणा की ओर ध्यान ले जाने के अतिरिक्त दूसरा मार्ग ही क्या था?"¹¹ इस पर द्विवेदी जी की टिप्पणी इस प्रकार है- "जोर देकर कहना चाहता हूँ कि अगर इस्लाम नहीं आया होता तो भी इस साहित्य का बारह आना वैसा ही होता जैसा आज है।"¹² साफ है कि इस्लाम के आगमन को नकारा नहीं जा सकता। 'इस्लाम' पर विचार करना महज राजनीतिक दृष्टिकोण से ही नहीं बल्कि धार्मिक परिस्थितियों के संदर्भ में भी आवश्यक है। आचार्य शुक्ल ने परिस्थितियों पर विचार कर जनता की चित्तवृत्तियों को पहचानने का प्रयास किया। अपने सिद्धांतों में वे दृढ़ रहे हैं। द्विवेदी जी ने इस विशाल साहित्य का बड़ी गहराई से अध्ययन किया। उन्होंने तत्कालीन वातावरण और काव्य-परंपराओं पर हमेशा ध्यान रखते हुए बड़ी गहराई से इस्लाम के प्रवेश के हजार वर्ष के साहित्य, समाज और धर्म-साधनाओं की विशिष्ट प्रवृत्तियों पर प्रकाश डाला और अपने मत की पुष्टि भी की है। उस समय जिस तरह से मुस्लिम आक्रमण हो रहा था और मंदिर तोड़े जा रहे थे, तब कबीर

ने यह बताया कि तुम्हें जितना भी मंदिर तोड़ना है तोड़ो, क्योंकि ईश्वर मंदिर में नहीं है बल्कि वह तुम्हारे भीतर है—

“मोको कहाँ ढूँढे बंदे मैं तो तेरे पास में।

ना मैं देवल, ना मैं मस्जिद, ना काबेकैलास में।”¹³

यहाँ कबीर एक तरह से मुस्लिम आक्रमण का भी विरोध करते हैं।

भक्ति आंदोलन को सांस्कृतिक नवजागरण की संज्ञा भी दी गई है। उत्तर भारत के सांस्कृतिक नवजागरण के अग्रदूत थे— रामानंद। उन्होंने देश के बिखरते और विषाक्त होते सांस्कृतिक एवं सामाजिक जीवन को संजीवनी भेंट दी। जाति-पाँति की दीवार को ढहा कर उन्होंने भक्ति का मार्ग सभी के लिए प्रशस्त किया। इससे समाज एवं संस्कृति की मृत होती हुई बौद्धिक तथा भावात्मक चेतना को नव्य जीवन मयस्सर हुआ। उन्होंने सभी को गले लगाया और राम नाम का मंत्र देते हुए सभी को समान लक्ष्य और समान निष्ठा के एक सूत्र में बाँध दिया। उनके ‘राम’ नाम के मंत्र ने सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार की भक्ति के लिए पथ प्रशस्त किया। इसीलिए उनकी शिष्य परंपरा में कबीर और तुलसी दोनों रहे। रामानंद ने राम नाम का जो बीज मंत्र शिष्यों को दिया, वह दो रूपों में प्रस्फुटित हुआ। कबीर पर लिखते समय द्विवेदी जी ने इस बात की ओर स्पष्ट संकेत किया है— “इसने दो रूपों का आत्मप्रकाश किया। पौराणिक अवतारों को केंद्र करके सगुण उपासना के रूप में और निर्गुण परब्रह्म जो योगियों का ध्येय था, उसे केंद्र करके निर्गुण प्रेम-भक्ति की साधना के रूप में। पहली साधना ने हिन्दू-जाति की बाह्याचार की शुष्कता को आंतरिक प्रेम से सींचकर रसमय बनाया और दूसरी साधना ने बाह्याचार की शुष्कता को ही दूर करने का प्रयत्न किया। एक ने समझौते का रास्ता लिया, दूसरी ने विद्रोह का; एक ने श्रद्धा को पथ-प्रदर्शक माना, दूसरी ने ज्ञान को; एक ने शास्त्र का सहारा लिया, दूसरी ने अनुभव का; एक ने सगुण भगवान को अपनाया, दूसरी ने निर्गुण भगवान को। पर प्रेम दोनों का ही मार्ग था; सूखा ज्ञान दोनों को अप्रिय था; केवल बाह्याचार दोनों को सम्मत नहीं थे; आंतरिक प्रेम-निवेदन दोनों को अभीष्ट था; अहैतुक भक्ति दोनों की काम्य थी; बिना शर्त के भगवान के प्रति आत्म-समर्पण दोनों के प्रिय साधन थे। इन बातों में दोनों एक थे।”¹⁴

समझौते का रास्ता न अपनाकर विद्रोह का रास्ता अपनाते हुए निर्गुण भक्ति की जो धारा भक्ति-आंदोलन की स्रोतस्विनी से फूटी, कबीर उसकी सबसे ऊँची लहर के साथ सामने आए। रामानंद से प्राप्त राम नाम के बीज मंत्र को उसकी समूची क्रांतिकारी व्यंजनाओं के साथ अपनी प्रखर तथा अनुभव सिद्ध वाणी से उन्होंने सातों द्वीपों एवं नवों खंडों तक बड़ी शिद्द से गुँजा दिया—

“भक्तीद्राविड़ऊपजि, लाए रामानंद।

परगटकरी कबीर ने सप्त दीप नौ खंड।”¹⁵

परंपरा से भक्ति साहित्य में उक्त दोहा प्रचलित रहा है। रामानंद भक्ति में जाति-पाँति, ऊँच-नीच के भेदभाव को स्वीकार नहीं करते थे। कबीर के पदों में भी जाति-पाँति, ऊँच-नीच के भेद का गहरा अस्वीकार है—

“छोति-छोति करता तुम्हहीं जाए। तौग्रभवास काहे को आए।।

जनमत छोतिमरत ही छोति। कहै कबीर हरि की निर्मल जोति।।”¹⁶

रामानंद भक्ति मार्ग से अपने ईश्वर तक पहुँचना चाहते थे। कबीर ने भी ईश्वर तक पहुँचने हेतु भक्ति

मार्ग का अनुसरण किया। द्विवेदी जी ने ठीक ही लिखा है- “उनके पहले उत्तराखंड में राम विष्णु के अवतार जरूर समझे जाते थे, पर ‘परात्परपरंब्रह्म’ नहीं माने जाते थे। इस त्रिगुणातीतमायाधीशपरंब्रह्म-स्वरूप राम की भक्ति को रामानंद ही ले आए। राम और उनकी भक्ति, ये ही रामानंद की कबीर को देन है। इन्हीं दो वस्तुओं ने कबीर को योगियों से अलग कर दिया, सिद्धों से अलग कर दिया, पंडितों से अलग कर दिया, मुल्लाओं से अलग कर दिया। इन्हीं को पाकर कबीर ‘वीर’ हो गए- सबसे अलग, सबसे ऊपर, सबसे विलक्षण, सबसे सरस, सबसे तेज!”¹⁷

कबीर राम-नाम के मर्म को जानने और पहचानने पर बल देते हैं। वे निर्गुण भक्ति के ऐसे प्रवक्ता थे जिन्होंने अपने राम को दशरथ-पुत्र से पृथक बताया -

“दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना।

राम नाम का मरम है आना।।”¹⁸

अद्वैत वेदांत के प्रणेता आदिगुरु शंकराचार्य के लिए संसार भ्रम था और उसमें जिस सत्यता का आभास होता था, वह माया थी। भक्ति के आदि आचार्य रामानुज ने जगत को ब्रह्म के भीतर ही माना और ब्रह्म को जड़ और चेतन (चित और अचित) दो विरोधी शक्तियों का योग बताया। दोनों स्त्रोतों के सम्मिश्रण से कबीर के विचार निर्मित हुए हैं। उनका दृष्टिकोण सामाजिक उथल-पुथल के भीतर से उभरने वाले जिस सत्य को लेकर चल रहा था, उसके लिए किसी एक दार्शनिक परंपरा या व्याख्या से बंधकर रहना असंभव था। इसीलिए तो द्विवेदी जी को यह कहना पड़ा- “पंडितों ने कहा है कि कबीरदास की भक्ति में सूफी साधना का प्रभाव है। उनकी प्रेम-विरह-संबंधी उक्तियों में इस प्रभाव का अस्तित्व दिखाया गया है। यह बात ठीक हो सकती है। यद्यपि कबीरदास के खुद के वचनों के बल पर कहा जा सकता है कि प्रेम-भक्ति का बीज उन्हें अन्यत्र से मिला था, पर सूफी साधकों से उनका प्रभावित होना असंभव नहीं है।”¹⁹

जब हम कबीर की कविताओं पर नजर दौड़ाते हैं तो उन सूफी संतों की याद आती है जो मनुष्य-मनुष्य के बीच प्रेम, मनुष्य और प्रकृति जगत के बीच प्रेम, मनुष्य और मनुष्येतर प्राणी के बीच प्रेम पर जोर देते थे। कबीर ने भी मनुष्य-मनुष्य के बीच प्रेम पर जोर दिया। उस समय जब समाज धर्म-भेद और जाति भेद से गहरा आक्रांत था तब कबीर ने इन दोनों भेदों को परे हटाते हुए हिन्दू और मुसलमान को प्रधानता न देकर मनुष्य को प्रधानता दी।

कबीरदास जब राम और रहीम की एकता की बात करते हैं, तो उनका मतलब है कि एक ही परमतत्व को राम और रहीम कह देने से वह दो नहीं हो जाएगी। राम-रहीम में एकत्व स्थापित करने के उनके आशय को द्विवेदी जी के शब्दों में देखा जा सकता है- “साधारण जनता, जो दार्शनिक विवाद की खबर कुछ भी नहीं रखती, जिस सर्वसामर्थ्य-युक्त परमात्मा में विश्वास करती है, वह एक ही है। उसके सृष्टि-रचना के प्रकार से कोई बहस नहीं है, सृष्टि और प्रकृति के साथ उसके संबंध को लेकर शास्त्रार्थ नहीं है, सही बात यह है कि नाम के बदलने से वस्तु नहीं बदल जाती।”²⁰

द्विवेदी जी ने कबीर के राम की नई व्याख्या प्रस्तुत की। उन्होंने कबीर के राम को योगियों के ‘द्वैताद्वैत विलक्षण समतत्व’ का समानार्थी मानते हुए लिखा है- “त्रिगुणातीत, द्वैताद्वैत विलक्षण, भावाभावविनिर्मुक्त, अलख, अगोचर, अगम्य, प्रेमपारावार भगवान को कबीरदास ने ‘निर्गुण राम’ कहकर संबोधन किया है। वह समस्त ज्ञान तत्वों से भिन्न है फिर भी सर्वमय है। वह अनुभवैकगम्य है, केवल

अनुभव से ही जाना जा सकता है। इसी भाव को बताने के लिए कबीरदास ने बार-बार ‘गुँगे का गुड़’ कहकर उसे याद किया। वह किसी भी दार्शनिक मानदंड से परे है, तार्किक बहस के ऊपर है, पुस्तकी विद्या से अगम्य है, पर प्रेम से प्राप्य है, अनुभूति का विषय है, सहज भाव से भावित है, यही कबीरदास का निर्गुण राम है।”²¹ यहाँ यह कहना ठीक होगा कि द्विवेदी जी ने कबीर को जिस तरह से पढ़ा और समझा, वैसा कदाचित् हिंदी के किसी अन्य आलोचक ने नहीं।

कबीरदास ने उस ‘निर्गुण राम’ के लिए राम के सगुण अवतारी कई नामों- बिठुला, गोविंद, माधव, केशव, हरि, राम आदि का प्रयोग किया है। आखिर कबीर के राम कौन हैं? इस प्रश्न का उत्तर कबीर-वाणी के प्रमाण के आधार पर द्विवेदी जी बड़ी श्रद्धा भक्ति से देते हैं- “कबीरदास ने स्पष्ट शब्दों में लोगों को सावधान किया है कि वह ब्रह्म व्यापक है, सबमें एक भाव से व्याप्त है, पंडित हो या योगी, राजा हो या प्रजा, वैद्य हो या रोगी, वह सबमें आप रम रहा है और उसमें सब रम रहे हैं।”²²

कबीरदास ने उस परमात्मा का अपने भीतर ही दर्शन कर लिया था, जिसे पाने के लिए लोग दर-बदर भटकते फिरते हैं। फिर भी मृगमरीचिका ही बनी रहती है। आत्मा में परमात्मा के साक्षात्कार से ही उनमें उस दिव्य शक्ति का आविर्भाव हुआ, जिसने उन्हें संशय रहित एवं भय-मुक्त कर दिया। परब्रह्म के आत्मा में ही दर्शन से उत्पन्न मस्ती और विश्वास का कारण उनकी ‘प्रेम-भक्ति’ है। यह प्रेम-भक्ति असाधारण है। द्विवेदी जी के शब्दों में- “प्रेम भक्ति का यह पौधा भावुकता की आँच से न तो झुलसता ही है और न तर्क के तुषारपात से मुरझाता है। वह हृदय के पाताल भेदी अंतस्तल से अपना रस संचय करता है। न आँधी उसे उखाड़ सकती है और न पानी उसे दबा सकता है। इस प्रेम में मादकता नहीं है पर मस्ती है, कर्कशता नहीं है पर कठोरता है। असंयम नहीं है पर मौज है, उच्छृंखलता नहीं है पर स्वाधीनता है, अंधानुकरण नहीं है पर विश्वास है, उजड़ता नहीं है पर अक्खड़ता है- इसकी प्रचंडता सरलता का परिणाम है, उग्रता विश्वास का फल है, तीव्रता आत्मानुभूति का विवर्त है। यह प्रेम वज्र से भी कठोर है, कुसुम से भी कोमल।”²³ कबीरदास का हृदय ‘प्रेम-भक्ति’ की मदिरा से मतवाला, परंतु ज्ञान के प्रकाश से संयमित एवं आलोकित था, जिसमें अंधश्रद्धा और प्रेमोन्मादजनित भावुकता के लिए कोई जगह नहीं था।

द्विवेदी जी लिखते हैं- “भक्त लोग भगवान को ज्ञान के द्वारा अगम्य मानते हैं, क्योंकि मनुष्य की शक्ति सीमित है, उसकी बुद्धि की दौड़ बहुत मामूली है। परंतु वे प्रेम से गम्य हैं, ‘ज्ञान के अगम्य तुम प्रेम के भिखारी हो।’ क्योंकि ज्ञान सब मिलाकर हमारी अल्पज्ञता को ही दिखा देता है। पर प्रेम सम्पूर्ण त्रुटियों को भर देता है।”²⁴ कबीर ज्ञान को लेकर बड़े किंतु वहाँ भी प्रेम है। सब जगह प्रेम की भाषा वे बोलते थे। कहीं-कहीं कबीर ऐसे शब्दों का प्रयोग करते थे कि सामने वाले को लगता था कि मैं अल्पज्ञ हूँ। ‘संतों भाई आई ज्ञान की आँधी रे।’ जिस तरह की भाषा कबीर बोलते थे, लगता है कि यह ज्ञान की बात है। यह बहुत ही व्याख्या सापेक्ष है कि न तो प्रेम के बिना ज्ञान परिपूर्ण होगा और न तो ज्ञान के बिना प्रेम चलेगा। यहाँ आचार्य रामचंद्र की वह बात स्मरण हो आती है कि ज्ञान प्रसार के भीतर ही भाव प्रसार होता है। बिना ज्ञान के भाव अर्थात् प्रेम भी नहीं रहेगा। ज्ञान में चक्र साधना की बात कबीर करते हैं, वहाँ आनंदलोक है तो ज्ञान को योग का उन्होंने सीढ़ी बनाया। ज्ञान के माध्यम से चढ़ करके भक्ति के उत्कर्ष पर वे पहुँचे। तो वह ज्ञान सीढ़ी है, ज्ञान साधन है, साध्य नहीं है। फिर तो हम उनकी कविता में आनंद ही नहीं पाते। यदि ज्ञान ही ज्यादा होता तो काव्यत्व झड़ जाता। यह जो ‘लाली मेरे लाल की’ है, इसमें प्रेम ही प्रेम है। कबीर राम से अपना संबंध प्रेम से बनाते हैं क्योंकि उसी में सुख है। सुख की तलाश हर कोई करता है। ज्ञान में सुख कहाँ है? ज्ञान से महज जानकारी हासिल होती है और केवल

प्रेम से अगम्य तक नहीं पहुँचा जा सकता है। इसीलिए तो आचार्य शुक्ल ने गोपियों के प्रेम को खारिज किया कि वह ज्ञान रहित है। उसको तो बोध ही नहीं है। न जाने कैसी प्रेमिका है कि रोजाना दही ले कर के मथुरा जाती है बेचने के लिए और रोज तड़पती है कान्हा के लिए। एक बार मिल क्यों नहीं ली? वहीं कान्हा बैठा हुआ है मथुरा में। उसे ज्ञान नहीं है। अतः दोनों का होना बहुत जरूरी है। कहने का आशय यह है कि ज्ञानहीन प्रेम खतरनाक होता है और प्रेम बिना ज्ञान के अधूरा है। द्विवेदी जी ने यह स्पष्ट किया है, “लोग कबीर आदि भक्तों को ज्ञानाश्रयी, निर्गुनिया आदि कहते हैं, वे प्रायः भूल जाते हैं कि निर्गुनिया होकर भी कबीरदास भक्त हैं और उनके राम वेदांतियों के ब्रह्म की अपेक्षा भक्तों के भगवान अधिक हैं। अर्थात् केवल सत्ता, केवल ज्ञानमयता से भिन्न व्यक्तिगत ईश्वर हैं। इसीलिए कबीरदास आदि भक्त ज्ञानी होते हुए भी प्रेम में विश्वास रखते हैं।”²⁵

प्रेम में जिंदगी के सारे सबूत होते हैं। प्रेम महज प्रक्रिया मात्र नहीं है। कबीर ने भक्ति के पदों में प्रेम का जो राग प्रस्तुत किया है उसका सलोना रंग हम देख सकते हैं—

*“हमन है इश्क मस्ताना, हमन को होशियारी क्या।
रहें आजाद या जग से, हमन दुनिया से यारी क्या।
जो बिछुड़े हैं पियारे से, भटकते दर-बदर फिरते।
हमारा यार है हम में, हमन को इंतजारी क्या।”²⁶*

संत कवियों ने भक्ति के लिए प्रेम को अनिवार्य और समस्त भावों से ऊपर माना है। प्रेम ईश्वर प्राप्ति के लिए भी जरूरी है और मानवता के कल्याण के लिए भी। क्योंकि ईश्वर महजसत्-चित्त नहीं बल्कि आनंद स्वरूप भी है।

हिंदी साहित्य का भक्तिकाल साहित्यिक महत्व की दृष्टि से ‘स्वर्णयुग’ के नाम से मशहूर है। इस युग के स्वर्णिम आकाश में कई सितारे एक साथ चमकते हुए नजर आए। भक्ति की जो मंदाकिनी अबाध गति से बह रही थी, उसमें कई भगीरथों का बहुमूल्य योगदान था, जिसमें लाखों-करोड़ों श्रद्धालु डुबकी लगाकर कृतार्थ हो गए। किंतु इस भक्ति की मंदाकिनी में जो भक्त साक्षात् पतितपावनी गंगा के रूप में उभर कर दृष्टिगोचर हुआ और जिसने मिथ्याचारों के पापों को धोकर सत्य को धर्म के रूप में मानव-जीवन में प्रतिष्ठापित करने का क्रांतिकारी ऐतिहासिक कार्य किया, वह एकमात्र असाधारण व्यक्तित्व था— कबीरदास। कबीर की अखंड आत्मनिष्ठा को देखकर द्विवेदी जी को कहना पड़ा, “उनकी अखंड आत्मनिष्ठा में एक क्षण के लिए भी दुर्बलता नहीं दिखाई दी। वे वीर साधक थे, और वीरता अखंड आत्मविश्वास को आश्रय करके ही पनपती है। कबीर के लिए साधना एक विकट संग्रामस्थली थी, जहाँ कोई विरला शूर ही टिक सकता था। जिसे अपने सिर को उतारकर देने की कला नहीं आती, वह इस मार्ग का राही नहीं बन सकता। कबीर जिस साई की साधना करते थे, वह मुफ्त की बातों से नहीं मिलता था। उस राम से सिर देकर ही सौदा किया जा सकता था।”²⁷ द्विवेदी जी को पूर्ण विश्वास है कि कबीरदास की साधना कभी न कभी इस संसार के मानव-जीवन में फलीभूत होगी क्योंकि न तो उनकी साधना का लोप हुआ है और न ही वह खो गई है। उसके बीज इस धरती के गर्भ में आज भी सुरक्षित हैं। जब कभी उनकी साधना की फसल लहलहायेगी, मानवता की सुगंध से वसुधा का सम्पूर्ण वायुमण्डल सुगंधित होकर सुगंध फैलाएगा।

आज कबीर की आलोचना पर जो घटाटोप मचा हुआ है उसे देखकर यही लगता है कि यह आलोचना का संकट है न कि रचना का। अगर द्विवेदी जी से कुछ शब्द उधार लेकर कहा जाए तो कबीर की रचना

उनके मूलतः भक्त होने का प्रमाण देती है, जबकि आलोचक उन्हें कुछ और ही सिद्ध करने में लगे हुए हैं और इसी में वे आनंद भी पाया करते हैं। हकीकत यह है कि कबीर सच्चे अर्थों में मूलतः भक्त हैं और उनकी समस्त रचनाओं का उत्स भक्ति ही है।

संदर्भ:

1. द्विवेदी, आचार्य हजारीप्रसाद, 'कबीर', राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 16वीं आ. : 2010, पृ. 119
2. वही, पृ. 85
3. वही, पृ. 72
4. वही, पृ. 73
5. द्विवेदी, हजारीप्रसाद, 'हिंदी साहित्य उद्भव और विकास', राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, चौथी आवृत्ति : 2000, पृ. 79
6. दास, श्यामसुंदर (संपा.), 'कबीर ग्रंथावली' रवि प्रकाशन, संस्करण : 2009, पृ. 86
7. वही, पृ. 180
8. वही, पृ. 132
9. वही, पृ. 132
10. वही, पृ. 133
11. शुक्ल, आचार्य रामचंद्र, 'हिंदी साहित्य का इतिहास', नागरीप्रचारिणी सभा, वाराणसी, पेपरबैक संस्करण : पंचम, संवत् 2067 वि., पृ. 34
12. द्विवेदी, आचार्य हजारीप्रसाद, 'हिंदी साहित्य की भूमिका', राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण : 2008, पृ. 16
13. दास, श्यामसुंदर (संपा.), 'कबीर ग्रंथावली' रवि प्रकाशन, संस्करण : 2009, पृ. 58
14. द्विवेदी, आचार्य हजारीप्रसाद, 'कबीर', राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, 16वीं आवृत्ति : 2010, पृ. 139-140
15. तिवारी, डॉ. पारसनाथ, 'कबीर वाणी-सुधा', राका प्रकाशन, इलाहाबाद, 1975, पृ. 78
16. दास, श्यामसुंदर (संपा.), 'कबीर ग्रंथावली', रवि प्रकाशन, संस्करण : 2009, पृ. 51
17. द्विवेदी, आचार्य हजारीप्रसाद, 'कबीर', राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 16वीं आवृत्ति : 2010, पृ. 113
18. दास, श्यामसुंदर (संपा.), 'कबीर ग्रंथावली', रवि प्रकाशन, संस्करण : 2009, पृ. 37
19. द्विवेदी, आचार्य हजारीप्रसाद, 'कबीर', राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 16वीं आ. : 2010, पृ. 111
20. वही, पृ. 112
21. वही, पृ. 105
22. वही, पृ. 101
23. वही, पृ. 130
24. वही, पृ. 140
25. द्विवेदी, आचार्य हजारीप्रसाद, 'हिंदी साहित्य की भूमिका', राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, संस्करण : 2008, पृ. 86
26. द्विवेदी, आचार्य हजारीप्रसाद 'कबीर', राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली, 16वीं आ. : 2010, पृ. 127
27. वही, पृ. 128



मैला आँचल आज भी मैला

○ कुमार भास्कर

रेणु ने जिस बिहार के गाँव को लेकर 'मैला आँचल' लिखा था, उसकी प्रासंगिकता आज भी निरंतर बनी हुई है। जाति, राजनीति, भ्रष्टाचार, गरीबी इत्यादि की वजह से हुई बदहाली, उपन्यास लिखे जाने के इतने अर्से बाद भी बिहार के गाँव का आँचल मैला ही है। निःसंदेह उपन्यास का कथानक बिहार के गाँव से जुड़ा है, लेकिन भाव के स्तर पर हिंदुस्तान के ज्यादातर गाँव को प्रतिबिंबित करता है। आंबेडकर गाँव के बारे में कुछ ऐसा सोचते थे- "गाँव में हिंदू समाज-व्यवस्था का पूरा-पूरा पालन होता है। जब कभी कोई हिंदू भारतीय गाँवों का जिक्र करता है, तो वह उल्लास से भर उठता है। वह उन्हें समाज-व्यवस्था का आदर्श रूप मानता है। उसकी यह पक्की धारणा है कि संसार में इसकी कोई तुलना नहीं।... इसका अनुमान भारतीय संविधान सभा के हिंदू सदस्यों के धुआँधार भाषणों से लगाया जा सकता है, जो उन्होंने अपने इस मत के समर्थन में दिए थे कि भारतीय संविधान में भारतीय गाँवों को स्वायत्त प्रशासनिक इकाइयों के संवैधानिक पिरामिड के आदर्श के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए, जहाँ उनकी अपनी-अपनी विधायिका, अपनी कार्यपालिका, अपनी न्यायपालिका होती है।... शुक्र है कि संविधान सभा ने इसे स्वीकार नहीं किया।"²

आम्बेडकर गाँव की उस प्रचलित मिथकीय आदर्शवादी अवधारणा को तोड़ते हैं। साहित्य में आगे चलकर, गाँव की परिकल्पना 1936 के गोदान में आदर्शवादी विचार से आगे यथार्थवादी रूप में दिखता है। आधुनिक समझ के सहारे गोदान ने आदर्शवादी ढाँचे को तोड़ कर रख दिया था। गाँव की सहजता, प्रकृति और परंपरावादी छवि के पीछे जो मैलापन है, उसकी अभिव्यक्ति को 'मैला आँचल' और भी साफ कर देता है। गाँधीवाद के प्रभाव से गाँव को और भी ज्यादा आदर्शवादी रूप से देखा गया। जिससे गाँव के कटु सत्य को उजागर करने में समय लगा। सांस्कृतिक विरासत के रूप में गाँव, किताबी दुनिया की समझ में रमणीय रूप में उपस्थित थे। सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का नाटक 'बकरी' भी गाँधीवादी आदर्श और ग्रामीण अंचल की पॉपुलर अवधारणा को तोड़ देता है। गाँव के प्रति हमने जो राय बना रखी है उसका भ्रम इतना कुछ लिखे जाने के बाद भी आत्महत्या, गरीबी, जातिवाद, अंधविश्वास, कर्मकांड, हिंसा इत्यादि का भ्रम बना हुआ है। 'मैला आँचल' उस अंचल को समानुपातिक तरीके से पेश करता है। जिसमें अच्छे और बुरे दोनों पहलुओं का यथार्थवादी वर्णन है।

उपन्यास में डॉ. प्रशांत अपने अनुभवों से यह समझ पाते हैं कि गाँव की बदहाली के दो रोग हैं - "गरीबी और जेहालत- इस रोग के दो कीटाणु"³। आज भी बिहार इस रोग से इतना ग्रसित है कि पलायन और भूमिहीन किसानों की समस्या बहुत ज्यादा बढ़ चुकी है। इसी 'मैला आँचल' में कुछ नारे सुनाई देने लगते हैं। जिनमें कहा जा रहा है-

“कमाने वाला खाएगा, इसके चलते जो कुछ हो। किसान राज, कायम हो।

मजदूर राज, कायम हो।”³

मैला आँचल की पंक्तियाँ लगातार आज भी हमें उसी तरह चिढ़ाती हैं, व्यंग्य करती हैं और अपनी भाषा की शक्ति से आज के हिंदुस्तान की राजनीति को लगातार झकझोरती हैं। मजदूरों के प्रति रवैया पहले तो जो था सो था ही। आज कोरोना महामारी के दौर में उस बचे खुचे भ्रम को भी तोड़ देता है, जिनका दिखावा राजनीतिक पार्टियाँ और नेता करते हैं। महामारी की त्रासदी में मजदूर, सरकारों की चिंता में आखिरी पायदान पर है। अपनी सुविधा के लिए मजदूरों के हक के लिए बने कानून में कटौती की जा रही है। 1936 के गोदान में किसान से मजदूर बन जाने की समस्या, तो उससे आगे 1954 का ‘मैला आँचल’ के भूमिहीन किसान और संचाल आदिवासियों की समस्या, वहीं 1953 में बिमल रॉय की फिल्म ‘दो बीघा जमीन’ में शम्भू किसान की समस्या को देखें तो ऐसा लगता ही नहीं की 2020 के किसानों के बीच बहुत कुछ बदला हो। एक धीमा परिवर्तन तो आया है लेकिन पंचवर्षीय योजनाओं के लाभ से हुए बदलाव में पंजाब, हरियाणा की तुलना में कहीं पीछे है यह अंचल।

आजादी के बाद वोट बैंक की राजनीति की वजह से गाँव उभर कर आता है। गाँव के प्रति गाँधीवादी प्रभाव की वजह से एक आकर्षण गाँव के प्रति सबका पैदा होता है। लेकिन धीरे-धीरे उसके प्रति मोहभंग की स्थिति भी आती है। जो राजनीति और समाज के धरातल पर दिखने लगती है। जिस तरीके से आजादी के बाद एक संगठित रूप में जिस राष्ट्र की अवधारणा की गई, उसमें सामूहिकता का भाव मौजूद था। निःसंदेह जातिवादी, क्षेत्रवादी और असमानता की राजनीतिक वजह से समूह की, सामूहिकता की भावना टूटती है। लेकिन हमारा यह मान लेना कि गाँव आजादी के बाद ऐसे हो गए, यह कहना गलत होगा। गाँव पहले से ही ऐसे थे, अब इसमें एक नई तरह की राजनीति का समावेश हुआ है। जो आजाद भारत के गाँव की राजनीति थी। एक अंचल की सांस्कृतिक जीवन-पद्धति और परंपरा-भाषा यहाँ के मौजूद चरित्रों की बनावट को पेश करती है। जिससे वह गाँव हमें सजीव महसूस होता है। प्रेमचंद ने भारतीय किसानों के जिस दुख को पेश किया था, जहाँ किसान से मजदूर बन जाने की, जाति, सामंती, पूंजीवाद इत्यादि की समस्या मौजूद थी। उसी परंपरा में रेणु आते हैं जो समस्या को और ज्यादा गहराई से खंगाल कर देखते हैं। रेणु के इस गाँव मेरीगंज के सामाजिक जीवन का आधार जाति है – इन जातियों में राजपूत, ब्राह्मण, कायस्थ और यादव प्रमुख रूप से हैं। सारे मेरीगंज में जातिवाद का बोलबाला इतना अधिक है कि मोहल्ले के नाम भी जातियों पर विभाजित हैं और हर किसी ने अपनी-अपनी सोच उससे जोड़ी हुई है। देखा जाए तो हिंदुस्तान के गाँव में अमूमन इसी तरह की बसावट देखने को मिलती है, जो जातियों के इर्द-गिर्द बुनी हुई होती है। हर जातियों का अपना-अपना नेता है। वस्तुतः मेरीगंज गाँव देश के गाँवों का प्रतिबिंब पेश करता है। जो जातियों और उप-जातियों तथा वर्गों में विभक्त है। रेणु लिखते हैं कि “अब गाँव में तीन प्रमुख दल हैं –कायस्थ, राजपूत और यादव। ब्राह्मण लोग अभी भी तृतीय शक्ति हैं। गाँव के अन्य जाति के लोग भी सुविधानुसार इन्हीं दलों में बँटे हुए हैं।”³

उपन्यास में बताया गया है कि मेरीगंज में ब्राह्मणों के कुल मिलाकर दस घर हैं, उसके बावजूद अपनी चालाकी की वजह से ब्राह्मण गाँव की तीसरी शक्ति बने रहने के प्रयत्न में हैं। वहीं उपन्यास में एकबार राम कृपाल सिंह ने टहलु पासवान के गुरु को घोड़ी चढ़ने के अपराध में घोड़ी से नीचे गिरा कर जूतों से पीटते हुए कहा कि “साला दुसाध घोड़ी पर चढ़ेगा”³

गुजरात, यूपी और देश के विभिन्न हिस्सों में घोड़ी पर चढ़ने वाली घटनाओं की आज भी भरमार है। गाँव की मानसिकता में जातिवाद आज भी इतनी गहराई से मौजूद है कि उसका रिफ्लेक्शन देखने को मिलता रहता है।

उपन्यास में गाँव के ब्राह्मण, राजपूत और कायस्थों के बीच एक जातीय समझ है, जो यादवों की बढ़ती शक्ति को बर्दाश्त नहीं कर पाते और नए बदलाव को लेकर स्वीकार्यता नहीं है। ज्योतिषी जी कहते हैं, “यादव लोग बार-बार लाठी-भाला दिखाते हैं, यह राजपूतों के लिए डूब मरने की बात है।”³ जातीय भावना से प्रेरित भड़काऊ वक्तव्य कहीं न कहीं निम्न या पिछड़ी जातियों के उभार को लेकर उच्च जाति के अहं को जो चुनौती मिल रही है, यह उसको दर्शाता है। बालदेव और कालीचरण यादव जाति के चरित्र हैं। बालदेव सुराजी होने के कारण यादव समाज को बढ़ाता है। वहीं कालीचरण सोशललिस्ट के साथ सामाजिक परिवर्तन के लिए आंतरिक रूप से समर्पित है। ऐसे में वो एक दिन चमार टोली में जाकर भात खाता है। यह वह दौर है जब निम्न और पिछड़ी जातियों में आत्मसम्मान की भावना को उभार लोकतांत्रिक, राजनीतिक परिवर्तन के कारण मिलना शुरू होता है। जिसके परिणाम स्वरूप आज अंचलों में पहले की तुलना में काफी परिवर्तन देखने को मिलता है। गोदान की तरह यहाँ भी पिछड़ी जातियों के संघर्ष को ज्यादा वरीयता मिली है। कारण शायद यह भी हो कि किसानों और भूमिहीन किसानों की जातीय आबादी में पिछड़ी जातियों की जनसंख्या ज्यादा है। दलित समाज तो किसानों की व्यवस्था से आज की तुलना में, उस दौर में परे था। ऐसा लगता है कि या उपन्यास आज की स्थितियों का वर्णन कर रहा है। उपन्यास का केंद्र जिस पूर्णिया, मेरीगंज को लेकर लिखा गया है। वह कोसी क्षेत्र में आता है और उस कोसी क्षेत्र में पलायन की समस्या और भी ज्यादा गंभीर है। आज भी कटाई और बुवाई के समय मजदूर नहीं मिलते हैं। ज्यादातर लोग पलायन कर चुके हैं। भूमिहीन मजदूरों की समस्या आज भी यथावत बिहार में उतनी ही ठोस तरीके से मौजूद है जिसकी चर्चा रेणु कभी '54 में कर रहे थे। उस समय का सामाजिक न्याय विधान इन गरीबों के पक्ष में नहीं खड़ा है। ऐसे में गरीबी के बीच अंधविश्वास पनपना भी स्वाभाविक है। जब शिक्षा का प्रसार नहीं होगा गरीबी दूर नहीं होगी। तो ऐसे में अंधविश्वास भी उसी अनुपात में बढ़ेगा। फिर यही अंधविश्वास और कर्मकांड गाँव की जिंदगी का एक पहलू बन जाता है। उपन्यास में गणेश की नानी गाँव वालों को डायन लगती है, गाँव की कुंवारी लड़कियों पर जिन आता है। ऐसे ही न जाने कितने भ्रम और अंधविश्वास उस समाज में प्रचलित हैं। उदाहरण के तौर पर झारखंड में सबसे अधिक डायन के नाम पर हत्याएँ हुई हैं। यही झारखंड एक समय बिहार में भी शामिल था। जैसे हर चीज के दो पहलू होते हैं। उसी के आधार पर मेरीगंज की राजनीति में भी सकारात्मक और नकारात्मक दो पहलू हैं। ‘मैला आँचल’ की राजनीति का सबसे अहम और सकारात्मक पहलू यह है कि सदियों से प्रताड़ित शोषित जनता को अपने अधिकार का ज्ञान होता है। यह ज्ञान नई सोच-विचारों के राजनीतिक प्रभाव के कारण आता है। जिसके प्रभाव में आकर कालीचरण कहता है, “जिसने तीन साल तक जमीन को जोता बोया है जमीन उसी की होगी।”³

देखा जाए तो राजनीति की चेतना गाँव वालों के बीच पहुँचती है। उन्हें अपनी शक्ति का और अपने अधिकारों का ज्ञान होता है। जिसकी वजह से कहीं न कहीं जाति बंधन ऊपरी स्तर पर टूटने शुरू हो जाते हैं और इसी बहाने गाँव को देश की केंद्रीय राजनीति से परिचित होने का अवसर मिलता है। देश के बड़े-बड़े नेताओं के माध्यम से राजनीतिक शब्दों का ज्ञान होता है। इंकलाब जिंदाबाद को गाँव के लौंडे “इनकिलास जिन्दा बाघ”³ कहते हैं। रेणु ने गाँव में छिपी जनशक्ति को उभारा है। ऐसी जनशक्ति

है जो परिवर्तन कर सकती है। डॉक्टर रामविलास शर्मा कहते हैं कि “मैला आँचल का एक महत्वपूर्ण पक्ष है जो उसे प्रेमचंद की परंपरा से जोड़ता है बहुत कम उपन्यासों में पिछड़े हुए गाँव के वर्ग संघर्ष का वर्ग शोषण और वर्ग अत्याचारों का ऐसा जीता जागता चित्रण मिलेगा यह उसका सफल पक्ष है”¹ लेकिन इसमें वर्ग के साथ-साथ जाति को भी जोड़ा जाना जरूरी है। जाति को लेकर भी गाँव के अंतर्मन के धागों को रेणु ने बखूबी खोल कर रख दिया है। ‘मैला आँचल’ की पृष्ठभूमि में उम्मीद और बदलाव की छाप देखी जा सकती है। गाँव में डॉक्टर का आना, किसानों को दफा 40 की जानकारी होना, चरखा सेंटर खोलना और राजनीतिक दलों के कार्यकर्ताओं के प्रयास से जनता का अपने अधिकारों की पहचान होना। यह नए सामाजिक बदलाव को भी व्यक्त करता है। लेकिन समस्या यह है कि यह बदलाव जिस गति से होने चाहिए थे वह हुए नहीं। बदलाव की लहर किसी जुमले की तरह आता है और फिर वापस चला जाता है। विकास की स्थिति टिक ही नहीं पाती। लेकिन गाँव की नकारात्मक राजनीति, सकारात्मक राजनीति पर हमेशा हावी रही। दफा 40 भूमिहीनों और बटाईदारों को जमीन पर हक दिलाने वाला कानून है। जिसकी वजह से न्याय की एक उम्मीद जगी थी। लेकिन सिस्टम में थोड़ी भी कमी हो तो कानूनी दौंवपेंच का फायदा उठाकर बड़े लोग काम अपने अनुकूल कर जाते हैं। उसी तरह यहाँ भी दफा 40 को लागू करने के लिए जितने भी हाकिम/अधिकारी नियुक्त हुए वह या तो जमींदार थे या जमींदार/बड़े किसान के बेटे थे। ऐसे में जमींदार पुत्र हरगौरी तहसीलदार गुस्से में कहता है- “साले सब चुपचाप दफा-40 का दरखास्त देकर समझते थे कि जमीन नकदी हो गयी। अब समझो। बौना और बालदेव से जमीन लो। सब सालों से जमीन छुड़ा लेने को कहा है मैनेजर साहब ने। लो जमीन। राम नाम की लूट है।... अरे कांग्रेसी राज है तो क्या जमींदारों को घोल कर पी जाएगा।”²

भाषण, जुमलेबाजी और लफ्फेबाजी तब से लेकर आज तक की राजनीतिक नेताओं की विशेषता बनी हुई है, जो अपने वक्तव्य की कला में माहिर होते हैं और अपनी बुद्धि और कला के मिश्रण से पिछड़ी हुई जनता का समर्थन प्राप्त करते हैं। कई बार तो यह सही होता है, लेकिन ज्यादातर इसकी भावना सिर्फ शक्ति प्राप्ति की होती है। ‘मैला आँचल’ में भी पार्टियों के रवैयें में और उसके क्रियान्वयन के बीच यह भाषाई लफ्फेबाजी का फर्क कई बार देखने को मिलता है।

उपन्यास में कांग्रेस की तरह सोशलिस्ट पार्टी का भी पतन होता दिखाया गया है। जैसे कांग्रेस में पूँजीपति और भूमिपति घुसते हैं तो, सोशलिस्ट पार्टी में डकैतों और खूनियों का प्रवेश होता है। नेताओं को विश्वास है कि वह अपराधियों की सहायता से जमींदारों को ठीक कर सकते हैं। समाजवादी नेताओं की पहचान उनकी वेशभूषा से होने लगी है। उपन्यासकार ने बड़े संतुलित तरीके से राजनीतिक पार्टियों के नैतिक और सैद्धांतिक पतन का चित्रण किया है। इसके बावजूद उपन्यास पाठकों के स्व-विवेक पर यह छोड़ता है असमानता की इस लड़ाई में, परिस्थितियों के अनुसार क्या जायज है? इसकी पड़ताल स्वयं कर ले। सोशलिस्ट पार्टी भी शुरुआती दौर से जातिवाद के आधार पर अपनी पार्टी का संगठन करना चाहते हैं और वे कॉमरेड गंगा प्रसाद सिंह यादव को मेरीगंज में संगठन के काम देखने के लिए भेजते हैं क्योंकि वहाँ यादवों की संख्या ज्यादा है। भारतीय राजनीति की जातिवाद में परिणति की मानसिकता मैला आँचल प्रतीक बन गया है। इसके बावजूद भी सवाल तो यह पैदा होता है कि ऐसी परिस्थिति में रास्ता क्या निकलेगा भूमिहीन, मजदूरों, कमजोर और निम्न जाति के लोगों की फरियाद कौन सुनेगा। तो ऐसी स्थिति में सोशलिस्ट की भूमिका ज्यादा वास्तविक और सकारात्मक नजर आती है। द्वंद्वत्मकता में ही सही लेकिन कुछ संभावनाओं के साथ सोशलिस्टों का जमीनी स्तर पर जुड़ाव मैला आँचल में देखने को मिलता है।

वह भाषणबाजी हो सकता है लेकिन उसके बावजूद उपन्यास में वास्तविक रूप में एक सामाजिक हलचल को अंजाम देता है। इसके विपरीत दूसरी ओर राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के नेता इस मत का प्रचार करते हैं कि “आर्यावर्त में केवल आर्य अर्थात् शुद्ध हिंदू ही रह सकते हैं”³

कमाल की बात यह है कि मेरीगंज में मुस्लिम आबादी नहीं है, फिर भी यहाँ राजनीति में धर्म आ जाता है। मेरीगंज का नाम आर्यवर्त करने की बात चलती है- “आरजावर्त !- मेरीगंज का ही नाम अब शायद आरजावर्त हो गया है।”³ नाम परिवर्तन जैसे सांस्कृतिक प्रतीकों को आज भी हम देख सकते हैं। चूंकि समस्या यह है दक्षिणपंथ, समाज के परंपरागत फार्मूले को बनाए रखना चाहता है। ऐसे में हिंदू-मुस्लिम के सांप्रदायिक खेल को खेलता रहता है। कालीचरण सांप्रदायिक दंगों की संभावना से विचलित होकर सुराजी कीर्तन याद करता है “अरे, चमके मंदिरवा में चाँद मसजिदवा में बंसी बजे”³ उपन्यास सांप्रदायिकता की उस ऐतिहासिक कड़ी को दिखाता है जहाँ जाति को धर्म की आड़ में रखकर सम्प्रदायिकता की राजनीति की जाती रही है। जिसको आजाद भारत के पहले और बाद की स्थिति से समझ सकते हैं। उसी राजनीति का एक हिस्सा मैला आँचल में भी देखने को मिलता है। आज के भारत में उस सांप्रदायिकता का कड़ी दर कड़ी उभार कितना विस्फोटक है, यह हमारे सामने दिल्ली दंगे के रूप में मौजूद है। कालीचरण जैसा चरित्र जो ईमानदारी से जाति और सांप्रदायिकता के भेद को खत्म करने की चाह रखता है ऐसे लोगों को हमारा सामाजिक सिस्टम अनुचित मानता है।

मठ के महंत सेवादास धर्म की आड़ में उन धर्मगुरुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं जो अपनी कामवासना की पूर्ति के लिए लक्ष्मी को अपनी दासी बना लेते हैं। आज भी कई धर्मगुरुओं की इन करतूतों को देख सकते हैं। अब बस इतना ही अंतर है कि धार्मिक मठों के साथ-साथ सरकारी और गैर-सरकारी मठ निर्मित हो गए हैं। जहाँ बच्चियों का शोषण होता है। यूपी (कानपुर) और बिहार (मुजफ्फरपुर) के सरकारी सेल्टर होम का उदाहरण हमारे सामने मौजूद है। उपन्यास जातिवादी समूह की लड़ाई धीरे-धीरे वर्ग समूह में तब्दील हो जाती है यादव और संधाल, सोशलिस्ट पार्टी के अंदर कालीचरण के साथ एक लड़ाई लड़ते हैं। संधालों द्वारा किया जाने वाला विद्रोह और उसके खिलाफ सामंतों की एकजुटता जिसमें अंततः संधालों की पराजय, भारतीय राजनीति के सामाजिक संघर्ष में समानता के ऊपर शक्ति को विजयी दिखाता है। मैला आँचल में आदिवासियों का विद्रोह आभासी रूप में ही सही, जो आगे चलकर, होने वाले नक्सलबाड़ी आंदोलनों की झलक दिखलाता है। देखा जाए तो उपन्यास में आर.एस.एस. में उच्च जाति के लोग उसका प्रतिनिधित्व करते हैं और दूसरी ओर सोशलिस्ट पार्टी है उसमें पिछड़े और निम्न जाति के लोग उसका प्रतिनिधित्व करते हैं। जाति का यह बंटवारा विचारधारा कि सामाजिक बनावट को प्रदर्शित करता है। अमूमन कुछ इसी तरह आज भी हम देख सकते हैं। एक तरफ कालीचरण है जो जमीनी स्तर पर जुड़ा हुआ है और वही बालदेव है जो समाजवादी तो है, लेकिन इच्छाशक्ति और हिंसा का भय उसके मन में इतना व्याप्त है कि वह मुखर होकर कुछ नहीं कर पाता। बस बड़े नेताओं की बातों को अपनी जुबान में अभिव्यक्त करता रहता है और तीसरी तरफ हिंदू संगठन के रूप में आर.एस.एस. का उभार है जो संस्कृति की राजनीति के बहाने जातिवाद को भी प्रश्रय देता है। जो दिखाता तो नहीं लेकिन उसके भीतर मौजूद है। आज भी हम देखें तो अमूमन मुद्दों पर स्टैंड ना लेने वाले लोग और दूसरी ओर राष्ट्रीय संस्कृति के नाम पर राष्ट्रवादी विज्ञापन करने वाले लोग, आज ज्यादा समर्थ और सफल राजनीतिज्ञ साबित हुए हैं। जो जमीनी स्तर पर जुड़े हुए बुनियादी सवाल को लड़ने वाले नेताओं के बनिस्पत ज्यादा कामयाबी से देश-समाज को प्रभावित कर रहे हैं।

मैला आँचल का गाँव इंसानी हस्तक्षेप से बदलता हुआ गाँव है। इसमें कुछ भी दैवीय नहीं है। यह हस्तक्षेप आजाद भारत की राजनीति को दिखाता है। जिसमें गाँव में हो रही हलचल किस तरह से अपने आप को हिंदुस्तान की राष्ट्रीय राजनीति से धीरे-धीरे जोड़ने लगती है। गोपाल राय कहते हैं कि “रेणु ने बिहार के एक पिछड़े हुए अँचल को आधार बनाकर भारतीय जीवन के व्यापक दैन्य, शोषण और पिछड़ेपन के साथ-साथ करवट लेती हुई राजनीतिक चेतना का अंकन किया है।”

देखा जाए तो मैला आँचल जाति, किसान, धर्म, राजनीति की जिस सोच को लेकर उस दौर में अपनी अभिव्यक्ति कर रहा था, कुछ उसी तरह उन्हीं बुनियादी सवालों के साथ आज भी यह बरकरार है। कुछ स्थितियाँ परिवर्तित तो जरूर हुई हैं। रेणु ने उन स्थितियों के परिवर्तन की संभावना को खोजने की कोशिश की है। भले ही वह पूरी तरह से कामयाब ना हुई हो, उसके बावजूद समस्या को देखने की दृष्टि आज भी उपन्यास जरूर देता है। दुनिया की दो बड़ी क्रांतियों में से फ्रांस और रूसी क्रांति का भी उदाहरण लें उन क्रांतियों का महत्व उसकी कामयाबी में जुड़ा था। इन सारी क्रांतियों में मजदूरों और किसानों की सांगठनिक भूमिका देखने को मिलती है। क्रांति की दिशा हिंदुस्तान में कैसे अपनाई जाए और उसकी बाधाएँ किस तरह की हैं मैला आँचल उपन्यास उन बाधाओं को समझने की प्रेरणा देता है और क्रांति के नेतृत्व और संभावना को सकारात्मक ढंग से पेश करता है।

संदर्भ :

1. मैला आँचल, पुनर्पाठ/पुनर्मूल्यांकन, संपादक- परमानन्द श्रीवास्तव
2. अस्पृश्यता- उसका स्रोत, डॉ. भीमराव आंबेडकर
3. मैला आँचल, फणीश्वरनाथ रेणु



रेणु के रिपोर्ताज में बिहार का सामाजिक यथार्थ

○ जितेन्द्र कुमार यादव

फणीश्वरनाथ रेणु का हिन्दी साहित्य में विशिष्ट स्थान है। खासतौर से आंचलिक उपन्यासों और कहानियों का सृजन कर उन्होंने हिन्दी कथा साहित्य में एक नई धारा का सूत्रपात किया। रेणु का लेखन उत्तर बिहार और नेपाल के इर्द-गिर्द घूमता है। 'मैला आंचल', 'परती परिकथा' तथा 'नेपाल क्रांतिकथा' आदि रचनाओं में यहाँ के सामाजिक जीवन की अभिव्यक्ति हुई है। रेणु के लेखन में कृषि आधारित सामाजिक जनजीवन का यथार्थ है। कथा साहित्य के अलावा बतौर एक पत्रकार रेणु अपनी रपटों में किसान-मजदूरों के सामाजिक आर्थिक यथार्थ को प्रस्तुत करते हैं। गरीबी अभिशाप है और इस अभिशाप जीवन जीने वालों की पीड़ा-व्यथा और उनकी परेशानियों को रेणु ने न सिर्फ देखा है अपितु उस पीड़ा को भोगा भी है। मजदूरों का रक्त चूसने में सिर्फ सेठ-साहूकार ही नहीं जमींदार भी आगे हैं। मजदूर उनके यहाँ सारा जीवन काम करता है और बदले में जमींदार के जूते खाते-खाते उसके पीठ की चमड़ी मोटी हो गई है। उसके जीवन के सारे हर्ष-उल्लास, रंग-उत्सव कर्ज और बेगारी की धूनी में स्वाहा हो जाते हैं। कर्ज और पेट भरने की व्यथा उसके दिलों-दिमाग में इस प्रकार पैठ चुकी है कि 'विदापत नाच' नाचते समय भले ही वह अपने को परदेशी साजन बताता है किन्तु वह यह नहीं भूल पाता कि वह एक मुसहर है जो अथक परिश्रम करके भी पेट की अग्नि को नहीं बुझा पाता। पेट की आग दिन भर मेहनत करने के बाद भी नहीं बुझती तब उसे घर छोड़ परदेश जाना पड़ता है। गरीबों का भरण-पोषण प्रकृति पर निर्भर होता है। सूखा अकाल की सूचना है जो गरीब किसान को घर छोड़ने के लिए मजबूर कर देता है-

“नहीं बरसात अदरा (आद्रा नक्षत्र) नहीं अशरेंस
चारों दिश देखैछि बुढ़ियाक केश
माछ काछू सब गेल पताल
अबकि पड़त सखि महा अकाल
दिन भर खटि के एक सेर धान
एकरा से कैसे बचत परान
छोड़-छोड़ सजनि जाइछि विदेश...।”

अकालग्रस्त लोगों की वेदना को रेणु ने अनुभव किया और उसकी मार्मिकता का चित्रण किया। अन्न के अभाव में लोगों की शक्ति घट रही है, बच्चे भूख से व्याकुल हैं। लेखक गाँव-गाँव घूमकर लोगों की व्यथा को सुनता है। उनकी व्यथा इतनी मार्मिक होती है कि सारी मानवता इस घरे में अपराधी नजर आती है। प्राकृतिक आपदा केवल गरीब वर्ग को तोड़ती है क्योंकि उनके पास जीने के भी पर्याप्त साधन नहीं

हैं। मजदूरों को मजदूरी भी इतनी कम मिलती है कि दिन भर हाड़ तोड़ काम करने के बावजूद पेट की आग को शांत नहीं किया जा सकता। लोगों में काफी असंतोष है परंतु करें तो क्या करें-

“पांच जन केर मजदूरी - पांच मुट्ठी एहे खेसारी- देखऽ!

खसरिये निपट्ट घुनायल - से देखऽ!!

मलिकवन के कौन फिकिर? घर में अनाज-पानी भरल है।

हमनिये के उपजायेल, ओसायल, बरायल और घर में सड़तल अनजवा-

देखल-अनजवा कहां चल जइतै, भैया

गरीबन के देखे वाला केयो नहीं।”²

‘नये सबरे की आशा’ में रेणु ने किसानों के क्रांतिकारी तेवर को प्रस्तुत किया है। रेणु का किसान अपनी समस्याओं और स्थितियों के प्रति जागरूक और संगठित हो रहा है। “परमानपुर में किसानों की, सभा हो रही थी।...जमींदार न तो पानी बरसाता है, न हीं खेत की पैदावार को बढ़ाता है। फिर कैसी मालगुजारी, कैसा खजाना?...दुहाई गाँधी बाबा, जमीन पर जोतने वालों का हक नहीं, गरीबों के पेट में अन्न नहीं, देह पर बस्तर नहीं। लोगों ने झूठमूठ का हल्ला मचाया कि सुराज आ गया।”³ किसानों का यह सवाल आजादी और देश की व्यवस्था पर प्रश्न चिन्ह खड़ा कर देता है। किसान के नाम पर सामंतों और गरीब-पिछड़ी जाति की अस्मिता और समस्याओं को जमीनदोज नहीं किया जा सकता। रेणु जिन किसानों के हमदर्द हैं, जिनके दुख-दर्द को उन्होंने भोगा और साझा भी किया, कथाकार मधुकर जी से साक्षात्कार में रेणु ने कहा- “बिहार में, खासकर पूर्णिया जिला तो देशी-विदेशी जमींदारों का गढ़ ही था। अंग्रेज जमींदारों के नाम पर कई गाँव और कस्बे बसे हुए हैं। फोर्ब्स साहब के नाम पर फोर्बसगंज (फारबिसगंज) एक साहब की मेम के नाम पर मेरीगंज। कई राजे, दर्जनों ‘कुमार’ और बहुत से नवाबों के गढ़ और हवेलियाँ आज भी मौजूद हैं। जिले में ऐसे भी बड़े-बड़े किसान हैं जिनके पास दो-दो हवाई जहाज हैं और दूसरी ओर पचहत्तर प्रतिशत भूमिहीन। आजाद भारत में भी ये छोटे और मंझोले किसानों के शोषण के लिए मौजूद हैं। और सामाजिक असमानता और दुर्व्यवहार बरकरार है। इसकी प्रतिक्रिया किसी भी ‘दर्दी लेखक’ पर गहरी ही पड़ सकती है।”⁴ बाढ़ और अकाल की मार इन्हीं पिछड़ी जाति के निम्नवर्गीय किसानों पर है। ‘हड्डियों का पुल’ में राजेन खत लिख रहा है। पूर्णिया के उत्तरी हिस्से में रहने वाले एक छोटे किसान का बेटा है राजेन। कथाकार है, अपने को प्रगतिशील मानवतावादी कहता है...पूर्णिया के अकाल से मरते हुए लोगों की पुकार ने उसे झकझोर दिया है। वह शशांक को लिखता है- “...एक भी मध्यवर्गीय किसान के पास अब अपनी जमीन नहीं रह जाएगी!...परिवार टूट रहे हैं...औरतों की देह के गहने (यहाँ तक की बच्चों के गले की ‘ताबीज’ भी) बंधक पड़ चुके हैं...मैंने आज अपनी कमला का कंगन बेचा है। बेचकर परिवार का चावल खरीदा है। बस, पंद्रह दिनों की खुराक। इसके बाद? जमीन?-मगर जमीन है कहाँ?...रजिस्ट्री ऑफिसों के पास मेले लगे रहते हैं...कलकत्ते के रायल एक्सचेंज और बंबई के दलाल स्ट्रीट की सरगर्मी छाई हुई है।”⁵

भूमि समस्या को रेणु किसानों और मजदूरों की पहली समस्या मानते थे। ‘मैला आँचल’ में भी रेणु अपने पात्रों से कहलवाते हैं कि ‘जमीन उसकी जो जोते।’ मधुकर को दिए एक साक्षात्कार में रेणु ने कहा “पूर्णिया जिले के बटाईदारी के सवाल को लेकर ‘परती : परिकथा’ की संरचना हुई। इसके पहले ‘मैला आँचल’ में भूमि समस्या की भूमिका प्रस्तुत की गई थी। आजकल मैं पिछले दो-तीन साल से एक बड़ा उपन्यास लिख रहा हूँ। अभी समय लग सकता है, क्योंकि देश बहुत तेजी से बदल रहा है,

दल-बदल, भूमि-हड़प, कुर्सी-हड़प के बाद देखिए क्या-क्या होता है।”⁶ भूमि और संसाधनों के असमान बंटवारे से रेणु आहत हैं। पिछड़ी जातियों के सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक असमानता के खिलाफ रेणु ने आवाज उठाई है।

रेणु का समय जनआंदोलन, संघर्ष और विद्रोह का काल था। उन्होंने साहित्य और पत्रकारिता के माध्यम से सामाज को नई दृष्टि दी। यह दृष्टि उन्होंने संघर्ष के माध्यम से प्राप्त की थी। रेणु ऐसे साहित्यकार हैं जो साहित्य, पत्रकारिता, राजनीति और जनआंदोलनों को एक कर के देखते हैं। राजनीतिक-सामाजिक रूप में इतना सक्रिय उस समय हिन्दी का कोई दूसरा साहित्यकार नहीं हुआ। 1947 के बाद राजनीतिज्ञों में जो छद्म राजनीतिक त्याग, देश-सेवा और समाज-सेवा का भाव था वह अचानक क्षीण हो गया और उसके स्थान पर स्वार्थ, व्यक्तिगत हित और भ्रष्टाचार का बोल-बाला हो गया। रेणु के कथा साहित्य में राजनीतिक पार्टियों के पाखंडवाद, स्वार्थवाद एवं तज्जनित सामाजिक अशांति का विस्तृत वर्णन मिलता है। रेणु का व्यक्तित्व शुरू से ही आंदोलनधर्मी और जनपक्षधरता वाला रहा है। रेणु ने स्वतंत्रता आंदोलन में सक्रियता से भाग लिया और नेपाल में सशस्त्र क्रांति में सैनिकों की भूमिका का निर्वाह किया। चुनाव में भाग लेकर उन्होंने चुनावी दाँव-पेंच को भी अच्छी तरह से देखा था। रेणु ने अपने रिपोर्टाजों में सर्वहारा की समस्याओं को बड़ी ही सूक्ष्मता से वर्णित किया है तथा राजनेताओं एवं शासक वर्ग के निकम्मेपन पर चोट भी किया है। वे भूखे, नंगे आदमी के प्रति प्रतिबद्ध थे। उनकी राजनीति भी इसी प्रतिबद्धता का प्रतिफल थी न कि किसी पद-लिप्सा से प्रेरित। रेणु का पहला रिपोर्टाज है- ‘विदापत नाच’। विदापत नाच भागलपुर, पूर्णिया तथा बिहार के कुछ जिलों में मुसहर, धांगड़, दुसाध आदि पिछड़ी जातियों में विवाह, मुण्डन आदि संस्कारों के अवसर पर देखने को मिलता है। निम्न जातियों में प्रचलित इस नाच के माध्यम से रेणु ने जाति-व्यवस्था पर बहुत गहरा व्यंग्य किया है। ये निचली जातियाँ जो दिन भर कोल्हू के बैल की तरह अथक मेहनत करके खेतों में अन्न उपजाती हैं, शिष्ट समाज की विलासिता के सभी साधन जुटाती हैं फिर भी उन्हें दो जून का भोजन उपलब्ध नहीं हो पाता है। वे मनुष्य होकर भी मनुष्यता से वंचित हैं। वे महज कोल्हू के बैल हैं जो समाज की उपेक्षा और जमींदारों की प्रताड़ना सहते हैं। यह इस तरह बस गया है कि ‘बिदापत नाच’ करते समय भले ही वह कृष्ण बना हो पर उसके दिमाग से विस्मृत नहीं हो पाता कि वह कलरू मुसहर है। देखें- “हां एक बात तो कहना ही भूल गया कि ‘बिकटा’ अपने को कृष्ण भी समझता है, परदेशी साजन भी समझता है, लेकिन इसके साथ ही वह यह भी भूल नहीं जाता कि वह कलरू मुसहर है, हलहलिया का रहने वाला है और मनुष्य रहते हुए भी सिर्फ कोल्हू का बैल”⁷ स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद जनता को विश्वास था कि देश सुख-समृद्धि के रास्ते पर बढ़ेगा। किन्तु ऐसा कुछ भी नहीं हुआ। भूखी और निरक्षर जनता की स्थिति वैसी ही रही जैसे पहले थी। आजादी तो मिल गई परंतु जमींदार को अब भी मालगुजारी देनी पड़ती थी और न देने पर किसानों की भूमि नीलाम कर दी जाती। कहने को तो सुराज मिल गया परंतु जमीन जोतने वालों का जमीन पर कोई अधिकार नहीं, और न ही भूख मिटाने के लिए उन्हें भर पेट अन्न मिल पाता है और न ही पहनने को वस्त्र।

‘हड़ियों का पुल’ अकाल पर रेणु का बहुत ही मार्मिक रिपोर्टाज है। अकाल तो एक प्राकृतिक आपदा है परंतु इसकी मार सबसे ज्यादा सर्वहारा पर ही पड़ती है। अकाल की मार झेलने के लिए गरीब जनता अपने गाय, बैल तथा अन्य पालतू पशुओं को बेच देते हैं ताकि अपना पेट भर सकें और मृत्यु को कुछ दिनों के लिए टाला जा सके। अन्न की खोज में लोग पलायन कर रहे हैं। परिवार के पालन पोषण के

लिए उन्हें गाँव छोड़ना ही पड़ता है। कोखजली धरती के हजारों संतान जहाँ अन्न के लिए मारे-मारे फिर रहे हैं, सेठ कुंदनमल जैसे लोग अन्न को अपने गोदामों में छुपा देते हैं। इन सेठों के लिए अन्न, अन्न नहीं मोती के दाने हैं जिसके बदले में ये लोग अकाल पीड़ित जनता का खून भी चूस लेंगे। पेट की भूख के आगे आदमी लाचार है और यही लाचारी बहु-बेटियों के शोषण का कारण बनती है। एक मुट्ठी अन्न का लालच देकर भूख से तड़पती स्त्रियों का शोषण किया जाता है। जमींदारों के लड़के झोली में मकई का लावा रखकर मुसहर टोली का चक्कर लगाते हैं “जिन्हें मकई लेना है लो! सेर दो सेर नहीं-चार मुट्ठी!...कर्ज...!...लेकिन सूद पहले ही चाहिए...उनकी नई जवानी बूढ़ी या जवान या बच्ची में कोई फर्क नहीं समझती। गाँव के बहुत लड़कियों ने निगाह नीची करके मकई का लावा लिया है, खाया है। छि. .. ‘पाप की कमाई’ समझ कर मन नहीं मानता हो, सो बात नहीं।.....सिर्फ मकई के लावा पर.....? ..वह भी इतनी कम कीमत पर ...?”⁸ अकाल पीड़ित क्षेत्रों का दौरा करने वाले नेता अकाल से मरने वाले मामले को एकदम उलट देते हैं तथा यह प्रमाणित करना चाहते हैं कि इन जगहों पर अकाल का प्रभाव है ही नहीं, बस अकाल का अफवाह फैलाया जा रहा है। वे स्वार्थ लोलुप नेता मृत्यु का गंगा नाच कैसे देख सकते। रेणु का सजग साहित्यकार मन अकाल मृत्यु के इस तांडव को देखता है, “हाँ, मैं देख रहा हूँ। सारे जिले की धरती पर हड्डियाँ बिखर रही हैं। आसमान पर गिद्धों का दल चक्कर मार रहा है, चिल झपट्टे मार रहे हैं, कुत्ते, गीदड़ों और दम तोड़ते इंसानों में छीना-झपटी हो रही है। हवा में लाशों की सड़ांध फैल रही है। इन बिखरी हुई हड्डियों को बटोर कर कोशी डैम...नहीं...कम से कम कोशी पर एक विशाल पुल तैयार किया जा सकता है।... हमारी सरकार के पुनर्निर्माण विभाग का, पूँजीवादी समाज ‘इंजीनियरिंग विभाग’ का नया नमूना... ताजमहल की तरह अद्वितीय और दर्शनीय होगा वह पुल।”⁹ ‘भूखभूखभूखभूः’ में रेणु ने दिखाया कि एक तरफ “भूख की ज्वाला में लाखों लोग जल रहे हैं। जिन जिलों को धान-चावल का भंडार कहा जाता था- वहाँ के गाँवों में कई सप्ताह से चूल्हे नहीं सुलग रहे हैं। कच्चे आम, कटहल, जंगली कंद और करमी का साग भी अब मयस्सर नहीं। भूखों की बिलबिलाती टोलियाँ कस्बों और शहरों की ओर बढ़ रहीं हैं।...भूख से दम तोड़ते हुए लोगों को यह पता है कि हाल में हजारीबाग में ‘खा-पीकर अघाये’ हुए लोगों ने ‘विशाल अन्नध्वंस यज्ञ’ किया है।”¹⁰ यह किसानों-मजदूरों और बुर्जुवा-सामंतों के जीवन का फर्क है।

रेणु ने अपने लेखन के माध्यम से दलित-पिछड़ी जातियों के जीवन का मार्मिक चित्र खींचा है। रेणु के लेखन में जातीय अस्मिता भी देखा जा सकता है। उन्होंने लगभग अपने प्रत्येक पात्रों के नाम के साथ जाति को भी तरजीह दी है। आजादी के बाद भारतीय गाँवों के बदले सत्ता समीकरणों को रेणु जैसा कथाकार ही देख सकता था। वे लिखते हैं- “यादवों का दल नया है।...यादव क्षत्रिय टोली को अब गुआर टोली कहने की हिम्मत कोई नहीं करता। यादव टोली में बारहों मास शाम को अखाड़ा जमता है।”¹¹ इसी उपन्यास में जमीन के लिए संधालों के संघर्ष को भी दिखाया गया है। ‘मैला आँचल’ में कालीचरण जाति प्रथा का विरोध करता है और गरीबों को एकजुट होने को कहता है। वह चमारों के साथ खाना खाता है और जाति संघर्ष को वर्ग संघर्ष में परिवर्तित करने का प्रयास करता है। उसका मानना है कि गाँव में सिर्फ दो जातियाँ हैं, अमीर और गरीब। कथाकार मधुकर जी को दिए एक साक्षात्कार में आर्थिक मुद्दों पर पूछे गए प्रश्न के उत्तर में रेणु ने कहा कि “...सामाजिक असमानता को पहले तोड़ना होगा। आर्थिक असमानता को यही तो बलवान बनाती है...।”¹² इस कथन से स्पष्ट हो जाता है कि रेणु सामाजिक न्याय की विचारधारा को प्रमुखता देते थे। ‘एकलव्य के नोट्स’ में रेणु ने गाँवों में प्रचलित जातीय भेदभाव,

सवर्ण जातियों का प्रभुत्व और दलित-पिछड़ी जातियों में जागृत चेतना को रेखांकित किया है। गाँव में नाटकों के मंचन और उसमें जातीय भेदभाव के खिलाफ दलित-पिछड़े नौजवानों का असफल विद्रोह इन्हें सवर्ण जातियों से अलग नाटक करने को मजबूर करता है। इन्हें अब नेतृत्व चाहिए, नायक की भूमिका “भगवान भला करे ‘बैकवर्ड’ और ‘शिड्यूल कास्ट’ के नौजवानों का! नाटक स्टेज करेंगे (अंग्रेजी नाम स्वयं ‘बैकवर्ड’ और शिड्यूल कास्ट के नौजवानों ने किया है।...तीन साल पहले तक ‘गंगोला जाति के ‘लीडर’ लोग अपने क्षत्रिय के प्रमाणों में बहुत लंबे-लंबे भाषण देते थे। नाम के अंत में ‘सिंह’ जोड़ते थे।...सरकार ‘बैकवर्ड और शिड्यूल कास्ट के लड़कों को स्कालरशिप देने लगी है, सरकारी नौकरियों में ‘सीटें’ रिजर्व रखती हैं।...मुरली जी सवर्ण हिन्दू हैं। सुनते हैं- उनके लड़के ने अपने को ‘अनुसूचित जाति’ की संतान बताकर, स्कालरशिप ‘झीट’ लिया है। साठ रुपये प्रतिमास।)...दलित वर्ग का हर तरह से मर्दित करके रखा गया था अब तक। नाटक मंडली के लिए प्रत्येक वर्ष खलिहान पर चंदा काट लेते हैं- मालिक लोग। लेकिन, कभी भी द्वारपाल, सैनिक अथवा दूत का पार्ट छोड़कर अच्छा पार्ट...माने ‘हीरो’ का पार्ट नहीं दिया सवर्ण टोली के लोगों ने।¹³ रेणु ने अपनी रपटों में बिहार के सामाजिक राजनीतिक स्थितियों में विभिन्न जातियों की स्थिति और उनके संबंधों का सजीव चित्रण किया है। बिहार में जातीय चेतना और उस पर गर्व, अब सिर्फ सवर्ण जातियों की जागीर नहीं है। पिछड़ी जातियों के अंदर उभरी जातीय चेतना से उन्हें ‘मैदान’ और ‘सदन’ दोनों में चुनौती मिल रही है। आंखों देखा ‘एकांकी के दृष्य!’, “हाँ बात बिगड़ी फिर रामलखन सिंह यादव को केंद्र करके। कांग्रेस सदस्य मोहनलाल गुप्ता ने आरोप लगाया कि जनकार्य मंत्री ने अपने ‘स्टाप’ में सिर्फ अपने ही ‘जाति’ के लोगों को बहाल किया है। मंत्री महोदय ने बीच में रोकने-टोकने की कोशिश की, लेकिन प्रजा समाजवादी कपिलदेव सिंह ने अपनी ‘जाति’ पर गर्व करते हुए टोका : ‘आपको, हमलोगों के स्टैंडर्ड’ और ऊँचाई तक पहुँचने में मुद्दत लग जाएगी।’ इस जातिवादी फिरके के जवाब में कोई महीन और पैना व्यंग्य करके विरोधियों को काटने वाले व्यक्ति रामलखन सिंह यादव नहीं। ऊँचाई-नीचाई को प्रमाणित करने के लिए महाभारत, यादव सेना अथवा श्रीकृष्ण की दुहाई भी नहीं देंगे। उनकी मान्यता है कि वह एक ऐसे ‘पिछड़े वर्ग’ के सदस्य हैं, जिसने समाज में कभी किसी जाति की श्रेष्ठता नहीं कबूल की और न किसी वर्ण के सामने सिर झुकाया। अतः उनकी ‘जाति’ को लेकर जब सदन में बात उठ खड़ी हो तो जाहिर है, उनके पास सदन में देने योग्य कोई जबाब नहीं मिलेगा। बाहर, मैदान में श्रेष्ठता प्रमाणित करने का अवसर वह बार-बार उदारतापूर्वक देते रहेंगे-इसी तरह!”¹⁴ पिछड़ी जातियों के राजनीतिक महात्वाकांक्षा के खिलाफ ऊँची जातियाँ गोलबंद हैं। अपने स्वार्थों को लेकर उनमें आपसी सहमति के स्वर हैं, सारे नीति-नियम और मर्यादा ताक पर रख दी गई है। आम आदमी में राजनीति के प्रति घटती विश्वसनीयता का जिम्मेदार कौन है? “राजनीति में, राजनेता को लोग यहाँ बड़ी इज्जत से देखते हैं, देवताओं की तरह से समझते हैं। ..उसको यह भरोसा था कि चाहे वह कांग्रेसी हो, चाहे कम्युनिस्ट हो, चाहे सोशलिस्ट हो, जो भी हो, राजकर्मी सब हमसे बहुत ऊँचे हैं, हमारी सेवा करने वाले हैं। इसलिए हम चोर हो सकते हैं, हम बदमाश हो सकते हैं, लेकिन इन लोगों को नहीं होना चाहिए; हम झूठे हो सकते हैं, लेकिन ये तो ऊपर के आदमी हैं, साधु-संत जैसे होते हैं...तो यही उम्मीद थी जनता को। लेकिन जब लोगों ने देखा कि बात किताब की किताब में है, इनका भाषण जो है सो भाषण ही है; लेकिन जो ये करते हैं सो कुछ और ढंग से. ..चोरों के भी कुछ होते हैं नियम, और खासकर के जो अंधेरे में कारोबार करते हैं, उनके बहुत अच्छे नियम होते हैं। तो इनके आपस के कुछ नियम थे बने हुए, जैसे लेने देने का : ठीक है, भूमिहार ब्राह्मण

यदि दस ज्यादा आ गया है तो हम सभापति होंगे। तो राजपूत हैं सो उनके उपसभापति होंगे। तो यह आपस का लेन देन, हर जगह यही, हर पार्टी में यही होता था।”¹⁵ रेणु एक सजग लेखक थे। उनकी रचनाओं में तत्कालीन सामाजिक यथार्थ की अभिव्यक्ति हुई है। स्वाधीन भारत का इतिहास रेणु साहित्य के अध्ययन के बिना पूरा नहीं होगा।

संदर्भ :

1. सं. भारत यायावर, रेणु रचनावली भाग-4, पृ. 25
2. रेणु-ऋणजल-धनजल, पृ. 106-107
3. सं. भारत यायावर, फणीश्वरनाथ रेणु चुनी हुई रचनाएँ, पृ. 22
4. सं. भारत यायावर, फणीश्वरनाथ रेणु चुनी हुई रचनाएँ, पृ. 216-217
5. सं. भारत यायावर, रेणु रचनावली, पृ. 66
6. वही, पृ. 217
7. सं. भारत यायावर, रेणु रचनावली, भाग 4, पृ. 25
8. सं. भारत यायावर, रेणु रचनावली, भाग 4, पृ. 58
9. सं. भारत यायावर, रेणु रचनावली, भाग 4, पृ. 66
- 10 सं. भारत यायावर, रेणु रचनावली, भाग 4, पृ.147
- 11 रेणु, मैला आँचल, पृ. 118
- 12 सं भारत यायावर, फणीश्वरनाथ रेणु चुनी हुई रचनाएँ- 3, पृ. 217
- 13 सं. भारत यायावर, रेणु रचनावली, भाग 4 पृ. 77
- 14 सं. भारत यायावर, फणीश्वरनाथ रेणु चुनी हुई रचनाएँ, भाग 3, पृ. 136
- 15 सं. भारत यायावर, फणीश्वरनाथ रेणु चुनी हुई रचनाएँ, भाग 3, पृ. 223



मानस में दृश्यमूलक क्रियाओं की मार्मिक अन्विति

○ आशुतोष मिश्र

‘उघरहिं बिमल बिलोचन ही के।
मिटहिं दोष दुख भव रजनी के॥
सूझहिं रामचरित मनि मानिक।
गुप्त प्रगट जहँ जो जेहिं खानिक॥’

भक्त कवि गोस्वामी तुलसीदास जी ने सांसारिक कष्टों के निवारणार्थ विमल विलोचन का उघरना बताया है। अर्थात् जबतक स्वच्छ दृष्टि नहीं होगी तबतक न तो रामचरित रूपी अमूल्य मणि दिखेगी और न संसार के कष्ट ही दूर होंगे। इस चौथाई में ‘उघरहिं’ और ‘सूझहिं’ दृश्यमूलक क्रियापदों द्वारा देखने की क्रिया के दो भावों को मानसकार ने स्पष्ट किया है। इस चौथाई में प्रयुक्त ‘उघरहिं’ क्रियापद ‘विमल विलोचन’ के लिए है जो किसी के दृष्टिकोण को स्पष्ट करता है तथा दूसरी क्रिया ‘सूझहिं’ जो किसी की ‘दृष्टि’ को संकेतित करता है। उक्त चौपाई का अर्थ है-‘दिव्य चक्षु को (उसके) हृदय में आते ही हृदय के निर्मल नेत्र खुल जाते हैं और संसार रूपी रात्रि के दोष दुःख सभी मिट जाते हैं एवं श्रीरामचरित रूपी मणि और माणिक्य, गुप्त या प्रकट रूप में जहाँ जिस खान में हैं, सभी दिखाई पड़ने लगते हैं।’

मानसकार ने उक्त दृश्यमूलक क्रियापदों दृष्टि और दृष्टिकोण की अभेदता को भी स्पष्ट किया है। दृश्यमूलक क्रिया पद का यह प्रयोग इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि दृष्टिकोण के अनुसार दृश्य और दृष्टि बदल जाती है। गोस्वामीजी ने ‘जिन्ह के रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥’ (1-240-4) के माध्यम से दृश्यमूलक क्रिया के इसी तथ्य को सार्थक किया है।

पंचभूतों (क्षिति, जल, पावक, आकाश और वायु) से रची गई इस सृष्टि में पाँच कर्मेन्द्रियों में चक्षु का विशेष स्थान है क्योंकि वह साक्षी हैं प्रत्यक्ष की, माध्यम हैं भावनाओं की अभिव्यक्ति की एवं विश्वास है सच्चाई की। चक्षुरीन्द्रिय द्वारा दृश्यमान जगत को देखने की प्रक्रिया पूर्णतः मानसिक व्यापार है। यह कार्य मानसिक होने के कारण अनुभवगम्य है इसलिए यह भाव प्रधान है जैसा कि महर्षि यास्क ने ‘भात्रप्रधानमाख्यात’ इसे कहा है। चूँकि देखने की क्रिया मानसिक अवस्था अवस्थाओं द्वारा संपन्न होती है। इसलिए ‘मानस’ के विविध कथा प्रसंगों में दृश्यमूलक क्रियापद की योजना चित्रभाषा काव्य-शैली, आलंकारिक काव्य योजना तथा क्रियापदों के विविध रूपों यथा, मौलिक क्रिया, यौगिक क्रिया, सकर्मक क्रिया, पूर्वकालिक क्रिया एवं संयुक्त क्रिया में हुई है। दृश्यमूलक क्रियापद के इन समस्त रूपों को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है। सर्वप्रथम चित्रभाषा काव्य-व्यंजना के रूप में

राम बिलोके लोग सब, चित्रलिखे से देखि।

चितदू सिय कृपायतन जानी बिकल बिसेषि॥ ... (1-260)

सीस जटा ससिबदनु सुहावा।

रिसबस कछक अरून होई आवा॥

भृकुटी कुटिल नयन रिस राते।

सहजहुँ चितवत मनहुँ रिसाते॥

देखि महीप सकल सकुचाने।

बाज झपट जनु-लवा लुकाने॥

गौरि सरीर भूति भल भ्राजा।

भाल बिसाल त्रिपुंड बिराजा॥(1-267-1, 2, 3, 1 4)

सांत वेषु करनी कठिन बरनि न जाइ सरूप।

धरि मुनि जनु बीर रसु आयउ जहँ सब भूप॥(1-298)

उक्त प्रसंगों में चित्रभाषा काव्य-व्यंजना में दृश्यमूलकता के दर्शन होते हैं। चित्रभाषा काव्य-शैली में वक्ता के भाव और विचार जीवंत होकर श्रोता या पाठक तक पहुँचते हैं। शब्द चित्र की यह भाषा दृश्यमूलक क्रिया का ही एक रूप है। प्रकृति के मानवीकरण में दृश्यमूलक क्रिया का यही रूप झलकता है। यथा-

लोवा फिरि फिरि दरसु देखावा। सुरभी सनमुख सिसुहि पिआवा॥

मृगमाला फिरि दाहिनि आई। मंगल गन जनु दीन्हि देखाई॥(1-302-5/6)

चित्रकूट जनु अचल अहेरी। चुकइ न घात मार मुठभेरी॥(2-132-4)

बरषा विगत सरद रितु आई। लछिमन देखहु परम सुहाई॥

फूले कास सकल महें छाई। जनु बरषा कृत प्रकट बुढ़ाई॥(4-254)

इन उक्त प्रसंगों में कामद गिरि चित्रकूट एवं शरद ऋतु के मानवीकरण द्वारा दृश्यमूलक क्रिया का प्रयोग किया है। आलंकारिक विधान भी 'मानस' में दृश्यमूलकता की प्रत्यक्षता को व्यक्त कर 'रामचरितमानस' की काव्यात्मक संरचना के सौष्ठव को प्रमाणित करता है। 'मानस' के इन दोहा-चौपाइयों में उन्हें इस रूप में देखा जा सकता है-

उदित उदय गिरि मंच पर रघुबर कालपतंग।

बिकसे संत सरोज सब हरषे लोयन भृंग॥ ...(1-254)

मानी महीप कुमुद सकुचाने।

कपटी भूप उलूक लुकाने॥ ...(1-254-2)

प्रभुहि चितई पुनि, चितव महि राजत लोचन लोल।

खेलत मनसिज मीन जुग जनु बिधु मंडल डोल॥ ...(1-258)

कहि न सकत कछु चितवत ठाढ़े।

मीनु दीन जनु जल तें काढ़े॥ ...(2-69-3)

उक्त प्रसंगों में रूपक और उत्प्रेक्षा अलंकारों द्वारा दृश्यमूलकता को प्रमाणित करने की अभिव्यक्ति अनुपम, अद्भुत कलात्मक और बेजोड़ है। डॉ. जॉर्ज गियर्सन ने तो गोस्वामी तुलसीदास को अलंकारों के प्रयोग में 'रूपकों का बादशाह' कहा है।

'कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कतहुँ लिखि कागद कोरे। की उद्धोषणा करने वाले कवि कुल

सिरोमणि गोस्वामी तुलसीदास जी ने एक कुशल भाषा-शिल्पी की तरह दृश्यमूलक क्रियाओं का प्रयोग यथानुकूल कथा-प्रसंगों में समर्थ भावाभिव्यंजना द्वारा किया है। 'मानस' की निम्न चौपाइयों में इन क्रियापदों का प्रयोग हुआ है-

- 'जिन्ह कै लहहिं न रिपु रन पीठी।
नहिं पावहिं परतिय मनु डीठी॥'(1-230-7)
- मुनि समीप बैठे दोउ भाई।
लगे ललकि लोचन निधि पाई॥(1-247-8)
- राम रूपु अरू सिय छबि देखें।
नर नारिन्ह परहिरीं निमेषें॥''(1-248-1)
- पिअत नयन पुट रूप पियूषा।
मुदित सुअसनु पाई जिमि भूखा।(2-110-6)
- बहुरि बदन बिधु अंचल ढाँकी।
पिय तन चितइ भौंह करिबाँकी॥(2-116-6)
- खंजन मंजु तिरीछे नयनानि।
निज पति कहेउ, तिन्हहि सिय, सयननि॥
- भई मुदित सब ग्राम बधूटीं।
रंकन्ह राय ससि जनु लूटीं॥(2-116-7/8)
- छबि समुद्र हरि रूप बिलोकी।
एकटक रहे नयन पट रोकी॥
चितवहिं सादर रूप अनूपा।
तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा॥(1-147-5/6)
- नाथ देखि पद कमल तुम्हारे।
अब पूरे सब काम हमारे॥(1-148-2)
- भूपति तृप्ति बिलोकि तेहिं, सरबरू दीन्ह देखाई।
मज्जन पान समेत हय कीन्ह नृपति हरषाई॥(1-158)
- लेहु नयन भरि रूप निहारी।
प्रिय पाहुने भूप सुत चारी॥
को जाने केहिं सुकृत सयानी।
नयन अतिथि कीन्हें बिधि आनी॥(1-334-3/4)
- तब लगि मोहि परिखेहु तुम्ह भाई।
सहि सुख कंद मूल फल खाई॥ - (5- श्लो-3/2)
- निज पद नयन दिये मन राम पद कमल लीन।
परम दुखी या पवनसुत देखि जानकी दीन॥ ... (पृ० दो, -8)
- सुनि रावन पठए भट नाना।
तिन्हहि देखि गरजेउ हनुमाना॥(5-17-5)

- आवत देखि बिहम गहि तर्जा।
ताहि निपाति महा धुनि गर्जा। ... (5-17-8)
- कर जोरे सुर दिसिप बिनीता।
भृकुटि बिलोकत सकल सभीता॥
देखि प्रताप न कपि मन संका।
जिभि अहिगन महुँ गरूड असंका॥ ... (5-19-7/8)
- जिन्ह कै कीन्हिसि बहुत बड़ाई।
देखऊ मैं तिन्ह के प्रभुताई॥ ... (5-24-2)
- नाम पहारू दिवस निसि ध्यान तुम्हार कपाट।
लोचन निज पद जंत्रित जाहिं प्रान केहिं बाट॥ ... (5-30)
- बिरह अगिनि तनु तूल सरीश।
स्वास जरहिं छन माहिं सरीरा।
नयन स्रवहिं जलु निज हित लागी।
जरैं न पाव देह बिरहागी। (5-30-7/8)
- कौतुक देखि सुमन बहु बरषी।
नभते भवन चले सुर हरषीं। (5-33-8)
- देखी राम सकल कपि सेना।
चितहू कृपा कर रजिव नैना। ... (5-34-2)
- सो परनारि लिलार गोसाई।
तजउ चउथि चंद की नाई॥ ... (5-37-6)
- देखिहउँ जाइ चरन जलजाता।
अरून मृदुल सेवक सुदाता॥ ... (5-41-5)
- दोहा- • ते पद आजु बिलोकिहऊँ।
इन्ह नयनन्हि अब जाइ॥ ... (5-82-2)
- बहुरि राम छबिधाम बिलोकी।
रहेउ ठटुकि एकटक पल रोकी॥ ... (5-44-3)
- दोहा- • की भई भेंट कि फिरि गए स्रवन सुजसु सुनि मोरा।
कहसि न रिपु दल तेज बल बहुत चकित चित तोरा॥ ... (5-53)

‘रामचरितमानस’ के विधि कथा प्रसंगों से सम्बद्ध उक्त दोहे-चौपाइयों में प्रयुक्त दृश्यमूलक क्रियाएँ प्रसंगानुकूल भावाभिव्यंजना को व्यक्त करने में पूर्णतः सक्षम, समर्थ और साभिप्राय हैं। इन क्रियापदों का प्रयोग कहीं मौलिक क्रिया, यौगिक क्रिया, संयुक्त क्रिया के रूप में हुआ है तो कहीं भावों की व्यंजना में ये दृश्यमूलक क्रियाएँ अन्तर्भुक्त हो गई हैं तो कहीं मानस बिम्ब के रूप में प्रकट हो जाती हैं। मानसकार ने दृश्यमूलक क्रियापद की भाव व्यंजनकता अर्थ, भाव, क्रियात्व धर्म, चित्रभाषा व्यंजना एवं शब्द-चित्र द्वारा जिस प्रकार स्पष्ट किया है उसकी प्रामाणिकता स्वयं सिद्ध है। ‘बुरी नजर’ या गलत भावना से देखने के लिए ‘डीठी’ क्रिया पद का प्रयोग कितना भावव्यंजक और साभिप्राय है-‘जिन्हके लहहिं न रिपु रन

पीठी/नहिं पावहिं परतिय मनु डीठी॥’ एक अन्य प्रसंग में पात्रा की उदात्त मानसिक अवस्था की अभिव्यंजना में दृश्यमूलक क्रियापद का सार्थक प्रयोग कितना सारगर्भित है—

‘मुनि समीप बैठे दोऊ भाई।

लगे ललाकि लोचन निधि पाई॥

राजकुमारी जानकी की आँखें राम को साक्षात् देखकर पूर्णतः परितृप्त हो गईं। सीता की आँखों से मन की सात्विक एवं उदात्त भावनाएँ दीख रही हैं। इसके लिए ‘लोचन के लिए ललकना’ और राम-लक्ष्मण के सौंदर्य के लिए ‘निधि’ का प्रयोग हुआ है।

एक अन्य प्रसंग में दोनों आँखों से ललक कर देखने के लिए मानसकार ने ‘पिअत नयन पुट रूप पियूषा। मुदित सुअसनु पाइ जिमि भूखा॥’

इस प्रकार एक आदर्श भारतीय नारी अपने पति का परिचय जिस मर्यादा के साथ देती है वह सीता की आँखों से छलकते भावों में इस प्रकार दिखाई देता है—

‘बहुरि वदनु विधि अंचल ढाँकी।

पति तन चितई भौह करि बाँकी॥

खंजन मंजु तिरिछे नयननी।

निज पति कहहिं तिन्हहिं सिय सयननी॥

मर्यादित भारतीय नारी केवल आँखों के इशारे से अपने पति का परिचय देती हैं। तिरिछे नयननि और ‘सयननि’ क्रियापद द्वारा एक आदर्श नारी की आँखों में उठे सात्विक और मर्यादित भाव के दर्शन होते हैं। इन चौपाइयों में प्रयुक्त दृश्यमूलक मूल क्रियाओं (मौलिक क्रियापदों) के रूप में प्रयुक्त हैं। अन्य प्रसंग में दृश्यमूलक क्रिया का प्रयोग संयुक्त क्रियापद के रूप में इस प्रकार देखा जा सकता है—

को प्रभु संग मोहि मितव निहारा। सिंधवधूहि जिमिससक सियारा।

तथा ‘ते सिय रामु साथरी सोये। श्रमित बसन बिनु जाहिं न जोये॥

इन चौपाइयों में ‘मितव निहारा’ तथा ‘जाहिं न जोये’ दृश्यमूलक क्रियापदों का प्रयोग संयुक्त क्रियापद के रूप में हुआ है।

गोस्वामी तुलसीदास जी ने ‘मानस’ में दृश्यमूलक क्रियापदों का अभिनव प्रयोग किया है, जिन्हें इन चौपाइयों में देखा जा सकता है, यथा— रंकन्ह राय रासि जनु लूटीं।

‘एकटक रहे नयन पट रोकी’— (1-147-5) ‘तजउ चउथि चंद की नाई। (5-37-6) ... इत्यादि। कुछ अन्य कथा-प्रसंगों में आलंकारिक विधानों के द्वारा दृश्यमूलक का सार्थक बिम्ब उकेर दिया गया है जिसे इस चौपाई में देखा जा सकता है—‘अरुन पराग जलजु भरि नीकें। ससिहि भूष अहि लोभ अमी के॥

इस प्रसंग में उत्प्रेक्षा, उपमा और रूपक अलंकारों के द्वारा एक भव्य शब्द चित्र उकेर दिया गया है। सीता के सिंदूरदान का इतना मनोरम चित्र अन्यत्र दुर्लभ है। कवि यहाँ चित्रकार की भूमिका में दिखता है। आशय कुछ इस प्रकार है कि मानो कमल को लाल पराग में अच्छी तरह भरकर अमृत के लोभ से साँप चन्द्रमा को विभूषित कर रहा है। (यहाँ श्रीराम के हाथ को कमल की से दूर को पराग की श्रीराम की श्याम भुजा को साँप की और सीता के मुख को चन्द्रमा की उपमा दी गयी है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो जाता है कि 'रामचरितमानस' के विविध कथा प्रसंगों में दृश्यमूलक क्रियाओं की साभिप्राय योजना उसकी काव्यात्मक संरचना के भाषा, भाव एवं शिल्प सौष्ठव की प्रामाणिकता सिद्ध करते हैं। मानसकार ने 'कीरति भनिति भूति भली सोई। सुरसरि सभ सब कहं शित् होई' ने माध्यम से मानस के भाषा शिल्प को स्पष्ट किया है तो 'भनिति विचित्र सुकवि कृत जोऊ। राम नाम बिनु सोह न सोये।' के द्वारा इसके उद्देश्य की घोषणा की है। गोस्वामी तुलसीदास जी ने 'रामचरितमानस' की इस चौथाई- 'सूझहिं रामचरितमनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहिं खानिक॥' के द्वारा दृश्यमूलक क्रियापद की सार्थकता 'सूझहिं' के माध्यम से सिद्ध की है। जो कुछ धुँधला और अस्पष्ट है उसे देखने के लिए 'सूझना' क्रियापद का प्रयोग होता है।

यह 'देखना' क्रिया का नया रूप है। सम्पूर्ण 'रामचरितमानस' के प्रत्येक काण्ड में दृश्यमूलक क्रियापदों के ऐसे प्रयोग विविध कथा प्रसंगों में देखे जा सकते हैं, जिन्हें इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है।

'रामचरितमानस' में दृश्यमूलक क्रिया के प्रयोग की सार्थकता, प्रासंगिकता और प्रयोजनीयता को स्पष्ट करने के लिये 'मानस' के पूर्वोपर काव्यों में दृश्यमूलक क्रिया के प्रयोग पर विचार करना आवश्यक हो जाता है। वर्णनात्मक अभिव्यंजना कौशल एवं मौलिक चिंतन धारा की दृष्टि से हिन्दी साहित्य के विवादास्पद कवि मैथिल कोकिल विद्यापति ने अपनी रचना 'पदावली' में वक्र दृष्टि से देखने के लिए 'बाँक निहारए' क्रियापद का प्रयोग 'नख-शिख' वर्णन पद की इस पंक्ति 'चंचल लोचन बाँक निहारए', 'अंजन सोभा पाए' में करते हैं। शृंगार रस के काव्यात्मक पटल पर जितनी रसात्मक योजना कवि विद्यापति ने की है उससे केवल देखने मात्र का भाव दृष्टिगत होता है पर गोस्वामी तुलसीदास जी ऐसी ही रसात्मक योजना में वक्रदृष्टि के लिए-

‘बहुरि बदन विधु अंचल ढाँकी।
पति तनु चिनई भौह करि बाँकी॥
मंजुल मंजु तिरिछे नयननि।
निज पति कहहिं तिन्हहिं सिय सयननि॥

'नयननि' एवं 'भौह करि बाँकी' दृश्यमूलक क्रिया का प्रयोग करते हैं। अन्य दृश्यमूलक क्रियायों की मर्मस्पर्शी योजना में गोस्वामी जी का काव्य-सौष्ठव दृष्टिगत होता है। इन दृश्यमूलक क्रियापदों में 'निरखना' क्रियापद है। 'रामचरितमानस' के विविध प्रसंगों में इसका प्रयोग प्रसंगानुकूल भावों को प्रकट करता है; यथा- 'पद नख निरखि देवसरि हरषी। सुनि प्रभु बचन मोहँ मति करसी॥'

- स्याम और सुंदर दोउ जोरी।
निरखहिं छवि जननी तून तोरी॥
- 'निरखि निरखि रघुबीर छबि बाढ़इ प्रीति न थोरि॥'

उक्त प्रसंगों में एक ही दृश्यमूलक क्रियापद 'निरखि' का प्रयोग पृथक भावों की अभिव्यक्ति में हुआ है। 'पदनख निरखि में पूर्वकालिक क्रिया के रूप में 'निरखि' क्रिया का प्रयोग देखकर' के अर्थ में हुए 'निरखि छबि जननी तून तोरि' में देखते संयुक्त क्रिया के रूप में प्रयोग है तथा 'निरखि निरखि' देख देखकर क्रिया के रूप में भावान्विति हुई है।

लेकिन, 'मानस' के अपर काव्य-ग्रंथों में भी इन दृश्यमूलक क्रियापदों का प्रयोग हुआ है पर वहाँ पर भावान्विति नहीं है। राष्ट्रकवि मैथिली शरण गुप्त 'साकेत' महाकाव्य में 'निरखि' क्रियापद का प्रयोग केवल एक ही भाव में करते हैं, यथा, 'सखि, निरख नदी की धारा ढलमल ढलमल अंचल अंचल झलमल झलमल तारा।'

*निरख सखी, ये खंजन आये,
फरे उन मेरे रंजन ने इधर नयन मन भाये।*

इन क्रियापदों का प्रयोग एक ही भावान्विति में हुई है जो 'देखने' देखो, जैसी मुख्य क्रियापद की योजना को व्यक्त करती है।

उक्त विश्लेषण से दृश्यमूलक क्रियापद का प्रयोजन और आधुनिक काव्यों में उसके प्रयोग की प्रासंगिकता का स्पष्ट निदर्शन हुआ है।

निष्कर्षतः दृश्यमूलक क्रिया पदों का हिन्दी काव्यों में प्रयोग पर एक सारगर्भित विचार का उल्लेख इस आलेख में प्रस्तुत किया गया है। हिन्दी काव्य विधा में 'रामचरितमानस' एकमात्र ऐसी अदभुत सर्जना है जिससे दृश्यमूलक क्रियाएँ अनेक भावाभिव्यंजना के साथ भिन्न-भिन्न रूपों में प्रयुक्त हुई हैं। यह मानसकार की कारयित्री एवं भावयित्री प्रतिभा का चरमोत्कर्ष है।



प्रसाद की काव्य-दृष्टि

○ मुकुल

छायावादी कवियों में एक प्रमुख स्तंभ जयशंकर प्रसाद की काव्य रचना भारतीय हिंदी साहित्य में ही नहीं विश्व साहित्य में भी एक महत्वपूर्ण स्थान रखती है। प्रसाद की रचना में जीवन दर्शन है तो सांस्कृतिक दृष्टि भी सम्पन्न है। और, सौंदर्य चेतना तो अपनी अहम भूमिका निभाती ही है।

प्रसाद की कविता में आरंभ से ही दार्शनिक मान्यताओं का प्रभाव देखा जा सकता है। वे उपनिषदों की अद्वैत भावना, शैवागम के समरसता सिद्धांत, बौद्धों की करुणा तथा गीता के कर्मयोग से विशेष प्रभावित हैं। प्रसाद के काव्य में नियति, भूमा, माया, समरसता आदि अनेक विशिष्ट दार्शनिक शब्दों का बार-बार प्रयोग हुआ है। प्रसाद का सम्पूर्ण काव्य एक दार्शनिक गरिमा लिए हुए है। काव्य और दर्शन के संबंध में उनका विचार है कि- “वास्तव में भारतीय दर्शन और साहित्य दोनों का समन्वय रस में हुआ है और यह साहित्य रस दार्शनिक रहस्यवाद से अनुप्राणित है।”

प्रसाद की दार्शनिक चेतना का सर्वोत्तम उदाहरण उनकी कृति कामायनी में मिलता है। समरसता का दर्शन स्वीकार करते हुए मनु की कथा द्वारा जीवन के विविध क्षेत्रों में सामंजस्य पर जोर दिया गया है। सामंजस्य और संतुलन के अभाव से ही जीवन कष्टों और दुखों में पड़ता है। सुख और दुःख को प्रसाद विरोधी न मानकर उनका परस्पर होना ही श्रेयस्कर मानते हैं। यह स्थिति जीवन में अनिवार्य है। और इन्हीं से दूसरे का विकास संभव होता है।

“दुःख की पिछली रजनी बीच
विकसता सुख का नवल प्रभात।”

प्रसाद जी ने सुख और दुःख की ही विधा का निराकरण इन मार्मिक शब्दों में किया है-

“जिसे तुम समझते हो अभिशाप
जगत की ज्वालाओं का मूल
ईश का वह रहस्य वरदान
कभी मत इसको जाओ भूल।”

प्रसाद में प्राचीन परम्परा और युग चेतना एक साथ साकार होती हुई देखी जा सकती है। दृष्टि भारतीय और आदर्शवादी है। कामायनी के स्त्री, पुरुष, बुद्धि और हृदय, शासक और शासित, व्यक्ति और समाज, दुःख और सुख, भौतिक और आध्यात्मिक आदि का सामंजस्य बिठाकर वे अपनी यही आदर्शवादी दृष्टि व्यक्त करते हैं।

प्रसाद गहरे स्तर पर शैव दर्शन से प्रभावित थे, तदनुरूप उन्होंने जीवन और जगत की व्याख्या भी

की। समरसता सिद्धांत भी शैव दर्शन का सिद्धांत है, शिव तत्व और शक्ति तत्व का समरस्य शैवदर्शन की आधारभूत मान्यताओं में है। नदी का समुद्र से मिलना, आत्मा का परमात्मा से मिलन सामरस्य स्थिति का द्योतक है। 'कामायनी' में इसी से प्रभावित होकर प्रसाद ने इस सिद्धांत का प्रतिपादन श्रद्धा और इड़ा के संघर्ष और समन्वय द्वारा किया है। 'कामायनी' में समरसता की स्थिति सुख दुखातीत स्थिति है। सभी में समरसता की इच्छा-

“सबकी समरसता का प्रचार ।

मेरे सुन सुन माँ की पुकार ॥”

‘कामायनी’ के रहस्य सर्ग में त्रिपुर की अवतारणा करते हुए कवियों ने समरसता का दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत किया है। इच्छा, ज्ञान, और कर्म का त्रित्व मानव-मन की शाश्वत प्रवृत्ति तथा गतिविधि का मनोवैज्ञानिक लेखा है। अतः इनमें सामंजस्य स्थापित करने की चेष्टा ही मन को परिपूर्णता की स्थिति तक पहुँचाती है। जब तक इन गीतों में अभिन्नत्व नहीं होगा। आनंद की प्राप्ति कैसे हो सकती है-

‘ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है

इच्छा क्यों पूरी हो मन की

एक दूसरे से न मिल सके

यह विडम्बना है जीवन की ॥’

इन तीनों के सामरस्य की स्थिति पर आते ही एक दिव्य स्वर लहरी का संचार हो जाता है। मनु योगियों की परमानंद दशा में अनहदनाद में लीन हो मुक्ति सुख में विचरण करने लगते हैं। समरसता का यह सिद्धांत केवल आध्यात्मिक पक्ष में चरितार्थ नहीं होता वरन लौकिक पक्ष में भी व्यावहारिकता की दृष्टि से यह पूर्णरूपेण उपादेय सिद्ध होता है। ‘कामायनी’ में कवि ने वर्तमान वैज्ञानिक युग के बुद्धिवादी प्रभाव को अपने मन में धारण करके उसके द्वारा उत्पन्न सामाजिक संघर्ष और विनाश का चित्रण किया है। अतः अपने को अध्यात्मपरक समरसता तक ही सीमित न रखकर व्यक्ति और समाज की समरसता का भी विषाद रूप से वर्णन और समर्थन किया है। इसीलिए तो यह गूंज सुनाई पड़ती है-

“विषमता की पीड़ा से व्यस्त हो रहा स्पंदित विश्व महान ।

यही दुःख-सुख विकास का सत्य यही भूमा का वरदान ॥”

तात्पर्य है कि समरसता लोक-कल्याण का पथ प्रशस्त करने वाला साधन है। वही शाश्वत सुख या आनंद या विधायक भी। आनंद ही प्रसाद जी का परम ध्येय है और अभीष्ट भी। वस्तुतः विषमता ही दुःख का मूल कारण है, जहाँ वैषम्य है वहाँ दुःख ही सुख है। ‘कामायनी’ के रहस्यपूर्ण में जिस त्रिकोण का वर्णन है वह सामरस्य का ही द्योतक है-

“यही त्रिपुर है देखा तुमने

तीन बिंदु ज्योतिर्मय इतने

अपने केंद्र बने दुःख-सुख में

भिन्न हुए ये सब कितने ।”

जीवन के वास्तविक विरोधों को श्रद्धा की मूलवर्तिनी सत्ता द्वारा अपहृत कर जीवन में समरसता और समन्वय स्थापित करने की अपूर्व आशाप्रद कल्पना प्रसादजी ने कामायनी महाकाव्य में की है। यह कल्पना एक ओर जीवन के सूक्ष्मदर्शी विज्ञान का आधार रखती है और दूसरी ओर उच्चतम भारतीय दार्शनिकता

का समन्वय लेकर चलती हैं। मानव प्रकृति और जीवनगत द्वंद्वों का निरूपण विज्ञान पर आश्रित है और श्रद्धा भी कल्याणमयी सत्ता दर्शन की देन है। इन दोनों के सम्मिलन और संयोग-स्थल पर कामायनी का समरसता-सिद्धांत प्रतिष्ठित है। इसे नवीन विज्ञान और चिर नवीन भारतीय दर्शन की संगम भूमि भी कहा जा सकता है।

समरसता के मार्ग से जिस कोटि की आनंदोपलब्धि का वर्णन प्रसादजी ने किया है, वह सगुणोपासक वैष्णव भक्तों का आनंद नहीं है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लिखा है- “कामायनी में प्रसादजी ने अपने प्रिय आनंदवाद की प्रतिष्ठा दार्शनिकता के ऊपरी आभास के साथ कल्पना की मधुमती भूमिका बनाकर की है। यह आनंदवाद वल्लाभाचार्यों के ‘काम’ या ‘आनंद’ के ढंग का न होकर तांत्रिकों और योगियों की अंतर्भूमि पद्धति पर है।” अपने आनंदवाद की सृष्टि प्रसादजी ने प्रमुख रूप से शैवागमों की प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आधार पर की है। किन्तु भारतीय दर्शनों और उपनिषदों से भी उपयोगी तत्वों का इन्होंने चयन किया है। वेदांत और बौद्ध दर्शन से कुछ तत्व ग्रहण किया और कुछ स्थलों पर इनसे स्पष्ट पार्थक्य रखा। अद्वैत की तरह न तो जगत को मिथ्या माना और न बौद्ध दर्शन की तरह दुःखमय हो जगत की प्रतिक्षण परिवर्तनशीलता उन्हें स्वीकार्य हैं।

शैवागमों को आधार तो प्रसाद ने बनाया पर शैवागमों के साथ ‘कामायनी’ के दार्शनिक विचारों का थोड़ा अंतर है। जिसे जाने बिना हमारी धारणा अधूरी रह जाती है। शैवदर्शन सामाजिक दर्शन है। वह व्यष्टि दर्शन है। इसके विपरीत कामायनी का दर्शन सामाजिक है।

प्रसाद का सम्पूर्ण साहित्य सांस्कृतिक चेतना से लैस है। अंग्रेजों ने भारतीय संस्कृति को हेयतर ठहरा दिया था इसलिए प्रसाद व अन्य कवियों ने भारतीय संस्कृति के गौरव का गान किया। प्रसादजी के साहित्य में भारतीय संस्कृति के मूल तत्व जैसे ख्र आध्यात्मिकता, समन्वयशीलता, विश्व-बंधुत्व, कर्मण्यता, साहस-नैतिकता, संयम, त्याग, बलिदान, देशभक्ति एवं राष्ट्रीयता के भाव मिलते हैं। प्रसाद की सकल सृजना में भारतीय संस्कृति के इन तत्वों के दर्शन होते हैं। चंद्रगुप्त नाटक में चाणक्य, चंद्रगुप्त, अलका, सिंहरण सदृश आदर्श पात्र हैं जो कर्मण्यता, साहस, देशभक्ति, स्वदेशानुराग की प्रेरणा देते हैं। प्रसादजी ने उक्त नाट्य सृजना में ऐसे गीत भी रखे हैं जो भारतीय अतीत के गौरव को व्यक्त करते हैं।

भारतवासियों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने अनजान विदेशियों को भी अपना बंधुसमझकर गले लगाया। जिसे सभी ने ठुकराया हो, उसको हमने गले लगाया। हमारी सांस्कृतिक विरासत रही है कि हम अत्यंत संवेदनशील, भावुक, एवं करुणार्द प्रवृत्ति के लोग हैं। दूसरों के दुःख को देखकर वे करुणार्द हो जाते हैं। प्रसाद के नाटक उनके ऐतिहासिक सांस्कृतिक प्रेम को व्यक्त करते हैं। ‘शेरसिंह का शस्त्र समर्पण’ तथा ‘पेशोला की प्रतिध्वनि’ ऐसी ही कविताएं हैं जिनमें राष्ट्रीयता के साथ-साथ सांस्कृतिक मूल्य उभरकर सामने आए हैं। प्रसादजी की रचना ‘महाराणा का महत्त्व’ भी सांस्कृतिक चेतना से पूर्ण है। प्रसाद तो अपनी कहानियों में भी सांस्कृतिक मूल्यों का सन्देश देते हैं। इनकी कहानी ममता, पुरस्कार, चूड़ीवाली, आकाशदीप, भिखारिन सभी में सांस्कृतिकता के दर्शन होते हैं। प्रसादजी भारतीय संस्कृति के चारों आश्रमों में वानप्रस्थ आश्रम की भी चर्चा करते हैं। और वे समरसता तभी मानते हैं जब व्यक्ति सांसारिकता से निवृत्त होकर तपस्यालीन हो।

प्रसाद के काव्य रचना में सौंदर्य चेतना विविध रूपों जैसे नारी-सौंदर्य, प्रकृति-सौंदर्य एवं भाव-सौंदर्य की त्रिवेणी बनकर प्रवाहित हुई। प्रसाद ने सौंदर्य को मोती के भीतर छया जैसी तरलता कहा है। भारतीय

काव्यशास्त्र में जिसे लावण्य कहा गया है। वह वस्तुतः समग्र प्रभान्विति से उत्पन्न सौंदर्य है। प्रसाद पर कालिदास का गहरा प्रभाव था। प्रसाद औदात्य के कवि हैं। प्रसाद की सौंदर्य चेतना का औदात्य छोटे-छोटे बिम्बों से पूर्ण नहीं हो सकता था इसलिए वे अपने व्यक्तित्व के अनुसार हिमालय, सागर, आकाश, कैलाश, बादल आदि के विराट बिम्बों को अपनी सौंदर्य चेतना में ढालने का कलात्मक प्रयास करते हैं। प्रसाद के व्यक्तित्व का गाम्भीर्य उनके काव्य में परिलक्षित होता है। उनके काव्य-सौंदर्य से हम अपनी चेतना में एक ऊँचाई का अनुभव करते हैं। प्रसाद मेघधर्मी कवि हैं। जिस प्रकार नदी, नाला, तालाब, सागर आदि जगहों का पानी अवशोषित करके अपना निर्माण करता है, लेकिन जब बरसता है तब पानी का गुणधर्म ही शेष रहता है उसके स्थान-भेद का अंतर मिट जाता है। उसी प्रकार प्रसाद की सौंदर्य-चेतना पर कालिदास का जो प्रभाव है, वह उनकी मेघधर्मिता से छनकर सामने आता है। प्रसाद की विशेषता है कि वे लड़खड़ाती भाषा के बीच में अद्भुत बिम्बों का निर्माण करते हैं। यह विशेषता उनके काव्य सौंदर्य का सबसे सबल पक्ष है। ‘कामायनी’ का एक बिम्ब पुष्ट है-

“नील परिधान बीच सुकुमार
खुल रहा मृदुल अध खिला अंग ।
खिला हो ज्यों-बिजली का फूल
मेघ वन बीच गुलाबी रंग ॥”

प्रसाद उसी को सुंदर मानते हैं जो हमारी चेतना में आशा, अभिलाषा के सपने जगाता है। ये सपने मात्र सपने नहीं हैं बल्कि नये विचार हैं। प्रसाद ऐसे सौंदर्य के सर्जक हैं जो हमें अभिभूत कर अकर्मण्य नहीं बनाता, बल्कि हमारी चेतना में ऊर्जा का संचार करता है। यह नये युग की अभिलाषा को प्रकाशित करता है।

पार्थिव सौंदर्य के प्रति प्रसाद का आकर्षण बहुत अधिक है। परंतु शुरू-शुरू में वे उसे व्यक्त नहीं कर पाते थे। ‘कामायनी’ में आरम्भ का दबा हुआ सलज्ज भाव विभिन्न चिंतन और मनन के माध्यम से अपने भीतर के सौंदर्य प्रेमी मनोभाव को रहस्यवादी कविता के आवरण में प्रकट कर सकते हैं। प्रसाद के समान सौंदर्य प्रेमी कवि बहुत ही विरल हैं। और पार्थिव सौंदर्य को स्वर्गिक महिमा से मंडित करके प्रकट आने का सामर्थ्य तो इतना और किसी में है ही नहीं।

स्पष्ट है कि प्रसाद के काव्य में जीवन-दर्शन की दो धाराएँ परिलक्षित होती हैं- परिस्थितिजन्य करुणा एवं विषाद तथा युद्ध की करुणा एवं गाँधी की अहिंसा। अंतिम चरण में उनका जीवन दर्शन चेतना के विकास पर उन्मुख हो जाता है, जिसका पर्यवसान कामायनी में आनन्द में होता है। वहीं प्रसाद की सांस्कृतिक दृष्टि भारतीय जीवन-मूल्य परक है। उसमें त्याग, बलिदान एवं आत्मचिंतन का विशेष महत्त्व है। नारी सम्मान के प्रति सजगता नाटकों का विशेष गुण है, प्रत्येक नाटक का संचालन सूत्र किसी नारी पात्र के हाथ में रहता है। जबकि प्रसाद की प्रेम भावना अशरीरी आलम्बन के प्रति है। जिसकी वजह से उनकी सौंदर्य-चेतना हमेशा वासना रहित एवं दिव्य है, क्योंकि उनका उन्नयन हो जाता है। वह प्रकृति में अपनी नारी के अंग-प्रत्यंग के दर्शन करके मुग्ध एवं लुब्ध होते हुए देखे जाते हैं।

संदर्भ:

1. कामायनी, जयशंकर प्रसाद, मयुर पेपरबैक्स, दिल्ली, संस्करण : 1992
2. चित्राधार, जयशंकर प्रसाद, डायमंड पॉकेट बुक्स, नई दिल्ली, संस्करण : 2020

3. 'महाराणा का महत्त्व', जयशंकर प्रसाद, भारती भंडार, बनारस, संस्करण : 1985
4. चंद्रगुप्त, जयशंकर प्रसाद, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण : 1995, आवृत्ति 2005
5. शेरसिंह का शस्त्र समर्पण, जयशंकर प्रसाद का संपूर्ण काव्य, संपादक : सत्यप्रकाश मिश्र, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, तृतीय संस्करण : 2008
6. पेशोला की प्रतिध्वनि, लहर, जयशंकर प्रसाद, डायमंड पॉकेट बुक्स , नई दिल्ली, संस्करण : 2020



स्वतंत्रता संग्राम में महिलाओं का योगदान

○ कविता विकास

आंदोलन किसी बदलाव के लिए उठाया गया एक ऐसा कदम है, जिसमें स्त्री-पुरुष का विभेद कर के अगर एक भी वर्ग हाथ पर हाथ धर कर बैठ जाये तो वह आंदोलन सफल नहीं होता। और, बात जब स्वतंत्रता जैसे महती यज्ञ के लिए हो तो हम कैसे सोच सकते हैं कि बिन महिला सहयोग के यह यज्ञ सम्पन्न हुआ होगा। स्वतन्त्रता हमारे आत्म सम्मान को बरकरार रखते हुए आत्मोत्कर्ष का मार्ग प्रशस्त करता है। क्रान्ति की ज्वाला केवल पुरुषों को ही नहीं उद्वेलित करती, बल्कि वीरांगनाओं को भी उसी तीव्रता से आकृष्ट करती है। भारत में नारी यदि श्रद्धा की देवी मानी जाती है तो समय पड़ने पर वही देवी रणचंडी बन जाती है। स्त्रियोंकी दुनिया घर-गृहस्थी की देख-रेख तो है ही, पर सत्ता और युद्ध में भी जब-जब जरूरत हुई स्त्रियाँ कमर कस कर बाहर निकलती रही हैं।

क्रांति की लड़ाई से लेकर आजादी पाने तक वीरांगनाओं ने अपनी मेहनत से अंग्रेजों के चने चबवा दिये। इस लड़ाई में उन वीरांगनाओं का भी उतना ही योगदान है जिन्होंने बिन शमशीर अपनी वाणी के बल पर, या साहित्य के माध्यम से लोगों में जोश जगाने का काम किया। सरोजिनी नायडू ऐसी ही देश भक्त थीं। रानी लक्ष्मीबाई और रानी चैनम्मा जैसी वीरांगनाओं ने अंग्रेजों से लोहा लेने में कोई कसर नहीं छोड़ी। 1824 में कितूर की रानी चैनम्मा ने अंग्रेजों को मार भगाने के लिए फिरंगियों भारत छोड़ो की ध्वनि गुंजित की और रणचंडी बन कर अपने अदम्य साहस से अंग्रेजों के छक्के छुड़ा दिये थे। दुर्गा बाई देशमुख ने महात्मा गांधी के सत्याग्रह आंदोलन में भाग लिया और आजादी के बाद भी एक समाज सेविका और एक सक्रिय राजनेता की सक्रिय भूमिका निभाती रहीं। उन्होंने महिलाओं के उत्थान के लिए पुनर्वास, शिक्षा की योजना और पोषण से जुड़ी कई योजनाएँ बनायीं। स्वतन्त्रता सेनानी उषा मेहता ने खुफिया काँग्रेस रेडियो चला कर क्रान्ति-युद्ध के समय भारतीय सेनानियों की खूब मदद की थी, अंत में जब उन्हें पकड़ा गया तो उनको पुणे की जेल में भी रहना पड़ा था।

मातादीन ने बैरकपुर में मंगल पांडे को चर्बी वाले कारतूसों की जानकारी दी थी, मातादीन को भी यह राज उसकी पत्नी लाजो ने ही बताया था। लाजो को यह जानकारी उसी अंग्रेज ऑफिसर के घर मिली थी, जिसके यहाँ वह काम करती थी। स्त्रियों ने जहाँ जरूरत हुई अपने मर्दों को कभी उलाहना दी तो कभी प्रेम से उनमें जोश भी भरी। लखनऊ में 1867 की क्रांति का नेतृत्व हजरत महल ने किया। आलमबाग की लड़ाई के दौरान अपने जाँबाज सिपाहियों की उसने भरपूर हौसला अफजाई की और हाथी पर सवार होकर अंग्रेजों का मुकाबला भी करती रही। लखनऊ में पराजय के बाद वह अवध के देहातों में जाकर वहीं से क्रांति की चिंगारी सुलगाने का प्रयास करती रहीं।

अपनी शौर्यगाथा से जन-जन के मानस पटल में अपना विशेष स्थान बनाने वाली झांसी की रानी

लक्ष्मीबाई ने 1855 में अपने पति की मृत्यु के बाद झाँसी की सत्ता संभाली और ब्रिटिश सेना को कड़ी टक्कर दी। घुड़सवारी और शस्त्र-कौशल में पारंगत रानी को 1857 की क्रांति की सूत्रधार भी कहा जाता है। उनकी मौत पर जनरल ह्यूग्रेज ने कहा था, “यहाँ वह औरत सोई है, जिसे विद्रोहियों में एकमात्र मर्द होने का दर्जा प्राप्त है।” मुगल सम्राट बहादुर शाह जफर की बेगम जीनत महल ने भी सेनानियों के संगठन के लिए अथक प्रयास किया। बहादुर शाह को हिंदुस्तान के लिए काम करने के लिए वह उनकी प्रेरणा बनी रहीं। यहाँ गौर-ए-तलब है कि बेगम हजरत और रानी लक्ष्मी बाई द्वारा गठित सैनिक दल में तमाम महिलाएँ शामिल थीं। हजरत महल द्वारा गठित दल की कमान रहीमी के हाथों थी जिसने फौजी वेश में महिलाओं को तोप व बंदूक चलाना सिखाया। हैदरीबाई एक तवायफ थीं जिसके लखनऊ के कोठे पर अनेक अंग्रेज अफसर आते थे और क्रांतिकारियों के खिलाफ योजनाओं पर बात-विमर्श करते थे। हैदरीबाई इन सूचनाओं को क्रांतिकारियों तक पहुँचा दिया करती और उनकी मदद करती। ऐसी ही एक देशभक्त ऊदा देवी थी जिसने अपने पति की मृत्यु के बाद अंग्रेजों से संघर्ष करते हुए जान दे दी। इतिहास में ऊदा देवी का नाम अमर हो गया जब उसने लखनऊ के सिकंदराबाद चौराहा पर ब्रिटिश सैनिकों के साथ युद्ध करते हुए छत्तीस अंग्रेजों को मार गिराया और खुद भी शहीद हो गईं। साहित्यकार अमृतलाल नागर ने भी अपनी कृति ‘गदर के फूल’ में ऊदा देवी का जिक्र किया है। कहा जाता है कि उसने पीपल के एक घने पेड़ पर छिपकर जब 36 सैनिकों को मार गिराया तब कैप्टन वेल्स की नजर पेड़ पर होती हलचल पर पड़ी, उसने उसी दिशा में गोली चला दी तो ऊपर से एक मानवाकृति गिरी। नीचे गिरने पर उसकी जैकेट का ऊपरी हिस्सा खुल गया, जिससे पता चला कि वह एक महिला है।

आशा देवी, शोभा देवी, वाल्मीकि महावीरी देवी, नामकौर, भगवानी देवी आदि अनेक नाम हैं जिन्होंने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अंग्रेजी सेना के खिलाफ लड़ाई की। अवध की वीरांगना राजेश्वरी देवी और बेगम आलिया भी महिला सेना को शस्त्र कला का प्रशिक्षण दिया करतीं तथा गुप्त भेदों के माध्यम से कई बार अवध से ब्रिटिश सैनिकों को निकाल भगाने में सफल रहीं।

झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई ने महिलाओं की एक अलग टुकड़ी दुर्गादल के नाम से बनायी थी। इसका नेतृत्व धनुर्विद्या में पारंगत झलकारी बाई के हाथों था। झलकारीबाई ने कसम खाई थी कि जब तक झाँसी स्वतंत्र नहीं होगा वह श्रृंगार नहीं करेगी। अंग्रेजों ने जब किला को घेरा तब झलकारी बाई ने बहदुरी के साथ उनका सामना किया और रानी को महल के पिछवाड़े से निकल जाने तक स्वयं अंग्रेजों से लड़ते हुए शहीद हो गईं। कानपुर 1857 की क्रांति का मुख्य अड्डा रहा था। वहाँ की एक तवायफ अजीजन बाई ने क्रांतिकारियों के साथ मिल कर क्रांति की लौ जलायी। इसने चार सौ वेश्याओं की एक टोली बनाई जो मर्दाना वेश में रहतीं थीं। ये अपने हुस्न के दम पर अंग्रेजों से राज उगलवातीं थीं और उपयुक्त ठिकाने पर उन सूचनाओं को भेजा करतीं। बिठुर के युद्ध में पराजित होने पर नाना साहब और तांत्या टोपे तो बच निकले पर अजीजन पकड़ी गईं और अंततः मार दी गईं। अप्रतिम सौंदर्य की मलिका मस्तानी बाई अंग्रेजों का मनोरंजन करने के बहाने उनसे खुफिया जानकारी इकट्ठा कर पेशवा को देतीं थीं। नाना साहब की मुंहबोली बेटी मैनावती भी देशभक्ति से भरपूर थी। जब नाना साहब बिठुर से पलायन कर गए तब अंग्रेजों के लाख पूछने पर भी वह उनका पता नहीं बताती हैं, जिससे अंग्रेजों ने उसे आग में ज़िंदा ही झोंक दिया।

1857 की क्रांति के बाद भी सतत चले आंदोलनों में महिलाओं ने बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया। 1905

के बंग-भंग आंदोलन में पहली बार महिलाओं ने खुल कर सार्वजनिक रूप से हिस्सा लिया। स्वामी श्रद्धानंद की पुत्री वेद कुमारी और आज्ञावती ने महिलाओं को संगठित कर विदेशी कपड़ों को जला डाला। 1930 के सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौरान अरुणा आसफ अली ने अकेले 1600 महिलाओं की गिरफ्तारी दी तथा गांधी-इरविन समझौता के बाद उनपर बहुत दबाव बनाया गया। 1912-14 में बिहार में जतरा भगत ने जनजातियों को लेकर टाना आंदोलन चलाया जिसे बाद में उसी गाँव की महिला देवमनियाँ उराँव ने संभाली। बिरसा मुंडा के सेनापति गया मुंडा की पत्नी माकी ने भी आंदोलन में खुल कर हिस्सा लिया।

चन्द्रशेखर आजाद के अनुरोध पर 'द फिलोसफी ऑफ बम' दस्तावेज तैयार करने वाले क्रांतिकारी भगवतीचरण वोहरा की पत्नी दुर्गा देवी वोहरा ने भगत सिंह को लाहोर जेल से छुड़ाने का प्रयास किया। लाला लाजपत राय की मौत का बदला लेने के लिए भी दुर्गा भाभी लगी रहीं। हसरत मोहानी भी स्वतन्त्रता की लड़ाई में मरदाने वेश में कूद पड़ीं। उन्होंने बाल गंगाधर तिलक के गरम दल का भी नेतृत्व किया। 1925 में काँग्रेस अधिवेशन की अध्यक्षता कर रही भारत कोकिला के नाम से मशहूर सरोजिनी नायडू को काँग्रेस का प्रथम महिला अध्यक्ष बनने का गौरव प्राप्त हुआ। इन्होंने अपनी कविताओं के माध्यम से युवा हृदय में आजादी की अलख जगा दी।

परोक्ष रूप से भी महिलाएँ अपना योगदान देती रहीं। सरदार बल्लभ भाई पटेल को सरदार की उपाधि बारदोली सत्याग्रह के दौरान वहाँ की महिलाओं ने ही दिया। कस्तूरबा गांधी का भी सहयोग इस लड़ाई में उल्लेखनीय है। उनकी नियमित सेवा और अनुशासन के कारण ही गांधीजी पूरे मनोयोग से स्वतन्त्रता आंदोलन में जुड़े रहे।

सुभाष चंद्र बोस की आजाद हिन्द फौज में महिला विभाग की मंत्री तथा रानी झांसी रेजीमेंट की कमांडिंग कैप्टन लक्ष्मी सहगल ने आजादी में प्रमुख भूमिका निभाई। डाक्टरी पेशा छोड़कर कैप्टन सहगल के साथ मिल कर आजादी की गतिविधियों में भाग लेती रहीं।

भारतीय स्वतन्त्रता आंदोलन की गूँज भारत के बाहर भी सुनाई दी थी। विदेशों में रह रही अनेक भारतीयों ने भारतीय संस्कृति से प्रभावित हो कर भारत और अन्य देशों में स्वतन्त्रता की अलख जगाई। लंदन में जन्मी ऐनी बेसेंट ने 1916 में भारतीय स्वराज लीग की स्थापना की जिसका उद्देश्य स्वशासन स्थापित करना था। ऐनी बेसेंट ने ही 1898 में बनारस में सेंट्रल हिन्दू कॉलेज की नींव रखी जिसे 1916 में महामना मदन मोहन मालवीय ने बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय के रूप में विकसित किया। भारतीय मूल की फ्रांसीसी नागरिक मैडम भीकाजी कामा ने लंदन, जर्मनी तथा अमेरिका का भ्रमण कर के भारत की स्वतन्त्रता के पक्ष में माहौल बनाया। उन्होंने अंतरराष्ट्रीय सोशलिस्ट काँग्रेस में प्रस्ताव भी रखा था कि भारत में ब्रिटिश शासन जारी रहना मानवता के नाम का कलंक है। उन्होने वंदे मातरम का ध्वज फहरा कर अंग्रेजों को कड़ी चुनौती भी दी थी। स्वामी विवेकानंद की शिष्य मारग्रेट नोबुल उर्फ भगिनी निवेदिता ने कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह में लॉर्ड कर्जन द्वारा भारतीयों का अपमान करने पर निर्भीकता से प्रतीकार किया था। मीरा बहन के नाम से मशहूर मैडेलीन ने भारत छोड़ो आंदोलन के समय महात्मा गांधी को भरपूर सहयोग दिया और स्वतन्त्रता के पक्ष में माहौल भी बनाया। उन्हें इसके लिए गिरफ्तार भी कर लिया गया था।

स्वतन्त्रता की लड़ाई में महिलाओं का योगदान इतिहास में एक स्वर्णिम पृष्ठ जोड़ता है। इन

वीरांगनाओं के अनन्य राष्ट्र प्रेम, अदम्य साहस और अटूट प्रतिबद्धता के बदौलत ही आजादी का संघर्ष सफल हुआ। पुरुषों के साथ कंधे से कंधा मिला कर चलने का प्रण ही संघर्ष पथ को सुगम बना सका। अनेक महिला सेनानियों का गौरवमयी बलिदान आज भी इतिहास की एक जीवंत दासता है। कहीं वे लोक चेतना में जीवित हैं तो कहीं राष्ट्रीय चेतना की संवाहक बन कर भावी पीढ़ी के लिए प्रेरणा स्रोत बनी हुई हैं।



प्रेमकुमार मणि की इतिहास चेतना

○ एस.एन. वर्मा

[श्री प्रेमकुमार मणि ने इतिहास के कुछ पक्षों पर अपनी राय रखी है। वे अनुशासन की दृष्टि से इतिहासकार नहीं हैं। उनकी इतिहास-चेतना को जवाहरलाल नेहरू की पुस्तकों की पद्धति का माना जा सकता है। 'भारत : एक खोज' या 'विश्व इतिहास की झलक' में नेहरू जी ने इतिहास को जिस तरह से देखा है वह वास्तव में औपनिवेशिक इतिहास-दृष्टि की आलोचना है। मणि जी ने इतिहास को देखने की अभिजन दृष्टि के समानांतर एक वैकल्पिक इतिहास-दृष्टि रखी है। यहाँ यह कहना अनुचित नहीं होगा कि इतिहास की प्रगतिशील दृष्टि भी पर्याप्त मात्रा में अभिजन वर्ग के प्रभाव में रही है। मणि जी का प्रयास रहा है कि भारत की बहुजन जनता के सोचने-समझने की प्रवृत्ति को परिष्कृत किया जाए। यही कारण है कि वे पक्षधरता के बहाने किसी दुराग्रह का पक्ष नहीं लेते! - प्र.सं.]

प्रेमकुमार मणि हिन्दी के प्रतिनिधि लेखक, चिंतक व सामाजिक न्याय के पक्षधर राजनीतिकर्मी हैं। वे इतिहासकार होने का दावा नहीं करते, लेकिन उनके इतिहास सम्बंधी लेख जो समय समय पर सोशल मीडिया और फॉरवर्ड प्रेस के माध्यम से पाठकों को मिलते रहे हैं उनसे इतिहास की समझ तो विकसित होती ही है, उनके मार्मिक इतिहास ज्ञान का भी पता चलता है। सर्व विदित बात यह है कि इतिहास मे तथ्य पवित्र होते हैं और विचार स्वतंत्र। अतः इसकी व्याख्या का अधिकार इतिहासकार या अन्य किसी भी विद्वान को मिल जाता है। इस व्याख्या की अनिवार्य शर्त वस्तुनिष्ठ दृष्टि होती है। मणि जी इस अनिवार्य शर्त के साथ-साथ जन-ग्राह्य शैली अपनाते हैं। यही वजह है एक बार लेख पढ़ना आरम्भ करने के बाद रुकने की सम्भावना नहीं रह जाती है।

उनकी रोचक शैली का ज्ञान लेख के शीर्षकों को देखकर ही होने लगता है, जैसे- 'वेद और उसकी दुनिया', 'वैदिक काल के सामाज्य का संघर्ष', 'उपनिषद् काल : ज्ञान के धरातल पर वेदों को मिली मात', 'जनपद से महाजनपद', 'मगध में विचारों का मेला', 'मकखलि गोशाल', 'क्या आप गौतम बुद्ध के इन पहलुओं को जानते हैं?', 'जानिए बौद्ध धर्मदर्शन और इसमें निहित विज्ञान के बारे में', 'बुद्ध पर कुछ और', 'साम्राज्य की ओर', 'कौटिल्य और उनका अर्थशास्त्र', 'चंद्रगुप्त और मौर्य साम्राज्य', 'सिकंदर की भारत से भिड़ंत', 'एक शूद्र ने सत्ता संभाली' आदि। ये शीर्षक अत्यंत आकर्षक हैं। अधिकतर लेख प्राचीन भारत के इतिहास पर आधारित हैं। अपवादस्वरूप ही मध्यकाल और आधुनिक इतिहास के विषयों पर उनकी लेखनी चली है। 'गाँधी का हिन्द स्वराज' और 'सावरकर का हिंदुत्व'- जैसे विचारोत्तेजक लेख कम ही संख्या में पढ़ने को मिले हैं।

प्रेमकुमार मणि की इतिहास-दृष्टि की जानकारी इन लेखों से गुजरते हुए सहज ही हो जाती है।

भाषा पर पूर्ण अधिकार के साथ वे तथ्य को ओझल नहीं होने देते हैं। तर्क-शक्ति तो ऐसी है कि सामने वाला व्यक्ति तर्कहीन हो जाय। उसे केवल दो विकल्प मिलते हैं, या तो वह बात को मान ले या फिर मारपीट के लिए तत्पर हो जाय। परम्परा का ज्ञान उनके विश्लेषण को गम्भीर तो बनाता ही है, स्रोत का उल्लेख कर वे दो कदम और आगे बढ़ जाते हैं। वे हिन्दी की पाठ-भेद शैली का अनुकरण कर ऐतिहासिक शब्दों को गम्भीर अर्थ दे देते हैं। 'वेद और उसकी दुनिया' नामक लेख की शुरुआत में ही वे उन सभी वैदिक अभिधानों (पारिभाषिक शब्द) को स्वीकार करते हुए यह प्रश्न उठाते हैं कि यदि उस समय तक लिपि का विकास हो चुका था तो क्या कारण है कि वेद लिपिबद्ध नहीं किए गए। इसके पीछे कुछ छिपाने की मंशा थी, इस मंशा ने वेद को रहस्य बना दिया, यद्यपि इसमें रहस्य जैसा कुछ भी नहीं था। मणिजी अपने विश्लेषण को आगे बढ़ाते हुए कहते हैं कि कुल मंडल अर्थात् अध्याय 2 से 7 तक सबसे प्राचीन माने गए, इन्हें भी लिपिबद्ध 3000 वर्षों के बाद किया गया। यह उनकी विशद समझ को रेखांकित करता है। लेख के निष्कर्ष में वे लिखते हैं कि

“ऋग्वेद सहित सभी वेद अपने अध्ययन के विस्तृत आयाम और भारतीय दृष्टिकोण का इन्तजार कर रहे हैं। यह उतना आर्य-केन्द्रित नहीं है जितना बतलाया जाता रहा है। आधुनिक भारत के द्विज समूह ने इसे अपना सांस्कृतिक अभ्यारण्य बनाने की कोशिश की है तो वंचित समूह के सांस्कृतिक दस्ते ने इसे बिना पढ़े ही विरोध करना आरम्भ कर दिया है। ऋग्वेद और इसके अनुषंगी ग्रंथ चुपके से हमारे कानों में कहते हैं- मुझसे डरो मत। हमारा जमाना बीत गया, लेकिन यह अनुभव हमारे पास जरूर है कि लड़ने-झगड़ने में कुछ नहीं रखा है, मिलजुलकर चलना, एक दूसरे से सीखना और निरंतर गतिमान रहना ही असल चीज है।”

मणिजी की शैली ललित निबंध की तरह शान्ति पूर्ण पाथेय देती है। वैदिक काल के सामाजिक संघर्षों के बारे में कथा-परिकथा के माध्यम से उल्लेख करते हुए वे मेल-जोल की स्थिति के भी विवरण देते हैं। वे बताते हैं कि समन्वय और एकता के बेहतर नतीजे आये। ज्ञान और तकनीक का तेजी से विकास हुआ। लेकिन खराब चीज यह हुई कि वर्ण व्यवस्था का जन्म हुआ। बुद्ध के गृह-त्याग की घटना का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं-

“आध्यात्मिक उलझन के समाधान हेतु गृह-त्याग की परम्परा थी। शुद्धोधन इसे जानते थे इसलिए उन्होंने बुद्ध को वापस लाने की कोशिश नहीं की। अन्यथा वे अपने बिगड़ैल बेटे को ढूँढ़ लाते।”

तर्क पर से बिना दृष्टि हटाये वे यह भी कहते हैं कि बुद्ध के उपदेशों के संग्रह पिटक ग्रंथों में असंगत विवरण भी हैं। वे 'बुद्ध पर कुछ और' लेख में कहते हैं कि-

“इन काव्य कथाओं में सत्य और असत्य की अद्भुत मिलावट है। कपिलवस्तु के राजमहल में कोई चालीस हजार सुंदरियों से घिरा राजकुमार दुनिया से इस तरह आँख मूँदे है कि अपने उनतीसवें वर्ष में वृद्ध, रोगी और मृत व्यक्ति को देखता है। यह अविश्वसनीय भले लगे, लेकिन यह बुद्ध पर लिखे काव्य ग्रंथों का सच है। ऐसी अनेक उलूल जुलूल चीजें हैं जो हम बचपन से सुनते आये हैं।”

मणि जी के अनुसार बुद्ध ने पहली बार बुद्धि विवेकवाद की प्रस्तावना की और आडम्बरों पर चोट की। अतः यदि आज लामा और उनके अनुयायी किसी आडम्बर का पालन करते हैं तो उनका भी विरोध करना चाहिए। टोकियो से शिकागो तक क्यूरियो की दूकान में कुछ मिले न मिले, बुद्ध की मूर्तियाँ जरूर मिल जाएँगी। बुद्ध जैसा बिकाऊ देवता आज कोई नहीं है। यह टिप्पणी कितनी उपयुक्त है इसका सहज

अनुमान लगाया जा सकता है। अनेक कथाएँ उद्धृत कर मणि जी सत्य, ईश्वर, आत्मा, पुनर्जन्म आदि पर बुद्ध के विचारों को स्पष्ट करते हैं। ईश्वर के बारे में जब किसी ने बुद्ध से सवाल किया कि क्या आप ईश्वर विरोधी हैं? तो बुद्ध का उत्तर था 'नहीं'। भिक्षुओं के लिये यह प्रत्याशित उत्तर नहीं था। बुद्ध ने फिर पूछा- आप किन चीजों के विरोधी होते हो? बुद्ध ने उत्तर दिया- आप किसी के विरोधी होते हो, मतलब उसकी सत्ता होती है, अस्तित्व होता है। यदि कोई ईश्वर विरोधी है, इसका अर्थ ईश्वर का अस्तित्व है और वह उसका विरोधी है। मैं उस चीज का विरोधी कैसे हो सकता हूँ, जिसका कोई अस्तित्व ही न हो।' इसी तरह पुनर्जन्म के बारे में भी बुद्ध की अवधारणा की वैज्ञानिकता को सिद्ध करते हैं। दरअसल यह अनुवांशिकता के सिद्धान्त का पूर्व रूप था। न कि हिन्दू धर्म के पूर्वजन्म की स्वीकृति। 1974 में लिखे अपने लेख का संदर्भ देकर प्रेमकुमार मणि ने इसे genetics से जोड़ा है। मेंडल ने इसके प्रयोग किए और मान्यता भी दिलायी। बुद्ध ने केवल बात कही थी। विज्ञान के समन्वय से इतिहास और लालित्य ग्रहण कर सकता है। यह मणि जी ने कर दिखाया है। लगता ही नहीं कि इतिहास पढ़ रहे हैं या विज्ञान। नीति की बातों से फलक और विस्तृत हो जाता है। मनुष्य की अधम, मध्यम, उत्तम आदि कोटियाँ केवल भर्तृहरि ने नहीं लिखी थीं। बुद्ध ने बहुत पहले ही इसका उल्लेख कर दिया था

आत्मन्तप, परंतु परन्तप नहीं, - तपस्वी।

परन्तप, लेकिन आत्मन्तप नहीं, - बहेलिया।

आत्मन्तप और परन्तप, - यज्ञकर्ता।

न आत्मन्तप, न परन्तप - बुद्ध अनुयायी।

हम स्वयं भी सुखी रहें और दूसरे भी सुखी रहें, यह बुद्ध का रास्ता है।

मणि जी, अनेक उदाहरण देकर बुद्ध के सांसारिक रूप को ही महत्वपूर्ण मानते हैं। इसी वजह से बुद्ध को एक प्रगतिशील विचारक माना जाना चाहिए। बुद्ध कभी भी अपने वचनों को पूर्ण नहीं मानते थे। एक शिक्षक के रूप में वे हमें आस्थावान नहीं बनाते, बल्कि हर चीज पर संशय करने और सोचने-विचारने की विलक्षण दृष्टि देते हैं। वे यह नहीं कहते कि लोग उनकी बात मान लें, या किसी बड़े व्यक्ति या ज्यादातर लोगों द्वारा कही बात को सच मान लें। किसी बात को इसलिए मानो कि वह तुम्हारे और बहुजनों के हित के लिए है। लगभग इसी तरह की छूट मणि जी देते हुए अपने लेखों में दिखाई पड़ते हैं। वह भी लगातार वैचारिक चेतना और विवेक को जागृत रखने की सलाह देते हैं। बुद्ध के जीवन का एक प्रसंग है कि वे श्रावस्ती के जेतवन विहार में टहल रहे थे। आनंद ने उनसे पूछा कि आपने जिन सत्त्यों का उद्घाटन किया है, क्या उसके अतिरिक्त भी सत्य हैं? बुद्ध मुस्कराकर झुके और मुट्ठी भर सूखी पत्तियों को उठाकर पूछा कि क्या सारी सूखी पत्तियाँ मेरे हाथ में आ गयी हैं? आनंद ने कहा, - नहीं। बुद्ध ने कहा - मैंने अपने समय और सीमा भर सत्य कहा है। आने वाले बुद्ध अपने समय का सत्य कहेंगे। वैसे तो यह वार्तालाप शैली पिटक ग्रंथों की विशेषता है, लेकिन मणिजी का चुनाव ऐतिहासिक निबंधों को भी लालित्यपूर्ण बना देता है।

एक दूसरा उदाहरण, जो आज के समय में ज्यादा प्रासंगिक है। लोग पूछते हैं कि आप ईश्वर को मानते हैं या नहीं। यही सवाल बुद्ध से किसी ने पूछा कि क्या आप ईश्वर के विरोधी हैं? बुद्ध का उत्तर था - नहीं। उनके शिष्य आश्चर्यचकित थे कि बुद्ध के विचारों में तो कोई ईश्वर-तत्त्व नहीं है। बुद्ध ने ईश्वर को अव्याकृत श्रेणी में रखा था। ईश्वर है या नहीं, उस समय की दर्शन-परम्परा का केन्द्र-बिंदु

था। ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी अपना जीवन अपने तर्कों में खपा रहे थे। बुद्ध इस उलझन से अलग रहने के पक्षधर थे। मणि जी रोचक टिप्पणी करते हैं कि 'आध्यात्मिक उलझन के समाधान हेतु गृह-त्याग की परंपरा थी। शुद्धोधन इसे जानते थे इसलिए उन्होंने बुद्ध को वापस लाने की कोशिश नहीं की अन्यथा वे अपने बिगड़ैल बेटे को ढूँढ़ लाते।' इसी तरह के अन्य रोचक उद्धरण प्रस्तुत करते हुए जहाँ विषय को हृदयग्राही बनाने में सफल होते दिखते हैं वहीं इतिहास के अनुसंधान तत्त्व को भी विस्तृत फलक दे देते हैं। समकालीन इतिहास से जोड़ते हुए वे कार्ल मार्क्स की रचना 'जर्मन आइडियोलॉजी' के विवरण देते हैं जहाँ वे कहते हैं कि अब तक दार्शनिकों ने विभिन्न तरीकों से विश्व की व्याख्या की है, लेकिन प्रश्न है कि उसे कैसे बदला जाय? जीवन और जगत को उसकी नियत पर नहीं छोड़ा जा सकता है, अन्यथा प्रकृति में 'बड़ी मछली छोटी मछली को निगल जाती है' वाला न्याय लागू रहता है। ताकतवर की सत्ता पसरती जाती है। कमजोर मरते जाते हैं। नियतिवाद एक सामाजिक योग्यतावाद का रूप ले लेता है। यह न्याय-केंद्रित नहीं बल्कि शक्ति-केंद्रित होता है। जिसकी लाठी उसकी भैंस का सिद्धांत चलने लगता है। प्राकृतिक न्याय पर सामाजिक न्याय की नकेल जरूरी है। अपने निष्कर्ष में मणि जी कहते हैं कि स्वाभाविकता पर ज्ञान का हस्तक्षेप आवश्यक है चाहे वह आधिभौतिक पृष्ठभूमि का ही क्यों न हो। उत्पीड़ित मानवता के लिए यह आवश्यक था। गौतम को इसी ज्ञान की तलाश थी।

इतिहास की विकास-यात्रा इतनी सपाट नहीं है जितना कभी-कभी समझ लिया जाता है। जैसे जीवन पथ हमेशा सरल और एकरेखीय नहीं होता, वैसे ही देशविशेष का इतिहास भी होता है। इतिहास लेखन इतना तार्किक भी नहीं बन जाता है कि उसमें से सपाट निष्कर्ष न निकाले जा सकें। मणि जी इतिहास लेख लिखते हुए दोनों प्रकार के टूल लेकर चलते हैं और आवश्यकतानुसार उपयोग करते हैं।



तेरा-मेरा-उसका कबीर

○ डी.एन.यादव

सारे देश में कबीर जयंती मनायी जा रही है। कहने की आवश्यकता नहीं है कि कबीर जन-जन के हृदय में आज भी उसी तरह से विद्यमान हैं जिस तरह वे सदियों पहले रहे होंगे। सामान्य जन के बीच कबीर को लेकर कोई दुविधा नहीं है। वे अपने कबीर को बखूबी जानते और पहचानते हैं। कबीर उनकी संवेदना और भाव-धारा का हिस्सा हैं।

लेकिन, 'सुशिक्षितों' और 'आलोचकों' के बीच कबीर को लेकर अभी भी घमासान मचा हुआ है। अभी भी तय नहीं हो पाया है कि कबीर हिन्दू थे कि मुसलमान, दलित थे कि ओबीसी। दलित जुलाहे थे या पिछड़े जुलाहे। कबीर की पहचान कुरुक्षेत्र बनी है। एक के बाद एक शाब्दिक ब्रह्मास्त्र छोड़े जा रहे हैं। युद्ध अभी भी जारी है।

इस वैचारिक युद्ध में नई भागीदारी की है- डॉ. दिनेश राम ने। उन्होंने हाल ही में एक लेख लिखा है- 'एक विचार-पिछड़ेपन के दायरे का'। ('सत्राची' में प्रकाशित।) दिनेश राम जी का लेख कमलेश वर्मा की पुस्तक 'जाति के प्रश्न पर कबीर' (2014) पर केंद्रित है। कबीर पर कब्जे को लेकर बीसवीं सदी से शुरू हुई जंग अब इक्कीसवीं सदी में प्रवेश कर चुकी है। अब तक कबीर विधवा ब्राह्मणी के पुत्र अर्थात् ब्राह्मण, हिन्दू जुलाहा, धर्मान्तरित मुसलमान जुलाहा, कोरी, दलित (दलितों में भी जाति विशेष) और ओबीसी तक की यात्रा कर चुके हैं। अब तक इतने कबीर खोजे जा चुके हैं कि हम चाहें तो अब कबीर नहीं, कबीरों की चर्चा कर सकते हैं। सुविधा के अनुसार अपने-अपने कबीर।

बहरहाल, बात चल रही थी दिनेश राम जी के लेख की। आइये उसे देखते हैं।

दिनेश राम जी के लेख को मैं पढ़ चुका था। इस लेख के पहले प्रभाव को फेसबुक पर दर्ज भी कर चुका हूँ। लेकिन, आज इस लेख को फिर से देखा। इस लेख को पढ़ते समय मैंने इसमें कबीर और आलोचकों के बीच गूँजती एक बातचीत सुनी। मुझे ऐसा लगा कि जैसे कबीर कई तरह के आलोचकों से घिरे हैं। वे कुछ भौंचक्के से हैं। कुछ उसी तरह से जैसे पुलिस वालों से घिरा गाँव का कोई सीधा-सादा आदमी बदहवास-सा हो जाता है। उसे समझ में नहीं आता कि हो क्या रहा है और आगे क्या होने वाला है? कोई फटकार लगा रहा है, कोई आँख दिखा रहा है, कोई हाथ पकड़ एक ओर खींच रहा है तो कोई दूसरी ओर से धक्का दे रहा है। गुनाह कोई बता नहीं रहा है, बस धकियाये जा रहे हैं। यह माजरा क्या है, कुछ समझ में नहीं आ रहा है।

कबीर के साथ ऐसा ही हो रहा है। दिनेश राम जी द्वारा अपने लेख में कबीर की ऐसी ही घेराबन्दी की गई है। वे धमकाते हुए से कहते हैं- कबीर! तुम्हारी इतनी हिम्मत कि तुम ऐसे 'अमरदेसवा' की

कल्पना करो जिसमें सभी के लिए जगह हो। यही नहीं तुमने मनुष्यमात्र में ब्राह्मणों को भी शामिल करने की जुर्रत की। जाति के जंजाल पर कटाक्ष करते करते तुम जाति-नाश के दर्शन पर पहुँच गए। कबीर, तुम तो बिल्कुल अनाड़ी निकले। तुम्हें न राजनीति की समझ है, न राजनीतिक एजेंडे की। तुम्हें ऐसा तो नहीं बोलना चाहिए था कि अपने खेमे में खपाने के लिए हमें शीर्षासन करना पड़े। इतना सब अच्छा कहने के साथ साथ यह बीच बीच में जाति-नाशक बातें क्यों कह गये। तुम्हें कुछ पता भी है कि इस तुम्हारे कहे को अपने अनुकूल बनाने में हमें कितनी परेशानियाँ झेलनी पड़ रही हैं। तुम्हारे दोहों और पदों की व्याख्या करने और उनसे अपने काम का रस निचोड़ने में हमारी दुर्गति हो जाती है। कितना हठयोग करना पड़ता है, तुम क्या जानो! तुम तो बिल्कुल भावुक ठहरे, राजनीति कुछ जानते नहीं। कह गए, जो आया मन में! हम भी तुम्हें इतनी तवज्जो न देते। पड़े रहते कहीं दबे-छिपे। लेकिन, पूरे भक्तिकाल में तुम्हीं एक ऐसे हो जो आज की भी जरूरतों को बड़े अच्छे ढंग से पूरा कर सकते हो। तुम्हें अपना ज़रूरी है। तुम वह बाण हो जिससे विरोधियों का शिकार बड़ी आसानी से किया जा सकता है।

कबीर, बच सको तो बचो! हम छोड़ेंगे नहीं। जो खाँचे हमने तैयार कर रखे हैं, उसमें 'फिट' करके ही मानेंगे।

यह सब सुन कबीर कहते हैं कि - मेरे साथ अत्याचार मत करो! मैं कबीर हूँ। मैं किसी जाति और धर्म का होकर भी, केवल उसी का नहीं हूँ। विश्वास न हो तो मेरा कहा और गाया, दोबारा पढ़ लो। मैं तुम्हारे खाँचे से बहुत बड़ा हूँ। मेरे सुख-दुःख हवाई नहीं हैं। मैंने भारतीय समाज के सामाजिक सत्य को जाना और भोगा है, लेकिन मैं उसका बन्दी नहीं हूँ। मैंने उससे जूझते हुए उससे पार जाने का सपना देखा है। मैंने जाति, भेदभाव, कर्मकाण्ड, जड़ता और अमानवीय व्यवहारों को गले का हार नहीं बनाया है, उन्हें कूड़ा समझ त्यागने का अदम्य प्रयास किया है। मुझे मेरी तरह पाओ, पाकर अपनाओ! रहम करो! मेरे 'अमरदेसवा' में बहुत जगह है। वह इतना छोटा नहीं है कि उसमें कुछ लोग ही आ सकें। सीस उतारे भुईं धरे, सो घर पैठे माहिं। मैं न केवल दलित हूँ, न केवल ओबीसी। मैं केवल हिन्दू नहीं हूँ, न केवल मुसलमान। मैं यह सब होते हुए भी, इनसे परे भी हूँ। अगर मैं आपको एक ही तरह का नजर आता हूँ तो इसमें दोष मेरा नहीं, आपके देखने का है। दृष्टि सुधारो! मैं मिल जाऊँगा! हिन्दू होकर भी मुझे पाया जा सकता है, मुसलमान होकर भी! मैं दलितों के दिल में भी हूँ और ओबीसी के भी! मुझ पर सभी गर्व कर सकते हैं। मुझे कभी इधर तो कभी उधर मत घसीटो। मैं जैसे ब्राह्मणीय ज्ञानकाण्ड के सामने बहुत बड़ा प्रश्न हूँ, उसी तरह से दड़बे में घोट देने वालों के लिए भी मैं दहकता सवाल हूँ। जिस तर्क और तथ्य के सहारे तुम मुझे खपाना चाहते हो, मेरे कहे हुए में उससे कहीं अधिक बड़े तर्क और तथ्य मुझको खपाने से बचा ले जाएँगे।

इस तरह से कबीर न पुराने आलोचकों के फंदे में फँसे, न मौजूदा आलोचकों के। न वे ब्राह्मण बनने को आतुर हुए, न दलितों की एक विशेष जाति। कबीर पर कब्जे की इस जंग में कितनी भी लहू-धारा क्यों न बह जाये, कबीर तो दूर बैठे मुस्कुरा रहे हैं। लगभग गालिब की तरह- 'होता है शब-ओ-रोज तमाशा मेरे आगे।'

यह तो रही कबीर की अपनी बात। पर, यदि आजकल के 'विमर्श' के लिए लेख को पढ़ा जाये तो कुछ बातें अलग ढंग से ऐसे भी कहीं जा सकती हैं,

1. लेख में निष्कर्ष, घोषणाएँ और स्थापनाएँ जोरदार-सी लगती दिखती हैं, परन्तु उन निष्कर्षों,

घोषणाओं और स्थापनाओं को पुष्ट करने वाले सर्वमान्य तर्क एवं तथ्य नहीं मिलते।

2. कमलेश वर्मा जी के तर्कों का खण्डन करते हुए अछूत के प्रसंग में दलितों और मुसलमानों के अछूतपन की असंगत तुलना की गई है। दलितों का अछूतपन और मुसलमानों के बीच के भेदभाव में अंतर को नजरंदाज किया गया है। दलितों से जिस प्रकार की अनुल्लंघनीय और जन्मजात दूरी हिन्दू समाज में बनायी जाती रही है, वह मुसलमानों के यहाँ बिल्कुल उसी रूप में नहीं है। कहने का अर्थ यह है कि अछूतपन और भेदभाव के अनेक रूप भारतीय समाज में विद्यमान रहे हैं, अब भी हैं। कमलेश वर्मा जी ने अछूतपन के जिस आधार को केंद्र में रखते हुए कबीर को गैर-दलित पिछड़ा सिद्ध करने का प्रयास किया है, वह आधार ज्यों का त्यों बना दिखता है। दिनेश राम जी ने उसकी बारीक काट प्रस्तुत नहीं की है।

3. लेख में जिस आत्मविश्वास के साथ कबीर को दलितों की जाति विशेष का सदस्य सिद्ध करने का प्रयास किया गया है, तर्क एवं तथ्यसम्मत न होने से सरसरीतौर पर ही अस्वीकार्य है। कबीर ने कहीं कहीं छुआछूत की चर्चा और कहीं कहीं जुलाहा एवं कोरी का भी जिक्र किया है। लेख में कोरी को जबरन एक जाति विशेष से जोड़कर कबीर को मनोनुकूल जाति से जोड़ने का प्रयास किसी हठयोग से कम नहीं।

4. कबीर की कविताओं की मनचाही व्याख्या सभी स्वीकार कर लें, यह लेख की मंशा है। मनचाही व्याख्या से मनमाना निष्कर्ष निकालने में सुविधा होती है। लेकिन, यह जरूरी नहीं है कि मनचाही व्याख्या और मनमाने निष्कर्ष की फतवेबाजी को सभी स्वीकार कर लें। बौद्धिक विमर्शों में इस तरह का मनचाहा और मनमानापन टिक नहीं सकता।

5. लेख में जबरदस्त हड़बड़ी है। लगभग धर्मान्तरित कराने वाले उत्साही धर्म प्रचारकों-सा। लेख समाप्त होते होते तक धीरज जवाब दे जाता है। कमोवेश आदेशात्मक स्वर में यह प्रतिपादित कर दिया जाता है कि हे, भटके हुए राही! अमुक गुरु को चुनोगे, तभी दृष्टि मिलेगी।

6. इस प्रकार दलित साहित्य और साहित्यकारों के प्रति सकारात्मक भाव रखने के बावजूद कोई भी विवेकवान पाठक/आलोचक इस लेख की तर्क पद्धति से सहमत नहीं हो सकता है। इस तरह के आलोचनात्मक लेखों से न तो दलित आलोचना में कुछ खास जुड़ता है, न कोई नया विमर्श ही छिड़ता है।



मैनेजर पांडेय : मौखिक व्यंग्य के शिखर पर खड़ा एक बड़ा आलोचक

○ अंजय कुमार

गुरुवर मैनेजर पाण्डेय को याद करना एक ऐसे अध्यापक को याद करना है, जिनकी जिह्वा सदैव व्यंग्य की तलवार की तरह काम करती रही और जिनका लेखन सदा अद्भुत साहित्य-सृजन में लीन रहा। मैनेजर पाण्डेय एक ऐसे शिक्षक की तरह हमारे सामने आते हैं, जहाँ सामने वाला अपने आप को निरुत्तर पाता है।

व्यक्तित्व में विराट यह आलोचक निश्चित रूप से ही विधाता का एक विलक्षण चमत्कार है जिसे देखने वाला मुस्कुराता है, सुनने वाला आनंद लेता है और पढ़ने वाला चमत्कृत होता है। उनका आलोचना कर्म उत्कृष्ट और बहुत महत्वपूर्ण है, उन्हें छोड़कर आधुनिक हिंदी आलोचना की चर्चा अधूरी है।

उनका व्यक्तित्व चार भागों में बाँटा जा सकता है शरीर, दिल, दिमाग और लेखनी। प्रकृति और ऊपरवाले ने उन्हें एक सामान्य शरीर दिया लेकिन उसी शरीर में एक प्रेम करने वाला दिल भी दिया जिससे वे अपने एवं अपने परिवार के साथ समाज के लिए साहित्य सृजन कर सके। जहाँ उनका दिमाग व्यंग्य और वह वक्रोक्ति का चमत्कार है वहीं उनकी लेखनी सटीक आलोचना का सुंदर और अद्वितीय संसार; जहाँ प्रतिभा की चमक है, परिश्रम की अभिव्यक्ति है और अभ्यास की साधना है। वे शिक्षक से बड़े व्यंग्यकार हैं और व्यंग्यकार से बड़े आलोचक।

स्नातकोत्तर की कक्षाओं में हमलोगों ने उनसे सूरदास के पद, आधुनिक पाश्चात्य साहित्य सिद्धांत के साथ-साथ रूसी रूपवाद और उसका अवदान पढ़ा। भक्तिकाल और सूरदास के तो विशेषज्ञ थे ही लेकिन रूसी रूपवाद पर उनका व्याख्यान उनके बहुपाठी व्यक्तित्व और पाश्चात्य मार्क्सवादी साहित्य पर उनकी मजबूत पकड़ को रेखांकित करता था। मुझे याद है कि जब वे पहली बार हमलोगों की कक्षा में आए थे तो उन्होंने बहादुरशाह जफर का एक शेर पढ़ा था -

उम्रे दराज माँग कर लाए थे चार दिन

दो आरजू में कट गए दो इंतजार में

इन दो पंक्तियों में ही उन्होंने बहुत सी बातें कह दीं। इस शेर में जफर ही नहीं उनका दर्द भी निहित था- वह कहना चाहते थे कि भारतीय भाषा केंद्र के चेयरपर्सन के रूप में उनको उतना समय ही नहीं मिलता है कि वे नियमित रूप से कक्षा लेकर हमलोगों को अपने ज्ञानामृत का पान कराएँ। खैर शायराना अंदाज से शुरू करके जब उन्होंने पाठ का श्रीगणेश किया तब पता चला कि लेखन में वे जितने संवेदनशील हैं बोलने में उतने ही व्यंग्यबाण छोड़ने वाले। किसी चीज पर टिप्पणी करना हो तो उनकी टिप्पणी व्यंग्य एवं वक्रोक्ति से भरपूर होती है और इतनी सटीक की सामने वालों की सिट्टी-पिट्टी गुम।

उनकी हर बात में व्यंग्य होता था और उनकी हर प्रतिक्रिया में वक्रोक्ति ।

एक बार एक मित्र बीमारी का बहाना करके बिहार अपने गाँव चले गए। जे.एन.यू. लौटने पर उन्होंने सर से कहा कि- सर मैं बीमार हो गया था इसलिए गाँव चला गया था। सर ने कहा लोग बीमार होने पर गाँव से दिल्ली आते हैं इलाज कराने, तुम उल्टे दिल्ली से बिहार चले गए। हाँ ! - क्या बीमारी थी?

छात्र - सर सीने में दर्द उठ गया था।

सर- अरे इस उम्र में सीने में दर्द नहीं उठेगा तो कहाँ उठेगा?

छात्र- सर मैं मेडिकल सर्टिफिकेट भी दिखा सकता हूँ।

सर- अरे बिहार से तो तुम डेथ सर्टिफिकेट भी लाकर दिखा सकते हो। बैठो.....।

पाण्डेय जी तेज दिमाग वाले और त्वरित प्रतिक्रिया देने वाले शिक्षक के रूप में हमेशा हमलोगों के सामने उपस्थित हुए। कहीं न कहीं से वे व्यंग्य करने का मसाला निकाल ही लेते थे और बड़े नाटकीय अंदाज में इसकी अभिव्यक्ति करते थे। एक बार उनके एक प्रिय शिष्य जो हमलोगों से सीनियर थे बाइक से दुर्घटनाग्रस्त हो गए। सर उनको इतना मानते थे कि उनके छात्रावास के कमरे में उनका हालचाल लेने उनके पास पहुँचे। हमारे सीनियर छात्र के एक पाँव पर प्लास्टर चढ़ा हुआ था। सर ने पूछा कि कैसे गिर गए? उन्होंने कहा कि सर गाड़ी थोड़ी तेज चला रहा था संभाल नहीं सका और दुर्घटना हो गई।

सर ने पूछा - पीछे कोई कन्या भी बैठी थी। उन्होंने शरमाते हुए कहा - हाँ। सर ने व्यंग्यवाण चलाते हुए कहा- हाँ जब लड़की पीछे बैठी हो तो गाड़ी बिना पेट्रोल के ही उड़ती है; अरे अपना और उस लड़की का तो ख्याल किया होता, देखो क्या हो गया?

सर ने अपने जीवन में बहुत दुख भी झेला है, खासकर जवान बेटे आनंद को खोया। लेकिन उनका वो मजाकिया-व्यंग्यपूर्ण स्वभाव नहीं बदला। जीवन की पथरीली भूमि पर भी उनके व्यंग्यवाण की बागनबेलिया लहलहाती रही। यह आदमी आसमान से अपने जीवन का रस खींच लेता है, नीलकंठ होकर भी साहित्य सृजन में रत रहता है - अपार जिजीविषा उनके मजाकिया व्यक्तित्व का आधार है, जहाँ आँसू छुपा कर वे नए-नए व्यंग्यपूर्ण हथियार तैयार करते हैं। अपने हृदय में करुणा और संवेदना होते हुए भी उन्होंने व्यंग्य का त्याग नहीं किया लेकिन यह कहना कि उन्हें व्यंग्य करने की तमीज नहीं; गलत होगा।

जो परिस्थिति व्यंग्य के लायक है, जो छात्र बहानेबाजी करता है, वहीं उनका व्यंग्य मुखर होता है। मैंने उन्हें सच्चे, निर्बल और गरीब लोगों पर व्यंग्यवाण छोड़ते नहीं देखा। उनके घोर विरोधी लोग भी उनकी इस कला के कायल हैं और एकांत में उनकी टिप्पणी को याद करके पुलकित होते रहते हैं।

पाण्डेय जी की मजाकिया टिप्पणी की सैकड़ों कहानियाँ उनके छात्र-छात्राओं में पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलती रहती हैं यदि सबको इकट्ठा किया जाए, तो एक मजेदार पुस्तक की रचना हो सकती है। जीवन के हर प्रसंग में हास्य-व्यंग्य ढूँढ़ लेना आसान काम नहीं, यह तो कोई विलक्षण व्यक्ति ही कर सकता है। अनगिनत दंतकथाएँ उनके नाम से प्रचलित हैं। पता नहीं वे कितनी सच हैं लेकिन जो उन्हें जानते हैं वे दावे के साथ कह भी नहीं सकते कि यह झूठ ही है।

मैंने कक्षा ही नहीं दिल्ली के कई समारोहों में उनका भाषण सुना है और विद्वानों ही नहीं बड़े-बड़े लेखकों-लेखिकाओं को उनके भाषण पर लहालोट होते देखा है। एक बार पाण्डेय जी के बाद कृष्णा सोबती को बोलना था, उन्होंने यहीं से अपना वक्तव्य शुरू किया कि पाण्डेय जी को जब सुनती हूँ तो सिर्फ उन्हीं को सुनने का मन करता है, उनके बाद कुछ बोलना व्यर्थ है। यह एक तमगा है उनकी वक्तृता

को, निश्चित रूप से इस क्षेत्र में वे इकलौते और बेमिसाल हैं। जिस सटीक, सारगर्भित और अचूक भाषा शैली से वे समालोचना करते हैं वह अद्वितीय है - इसमें संदेह नहीं।

पाण्डेय जी के व्यक्तित्व में कई पाण्डेय जी समाए हुए हैं। उनके ऊपर निदा फाजली का वो शेर बहुत सही लगता है कि -

“हर आदमी में होते हैं दस बीस आदमी।

जिसको भी देखना हो कई बार देखना।।”

ऐसा इसलिए लिखना पड़ रहा है क्योंकि ऊपरी व्यक्तित्व एवं सामान्य बातचीत में वे एक साधारण एवं मजाकिया व्यक्ति या शिक्षक के रूप में हम लोगों के सामने आते हैं लेकिन अपने लेखन में वे अपनी विद्वता का विराट रूप दिखाते हैं। उनकी सभी पुस्तकें गंभीर, बहुपाठी विद्वान एवं अद्वितीय आलोचक के रूप में उन्हें प्रस्तुत करती हैं। देशी-विदेशी, हिंदी-अंग्रेजी, रूसी-जर्मन तथा विश्वस्तरीय रचनाओं, आलोचकों की मनीषा का वे जिस तरह इस्तेमाल करते हैं वह प्रोफेसरो को भी आश्चर्य में डाल सकता है; सामान्य विद्यार्थी या पाठक तो सिर्फ अभिभूत हो सकता है। सामान्य बोलचाल में जो उनका देशज व्यंग्य उभरता है वह पुस्तक में एक प्रतिभाशाली गंभीर आलोचक की भूमिका में दिखाई पड़ता है इसलिए उनके बाहरी आवरण को देखकर भ्रम होना स्वाभाविक है। कद, आकार, बोली-वाणी देखकर जो उनके व्यक्तित्व का मूल्यांकन करेगा वह निश्चय ही उनके आलोचनात्मक अवदान को देखकर आश्चर्यचकित हो जाएगा।

पाण्डेय जी को उनके विद्यार्थीगण बहुत प्यार भी करते हैं, इसके कई कारण हैं। सर्वप्रथम तो यही कि जब भी कोई विद्यार्थी उनसे किसी काम से मिलता है तो वे धैर्य से उसकी बात सुनते हैं और यथासंभव उसे सही परामर्श भी देते हैं। हाँ, हर विद्यार्थी को अंदर से यह धुकधुकी अवश्यल लगी रहती है कि पता नहीं सर किस बात पर कैसी प्रतिक्रिया दें। जे.एन.यू. में एम.ए. के बाद एम.फिल. और पी-एच. डी. की परीक्षा विद्यार्थी के लिए जीवन की सबसे विकट परीक्षा होती है। हर विद्यार्थी चाहता है कि वह जे.एन.यू. से एम.ए. कर रहा है तो अब उसका नामांकन एम.फिल. या पी-एच.डी. के लिए हो जाए। 22-25 विद्यार्थियों में एक अजीब प्रतिस्पर्धा का जन्म हो जाता है अपने अस्तित्व को बचाने के लिए। छात्र-गण कुछ भी करने के लिए तैयार हो जाते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि बाहर से कम से कम पाँच से छह छात्र-छात्राओं को एम.फिल. या पी-एच.डी. के लिए लिया ही जाएगा। उनके सामने उनके कई सीनियर के निकाले जाने के किस्से प्रमाण-स्वरूप सामने होते हैं।

जे.एन.यू. से निकाले जाने की चिंता-रेखा हर विद्यार्थी के माथे पर होती ही है, बहुत कम लोग इस मामले में निश्चित दिखाई देते हैं, क्योंकि कई बार शिक्षकों के प्रिय छात्र भी लिखित परीक्षा में ही अनुत्तीर्ण होते देखे गए हैं। फिर, 2 वर्ष का अपना व्यवहार एवं क्रियाकलाप भी सामने होता है। यह भय बना रहता है कि अब शिक्षकों के बदला लेने का सुअवसर आ गया है। यदि लिखित परीक्षा में उत्तीर्ण भी हो गए तो साक्षात्कार में निकाल बाहर किए जाएँगे। इस पृष्ठभूमि में देखें तो हर छात्र अपनी सीट सुनिश्चित करने के लिए सभी शिक्षकों के घरों के कई-कई चक्कर लगाना अपना एकमात्र पुनीत कर्तव्य मानने लगता है। जो चापलूसी-पसंद नहीं होते हैं और शिक्षकों के यहाँ नहीं जाते उनके कानों में भी कई किस्से पहुँचते रहते हैं कि आज फलाँ-फलाँ लड़का सर से मिलने गया था, सिनोपसिस के संबंध में सर से परामर्श लेने हेतु, तो उनका आत्मविश्वास भी क्षीण हो जाता है। वे भी यह सोचने पर विवश हो

जाते हैं कि यदि कक्षा के सभी विद्यार्थीगण उनसे मिलने चले गए और वह नहीं गया तो यह तो सीधे-सीधे सर की अवहेलना होगी और शिक्षकों के इस अपमान का दंड तो भुगतना ही होगा। यह समय शिक्षकों के लिए भी बहुत दुखद होता है; रात-दिन उनको ट्रोल करने वाले छात्र कहीं न कहीं उनका पीछा करते ही रहते हैं। कहीं रिंग रोड पर टहलते हुए छात्र सुबह उठकर उनके गुजरने की प्रतीक्षा में उनके दर्शन को आतुर नजर आते हैं तो कहीं कमल कॉम्पलेक्स (K.C.) के शॉपिंग कॉम्पलेक्स में उनके सामने आने का प्रयास करते रहते हैं। सर झिड़क भी दें किंतु वे बार-बार उनके पास आते हैं ताकि उनकी नजरों में अपनी अच्छी छवि बना सकें। जब सर को नाम सहित उसका चेहरा याद हो जाएगा तो ठीक रहेगा, साक्षात्कार में काम आएगा।

हालाँकि, जे.एन.यू. के शिक्षक इन फालतू के चोंचलों में नहीं फँसते लेकिन वे भी तो इसी दुनिया के इंसान हैं। कई-कई स्रोतों से उन तक पहुँचने वाले छात्रगण अपनी पूरी शक्ति लगा देते हैं। मसलन, कोई पहले से शिक्षक से परिचित है, कोई किसी प्रोफेसर का पुत्र है जो फलाँ शिक्षक को वर्षों से जानता है, कोई प्रतिभाशाली है, कोई उसी जाति का है जिस जाति के शिक्षक महोदय हैं, कोई उनके पूर्ववर्ती प्रिय छात्र का पट्ट शिष्य है या अनुज है। शिक्षकों पर भी बहुत दबाव होता है कि किसे छोड़ें और किसे लें। निश्चय ही कुछ बाहर के अत्यंत प्रतिभाशाली विद्यार्थी होते हैं जिन्हें जे.एन.यू. में प्रवेश देना जे.एन.यू. की सार्थकता है। तब नंबर आता है उन विद्यार्थियों का जो 2 वर्षों में जे.एन.यू. में अपनी पहचान नहीं बना सके या अपनी करनी से अपनी नकारात्मक छवि बना चुके होते हैं। इस मायने में हर सत्र के छात्रों के अलग-अलग अनुभव और किस्से रहे हैं। सबके अपने-अपने संस्मरण हैं, लेकिन कई बार हमारे शिक्षकों ने तटस्थ होकर अपनी महती भूमिका को निभाया है। उन्होंने सभी पुरानी बातों को भुलाकर, राग-द्वेष, पसंद-नापसंद को किनारे करके विद्यार्थियों की परीक्षा एवं साक्षात्कार के परफॉर्मेंस के आधार पर ही उनका चुनाव किया है लेकिन यह कहना गलत होगा कि जिनका चुनाव नहीं हो पाया वे उस योग्य नहीं थे या वे आगे जाकर कुछ नहीं कर पाए। कई बार तो उनका निकलना बाद में उनके लिए फायदेमंद साबित हुआ। हर बार कोई न कोई प्रतिभाशाली छात्र छूट जाता है और प्राध्यापकों के लिए आलोचना एवं पक्षपात में पड़ने का आरोप लग ही जाता है।

इसी संदर्भ में मेरी भी पाण्डेय जी के घर जाने की स्थिति उत्पन्न हो गई। इसके पहले होली में उनके यहाँ जाने की परम्परा का निर्वाह करते हुए हमलोग उनके पास गए थे। लेकिन जब-जब किसी साहित्यिक कार्य से पाण्डेय जी से मिला उनका एक संरक्षक और सौम्य रूप ही मेरे सामने आया, न वो व्यंग्य, न वक्रोक्ति और ना वो हमला। सीधे-साधे प्रश्न का सुलझा हुआ उत्तर और यथासंभव अच्छा परामर्श जो आपको अभिभूत करने के लिए काफी है।

कक्षा को छोड़कर तीन-चार बार उनसे निजी रूप से अकेले में मिलना हुआ है और मैंने पाया कि मेरे साथ उनका व्यवहार अच्छा है। वे अचूक दृष्टि रखने वाले अध्यापक हैं उन्हें पता चल जाता है कि कौन छात्र किस मकसद से मेरे पास आया है। यदि सचमुच वो सही परामर्श लेने आया है तो वह पूर्वग्रह छोड़ कर उसे सही सलाह देंगे और यदि उन्हें लगा कि यह छद्म वेश धरकर मुझे बेवकूफ बनाने आया है तो उसे डाँटने में उन्हें देर नहीं लगेगी। वे पात्र, अवसर और क्रियाकलाप देखकर ही जैसे को तैसा वाला उपाय करते हैं। उनके पास ज्ञान के चक्षु हैं, अनुभव की दृष्टि है, छठी इंद्रिय का आत्मबोध है जिससे वे मित्र और शत्रु की गंध पहचान लेते हैं।

पाण्डेय जी आत्म प्रकाशन और आत्ममुग्धता से दूर रहने वाले अध्यापक और आलोचक हैं। उन्हें

कभी अपनी प्रशंसा पर मुग्ध होते नहीं देखा, न अपने मुँह मियाँ मिट्टू बनना उनका स्वभाव है; जहाँ तक होता है चुपचाप अपना काम करते हैं और आत्म प्रशंसा से दूर रहते हैं। जे.एन.यू. के बाहर जब उनको व्याख्यान के लिए बुलाया जाता है तब वे बाहर जाते हैं और अपना व्याख्यान देकर चले आते हैं। अनावश्यक प्रचार-प्रसार, लाव-लशकर, हल्ला-हंगामा से वे दूर रहते हैं। डॉ. नामवर सिंह वाद-विवाद करने के लिए मशहूर रहे हैं। नए-नए शहरों में नए-नए विरोधाभासी वक्तव्य देने के लिए भी जाने जाते रहे हैं लेकिन डॉ. मैनेजर पाण्डेय इस क्षेत्र में अपवाद हैं। बहुत सोच-विचार कर आलोचना में अपनी बात कहते हैं और एक बार कह देने पर उस पर दृढ़ रहते हैं।

अधिकतर वे अपनी आलोचना में नकारात्मक पक्ष को उठाते ही नहीं हैं या कहना चाहिए जहाँ उन्हें नकारात्मकता नजर आती है वहाँ कलम चलाते ही नहीं। ऐसी बात नहीं कि उनकी आलोचना ही ही नहीं सकती लेकिन उनका प्रयास रहता है कि साहित्यिक छीछालेदर में न पड़ें क्योंकि उससे कुछ फायदा होने वाला नहीं। इसलिए वामपंथी और प्रगतिशील विचारधारा के रहते हुए भी वे सिर्फ उस खूँटे से बँधे हुए नहीं हैं। एक मानवतावादी आलोचक के रूप में उन्हें सदा याद किया जाएगा।

उनके आलोचना-कर्म का दायरा बहुत विशाल है। साहित्य के इतिहास का विषय हो या साहित्य के समाजशास्त्र का, भक्तिकाल के कवियों की सांस्कृतिक आलोचना हो या आधुनिक काल के रचनाकारों का मूल्यांकन; उनकी दृष्टि अचूक रूप से नए-नए पक्षों के उद्घाटन में सतत रचनाशील रही है। बड़े शांतचित्त से वे अपना कार्य एकाग्रता से करते रहते हैं, उन्हें बहुत कुछ बनने की न जल्दी है न हड़बड़ी। उन्होंने ऐसी-ऐसी पुस्तकें लिखी हैं जो आगे आने वाले समय में उन्हें बहुत यश देने वाली हैं।

डॉ. पाण्डेय स्थिर चित्त वाले, प्रखर प्रतिभा वाले बेजोड़ आलोचक हैं। वे हड़बड़ी या जल्दबाजी में कोई पुस्तक या लेख नहीं लिखते। पढ़ते हैं, पचाते हैं और जब आलोचना के सरोवर का जल शांत हो जाता है तब थाह-थाह कर उसमें अपने पाँव जमाते हैं। अधिक पढ़ना, उससे अधिक समझना, उससे अधिक चिंतन-मनन करना और तब लिखना उनका रचनात्मक स्वभाव है। इसलिए अपने जीवन के आरंभिक काल में उन्होंने कम लिखा लेकिन जो लिखा ठोस और बेजोड़। उनकी एक-एक पुस्तक अंगद के पाँव की तरह साहित्य की भूमि पर अडिगता से खड़ी है, उन्हें ढिगाना आसान नहीं। इधर 20 वर्षों से उनकी कई पुस्तक, लेख, भाषण, साक्षात्कार प्रकाशित हुए हैं लेकिन इसके पीछे 60 वर्षों की साहित्य साधना है।

पाण्डेय जी अत्यंत जागरूक शिक्षक एवं आलोचक हैं। इसका एक अच्छा साक्ष्य मेरे पास है। रूसी रूपवाद वाले टेस्ट में उन्होंने दो-तीन टॉपिक हमलों को देते हुए कहा कि इन्हें पढ़ लेना, इन्हीं में से टेस्ट में प्रश्न पूछूँगा। टेस्ट के दिन सर ने सिर्फ एक प्रश्न दिया – सबलोग थोड़ा अर्चिभित हुए किंतु जिसकी जैसी तैयारी थी वैसा सबने लिखा। 10 दिन बाद सर टेस्ट की कॉपी दिखाने आए तो उन्होंने मेरे एक मित्र का नाम लेकर सबसे पहले उन्हें अपने पास बुलाया और उनसे व्यंग्यपूर्ण भाषा में पूछा कि क्या तुम समझते हो कि मैं भाँग खाकर या पीकर कॉपी जाँचता हूँ। तो मेरे उस सहपाठी ने कहा- नहीं सर। सर ने कहा- तो तुमने उस प्रश्न का उत्तर क्यों नहीं दिया जो प्रश्न दिया गया था, तुमने उस दूसरे प्रश्न का उत्तर दिया जो मैंने टेस्ट में पूछा ही नहीं था। मेरे सहपाठी अपराधी की तरह खड़े रहे और सर के बहुत पूछने पर बतलाया कि मैंने सोचा था कि आप दो-तीन प्रश्न अथवा के रूप में देंगे इसलिए मैंने सिर्फ एक टॉपिक की तैयारी की थी। सर ने कहा- वाह भाई; वाह !! अब तुम ही बताओ- मैं

तुम्हें क्या ग्रेड दूँ?

हम लोग जानते थे कि सर अत्यंत व्यस्त प्रोफेसर हैं, उनके ऊपर बहुत जिम्मेदारी है, चेयरपर्सन की, एम.फिल., पी-एच.डी. करने वाले छात्रों की, बाहर सेमिनार में जाने की लेकिन उन सबको समय देते हुए भी वे शिक्षण और परीक्षण के लिए पर्याप्त समय निकाल लेते थे। इसलिए लिख रहा हूँ कि वे एक सतत सतर्क शिक्षक थे, बिना पढ़े वे ग्रेड नहीं देते थे, एक-एक पंक्ति पढ़कर वे छात्रों का मूल्यांकन करते थे नहीं तो वे कैसे मेरे सहपाठी की गलती पकड़ लेते। उनके साथ काम करने वाले (एम.फिल., पी-एच.डी. के) विद्यार्थीगण ही जानते हैं कि पाण्डेय जी कितनी बार उनसे पुनर्लेखन करवाया करते थे। जब तक वे विषय, भाषा एवं निष्कर्ष से सहमत नहीं होते थे तब तक अपने प्रिय से प्रिय छात्र से और मेहनत करने की सलाह देते रहते थे, कभी डाँट कर, कभी व्यंग्य कर, कभी स्नेह से। उनके द्वारा एम.फिल. एवं पी-एच.डी. करवाने वाले विषय की यदि सूची बनाई जाए तो उनके उस सजग प्रहरी का रूप सामने आएगा जो साहित्य के दरवाजे पर खड़ा मौलिक एवं नए विषयों पर शोध करवाने हेतु कटिबद्ध है। वे न सिर्फ नए विषय सुझाते थे बल्कि ऐसे-ऐसे विषय पर काम करवाते थे जो दूसरे विश्वविद्यालयों के शिक्षकों के लिए कल्पना से परे हैं। मुझे याद आ रहा है कि एम.फिल. के विषय के रूप में उन्होंने मेरे मित्र एवं अनुज कमलेश वर्मा को एक अद्भुत विषय पर काम करने की सलाह दी '1936 में हिंदी साहित्य'। हिन्दी में न इसके पहले किसी 1 वर्ष को लेकर काम हुआ था न शायद बाद में हुआ हो। सर के मस्तिष्क में मौलिकता का अंकुर फूटता रहता है और वे अपने विद्यार्थीगण को उसपर काम करने की प्रेरणा देते रहते हैं। कहना चाहिए कि वे न सिर्फ एक सच्चे अध्यापक हैं, न सिर्फ बड़े आलोचक बल्कि एक अच्छे मार्गदर्शक भी हैं जो अपने छात्रों द्वारा मौलिक और नए-नए विचारों पर कार्य करने हेतु प्रेरणा भी देते हैं और मार्गदर्शन भी करते हैं। कबीर की ये पंक्तियाँ उन पर सटीक बैठती हैं -

सद्गुरु की महिमा अनंत, अनंत किया उपकार।

लोचन अनंत उधारिया, अनंत दिखावणहार॥

एक निष्ठावान, कर्तव्यपरायण एवं दायित्वबोध से भरे हुए एक महान शिक्षक की भूमिका में वे हमलोगों के सामने आते हैं लेकिन वे एक आकाशधर्मा गुरु के रूप में भी हमें यह छूट देते हैं कि जिस विषय पर तुम काम करना चाहते हो - उसी विषय पर गहनता से शोध करो। जो अपना विषय चुनकर आता है वह उसी पर उसको परामर्श देते हैं लेकिन जो दुविधा में रहता है उसको उसी की रुचि एवं सामर्थ्य के अनुरूप विषय चुनकर देते हैं। वे कभी अपना मत, अपने विचार अपने छात्रों पर थोपते नहीं - बल्कि यथासंभव एक लोकतांत्रिक स्वभाव बनाए रखते हैं ताकि शोधार्थी भी अपने निष्कर्ष पर पहुँच सके लेकिन उसके प्रमाण एवं तर्क सही होने चाहिए।

ऐसे तो जे.एन.यू. के प्रोफेसर भाषा पर बहुत ध्यान देते हैं किंतु तलवार जी एवं पाण्डेय जी इस मामले में बहुत सजग दिखाई देते हैं। भाषा के संदर्भ में तलवार जी का आग्रह सदैव यही रहा है कि ऐसी हिंदी का विकास हो जो सरल-सहज और संप्रेषणीय हो, प्रेमचंद की भाषा की तरह, हिंदुस्तानी भाषा। संस्कृतनिष्ठ, गरिष्ठ एवं अत्यधिक अलंकृत भाषा के वे कभी पक्षधर नहीं रहे। पाण्डेय जी भी अपने छात्रों से ऐसी भाषा की मांग करते थे जो सरस, सजीव और लयबद्ध हो। जिसे सुनकर लगे की भाषा अपने सही प्रवाह में है। इसका एक अच्छा उदाहरण कक्षा की संगोष्ठी में सामने आया। एक संगोष्ठी में मेरे एक सहपाठी की भाषा सुनकर सर भड़क गए उन्होंने कहा कि लगता है तुम्हारे शब्द अटेंशन की मुद्रा

में खड़े हैं और उनका आगे पीछे के शब्दों से कोई तालमेल नहीं है। मेरे वे सहपाठी अच्छा लिखते थे और भाषा के अच्छे जानकार थे इसलिए सर ने जब ऐसा कहा तो हमलोग सकते में आ गए लेकिन सर के कान इतने अनुभवी हैं कि वे कुछ ही देर में उनकी भाषा की समस्या को समझ गए। उनका भाषिक संस्कार इतना उन्नत है कि उन्होंने उस सहपाठी की भाषा पर जो टिप्पणी की वह एकदम सही थी। शब्दों का चयन, उसका संगुम्फन और वाक्य की बनावट के आधार पर उन्होंने यह बात कही थी। बड़े-बड़े शब्द जमाकर कोई वाक्यों की ऊँची-ऊँची दीवार अवश्य बना ले लेकिन उससे साहित्य का ताजमहल नहीं बन सकता। उसके लिए शब्दों का सही चुनाव होना चाहिए, एक शब्द से दूसरे शब्द का सही तालमेल होना चाहिए और वाक्यों की ऐसी क्यारियाँ बननी चाहिए जिससे साहित्य सृजन के बाग की सुंदरता बढ़ जाए। सर की आलोचना पढ़कर इस बात को प्रमाणित किया जा सकता है कि कैसे उन्होंने शब्दों की कठिन साधना की है और भाषा का इतना सुंदर उपयोग किया है। कहना चाहिए आलोचना की एक नई भाषा को जन्म दिया है। उनकी आलोचना में जो भाषिक चमत्कार है वह मन के मृदंग को बजा देता है। जैसे संगीत में शास्त्रीय सुरों से आनंद उत्पन्न होता है वैसे ही आनंद पाण्डेय जी की आलोचकीय भाषा में है। जैसे प्राचीन मंदिरों की दीवारों पर एक से एक मूर्ति उत्कीर्ण कर उसे अलंकृत किया गया है वैसे ही उनकी भाषा में भाषा की कलाकारी मौजूद है, यह बहुत अभ्यास से पाई हुई भाषा है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, डॉ. रामविलास शर्मा एवं डॉ. नामवर सिंह की आलोचना में यह चमत्कार कहीं-कहीं दिखता है जबकि पाण्डेय जी की भाषा में यह भाषिक कौशल अधिकांश जगह परिलक्षित होता है। ये वो जगह हैं जहाँ आलोचक कई बिंदुओं को एक जगह मिलाकर एक उद्यान बनाता है जो आलोचना के मरुस्थल में ठहरकर विश्राम करने की इच्छा जागृत करता है। कहना चाहिए ये वो स्थल होते हैं जो सारांशतः या निचोड़ के रूप में प्रस्तुत किए जाते हैं।

शिक्षक के अतिरिक्त एक बड़े आलोचक की भूमिका निभाते हुए उन्होंने कुछ अनुवाद कर्म भी किया है और कुछ पत्रिकाओं के संपादन में भी अपना योगदान दिया है। उनके व्यक्तित्व में समन्वय और संतुलन का एक अद्भुत संगम देखने को मिलता है। नगर-महानगर में रहकर भी वे गाँव को नहीं भूल पाए लेकिन उनकी सोच कई मायनों में आधुनिक है। हिंदी तो उनके रंग-रंग में समाई हुई है लेकिन पर्याप्त मात्रा में उन्होंने संस्कृत, उर्दू और अंग्रेजी को भी पढ़ा और आत्मसात किया है। वामपंथ और मार्क्सवाद की ओर उनका झुकाव अवश्य रहा लेकिन सक्रिय राजनीति के दाँव-पेंच में कभी उलझे नहीं।

ज्ञान और जिज्ञासा ने उन्हें देशी-विदेशी साहित्य की ओर उन्मुख किया तो भक्तिकाल और आधुनिक लेखन ने उन्हें लिखने को मजबूर। इन सब अलग-अलग चीजों को जीवन में समाहित और संतुलित करके ही वे एक बड़े आलोचक बन सके। अतिवादी वे कभी हो न सके, संतुलित आलोचना ही उनके लेखन का सौंदर्य है।

पाण्डेय सर अपने हर छात्र के जीवन में उसी तरह पैबस्त हैं जैसे शरीर में आत्मा होती है। कोई छात्र चाहकर भी उन्हें अपने से अलग नहीं कर सकता। उनकी हर एक बात हमलोगों के दिलो-दिमाग पर ऐसे उत्कीर्ण हो जाती थी जैसे पत्थर पर शिलालेख। वर्षों बाद भी उसे आसानी से स्मरण किया जा सकता है। उनकी वो खास आवाज आज भी कानों में गूँजती रहती है – जो इतनी विशेष है कि हजारों आवाज में भी उसे भूलना संभव नहीं है। उनकी व्यंग्य मुद्रा के साथ उनकी भाव-भंगिमा एक संपूर्ण बिम्ब का निर्माण करती थी और आज तक वो हृदय पटल पर अंकित है उसे किसी भी तरह से मिटाया नहीं

जा सकता। पाण्डेय जी के किसी भी छात्र से पूछ लीजिए वह कोई न कोई चुटकुला, संस्मरण उनके बारे में उसी तरह सुना देगा जैसे उसकी कक्षा में उसके सामने हुआ था- यह है उनकी उपस्थिति। जैसे श्री कृष्ण गोपियों के मन में बस गए थे और आँखों से ओझल होकर भी उनको भूलना गोपियों के वश में नहीं था वैसे ही पाण्डेय जी भले हमारी आँखों के आगे नहीं हैं लेकिन जब भी उनकी याद आती है हमलोग अपने दिल के किसी कोने में जाकर उनका दर्शन कर लेते हैं और मुस्कुरा उठते हैं। महाकवि सूरदास की भाषा में कहूँ तो -

उर में माखन चोर गड़े ।

अब कैसेहूँ निकसत नाहीं तिरछे हवै जो अड़े ॥

ईश्वर से यही कामना है कि वे स्वस्थ रहें, प्रसन्न रहें, साहित्य सृजन करते रहें, व्यंग्यबाण छोड़ते रहें और हमारी यादों में अमर रहें।



गाँव के बहाने चट्टनियाँ बाबा का स्मरण

○ केदार सिंह

[यह संस्मरण साहित्यिक ई-पत्रिका 'अपनी माटी', अंक-16, अक्टूबर-दिसम्बर, 2014 में प्रकाशित है।]

मेरे गाँव का नाम सलगी है। इसके अलग-अलग कई छोटे-छोटे टोले हैं। मेरा घर जिरूआ खुर्द में पड़ता है। मेरे घर से दांयी ओर यानी उत्तर की ओर टुंडाग है। टुंडाग पाँच बखरियों में बटा हुआ है। दक्षिण की ओर सलगी बखरी, भूतहा, अलगडीहा है। पूरब में एरेगडा, पश्चिम में लेदहा, बेंती, कुरुमड़ाड़ी आदि छोटे-छोटे गाँव हैं। इन्हीं छोटे-छोटे गाँवों या टोलों को मिलाकर एक नाम 'सलगी' दिया गया है। यहाँ विभिन्न जातियों के लोग अलग-अलग हिस्से में बड़े प्रेम और भाईचारे के साथ से रहते आए हैं। शायद इसी प्रेम या एकता का नाम सलगी है। इसी गाँव में जन्मा, खेला, कूदा, बचपन बीता। प्रारंभिक शिक्षा के बाद की पढ़ाई के लिए शहर आना पड़ा और नौकरी पेशे के कारण यहीं का होकर रह गया, पर आज भी हमारी आत्मा गाँव से जुड़ी है। उसी की एक धुंधली तस्वीर स्मृतियों में उभर आई है।

घने जंगलों, बाग-बगीचों, खेत-खलिहानों से घिरे गाँव के कच्चे मकानों वाले मिट्टी के आंगन को जब होली, दशहरा, दीपावली आदि तीज-त्योहारों के अवसर पर गाय के गोबर से लीपा जाता था, तब गजब की त्योहारी महक मन को हर्षित कर देती थी। बच्चों क्या ? बूढ़े, जवान, स्त्री-पुरुष सभी को त्योहारों की बड़ी बेसब्री से प्रतीक्षा होती थी। चारों ओर उल्लास ही उल्लास, खुशी का वातावरण छाया रहता था। त्योहारों के अवसर पर देशी घी में बनने वाले पकवानों की सुगंध से भूख और बढ़ जाती थी। ऐसे भी चतरा जिला देशी घी के लिए प्रसिद्ध है।

मेरे गाँव की जीविका का मुख्य स्रोत खेती है। लोग खूब मजे में जमकर खेती करते हैं, किन्तु जमीनी धरातल पर यहाँ एक जैसी समानता नहीं है। किसी के पास पच्चीस एकड़ जमीन है, किसी के पास सौ एकड़ है, किसी के पास पाँच एकड़ है तो कोई धूर भर जमीन के लिए भी तरस रहा है। मजदूरों के अभाव में ज्यादातर खेती बटाय पर निर्भर करती है। यहाँ की जमीन सिंचित, असिंचित दोनों तरह की है। सिंचाई के लिए आहर, पोखर, कुँए का प्रयोग किया जाता है। ऐसे तो गाँव में छोटे-छोटे तीन-चार तालाब हैं, पर गाँव के पश्चिम में एक बड़ा सार्वजनिक तालाब था। 'था' इसलिए कह रहा हूँ कि आज उस तालाब को निजी कर लिया गया है। उस तालाब के साथ अनेक स्मृतियाँ जुड़ी हुई हैं। तालाब से दांयी ओर करीब एक किलोमीटर दूरी पर स्थित मिडिल स्कूल की कक्षा तीन में जब मैं पढ़ रहा था, उस समय कुछ लड़कों के साथ दोपहर में स्कूल से निकलकर तालाब में नहाने चला गया। ठीक उसी समय पिताजी उसी तालाब वाले रास्ते से गुजर रहे थे। अचानक उनकी नजर मुझ पर पड़ गयी और उल्टे पैर मेरे पास आकर उन्होंने मुझे कपड़े पहनाये और स्कूल की ओर ले गए। वहाँ ले जाकर उन्होंने मुझे

इतनी चपत लगाई कि मैंने फिर कभी तालाब की ओर मुड़कर नहीं देखा। आज यह तालाब अपनी वर्तमान स्थिति पर रो रहा है, किन्तु इसका विगत जीवन बड़ा ही सरस, सुमधुर एवं रोमांचक रहा है। एक लंबे, चौड़े हिस्से में फैले इस तालाब से जब सुखती हुई फसलों के लिए पानी छोड़ा जाता था तब उसे आत्मिक तृप्ति होती थी। छठ के समय जब सैकड़ों महिलाएँ एक साथ पवित्र भाव से जल में सूर्य को अर्घ्य देती थीं, उस समय वह धन्य-धन्य हो जाता था। आज इसे अलग-अलग खेत के टुकड़े में विभाजित कर लोगों ने उसके हृदय को विदीर्ण कर दिया है। उसका अस्तित्व एक छोटे हिस्से में सिमट कर रोने पर मजबूर है। अब इस तालाब में मछलियाँ उछलती, कूदती हुई नजर नहीं आती हैं और न ही पवित्र छठ का अर्घ्य दिया जाता है।

इसी गाँव में हमारे एक बाबा हैं। वे किसी एक के बाबा नहीं, बल्कि पूरे गाँव के बाबा हैं। गाँव के बच्चे, बूढ़े, जवान, स्त्री, पुरुष सभी के बाबा हैं। गाँव क्या शहर, बाजार, जिला, राज्य, जहाँ तक इनकी ख्याति है, आदर से सभी इन्हें बाबा कहते हैं। श्रद्धा और सम्मान से लोग जो कुछ इन्हें मांगते हैं, बाबा के हाथ सदैव उनके लिए खुले रहते हैं। मेरे घर से ठीक पूरब, दो किलोमीटर की दूरी पर, जहाँ से जंगल शुरू होता है, बाबा का वहीं निवास है। बाबा को हाथी, घोड़े बहुत पसंद हैं। इसके विकल्प में लोग मिट्टी से बने हाथी, घोड़े बड़ी श्रद्धा भाव से बाबा को समर्पित करते हैं। बाबा को बकरे की बली भी बहुत भाती है। जल से अभिषेक कराकर, पुष्प, अच्छत, चन्दन तथा घोड़े, हाथी चढ़ाकर बकरे की बली दी जाती है, तब बाबा काफी प्रसन्न हो जाते हैं। बाबा के पुजारी को पाहन कहा जाता है, जो गंडू जाति का होता है। वह व्यक्तिगत तथा कभी-कभी पूरे गाँव के लिए बाबा की पूजा करता है, और गाँव की सुख, समृद्धि और शांति की मंगल कामना करता है। जंगल तो अब नाम मात्र का रह गया है, फर्नीचर, घर तथा जलावन के लिए हर साल सारे पेड़ काट लिए जाते हैं। मुझे याद है- बचपन में जब घर से शहर, बाजार जाने के लिए निकलता था, तो सात किलोमीटर की दूरी, इसी घनघोर जंगल के बीच बनी कच्ची सड़क से तय करनी पड़ती थी। उस समय गाँव में आज की तरह गाड़ियाँ नहीं चलती थीं। आने-जाने के साधन पैदल या साईकिल थी। अब जंगल के नाम पर रास्ते में कुछ छोटे-छोटे पेड़-पौधे ही शेष रह गए हैं, लेकिन बाबा का जहाँ निवास है, वहाँ हाल-फिलहाल तक आस-पास कुछ बड़े-बड़े पेड़ मौजूद थे। बाबा के प्रति श्रद्धा-भाव या भय के कारण लोग इन पेड़ों को हाथ नहीं लगाते थे; किन्तु, जैसे-जैसे शिक्षा रूपी सभ्यता का रंग लोगों पर चढ़ता गया, धर्म तथा ईश्वर, के प्रति आस्था कमने लगी। लोग जिन बरगद, पीपल, आंवला आदि के पेड़ों की पूजा करते थे, सभ्यता की आंधी ने उन्हें भी धराशायी करवा दिया और देखते ही देखते बाबा के आस-पास प्रहरी के समान डटे दरख्तों को भी नहीं छोड़ा। बाबा की कुटिया अब उजाड़ हो गई है। बाबा ने उन जंगल उजाड़ने वालों को भी माफ कर दिया। ऐसे उदार विचार वाले तथा पूरे गाँव की रक्षा करने वाले हैं हमारे चट्टनियाँ बाबा।

गाँव से सटे पश्चिम की ओर मेरे घर से करीब तीन किलोमीटर की दूरी पर एक बड़ा बरगद का पेड़ तपती दोपहरी के समय भी अपनी सघन छाया में धमाचौकड़ी करते हुए बच्चों को देखकर बड़ा प्रसन्न होता था। थके हारे राहगीर, मजदूर, चरवाहे जब छाया में थोड़ी देर विश्राम करने के लिए आते थे, तब उन्हें अपनी हरी-हरी पत्तियों से शीतलता प्रदान करने में उसे अद्भुत आनन्द की प्राप्ति होती थी। उसकी छाया के एक हिस्से में पशु विश्राम करते थे, तो दूसरे हिस्से में बच्चे खेलते थे, बड़े-बूढ़ों की पंचायत लगती थी। उसकी बड़ी-बड़ी डालियों पर अनेक तरह के पक्षी घोंसले बनाकर चैन की नींद सोते थे, तथा जड़ों की खोदों में भी विभिन्न प्रकार के जीव-जन्तु एक दूसरे को आहत किए बिना

सुखपूर्वक दिन गुजारते थे। न जाने कब लकड़ी-कोयला के तस्करों की नजर उस पर पड़ गई? और सदा के लिए गाँव के सर से उस पितृ तुल्य अक्षयबट की छाया को उन लोगों ने छीन ली। करीब चौतीस-पैंतीस सौ वर्गफीट में फैले सैकड़ों पैरों पर खड़े उस विशाल पेड़ को लोगों ने काट दिया। वह साधारण पेड़ नहीं था, वह तो पूरे गाँव के जीवन का प्रतीक था, पशु-पक्षियों का आधार था। मुझे स्मरण है जब उस विशाल पेड़ को काटा गया था तब उसकी बड़ी-बड़ी शाखाओं पर घोंसले बनाकर या खोड़रों में रहने वाले चील, कौए, तोता, मैना, गिलहरी, साँप आदि सभी वहाँ आकर पेड़ के घोंसले तथा खोड़रों में अपने अंडे, बच्चों को ढूँढ़ते थे। नहीं मिलने पर उनका करुण-क्रन्दन लगातार कई दिनों तक सुनाई पड़ता था। अब वहाँ न तो चिड़ियों की चहचाहट सुनाई देती है, न मातृत्व-पान कराने के लिए रंभाती हुई गायें दिखाई देती हैं और न हीं कोटरों से झाँकते हुए, फुदकते हुए गिलहरी के बच्चे दिखाई देते हैं।

कल काट दिया गया
मेरे गाँव का आखिरी बरगद
यह बरगद बड़ा था
काफी बूढ़ा था
पता नहीं परिन्दे अब कहाँ
बनायेंगे अपने घोंसले
धूप और बरसात में
कहाँ होगा अब
गाय और बकरियों का बसेरा
अब कभी नसीब नहीं होगी
इस गाँव को बड़े पेड़ की छाया
बगुले और मैने अब कहाँ
डालेंगे अपना डेरा
कौन देगा छाया अब
तपती दोपहरी में
चरवाहों को और स्कूल जाते हुए बच्चों को
बारिश में भींग जायेगी मैना
और लू में झुलस जायेगा कौआ
मैना जो दाना चुगने के लिए
कभी-कभी आती है हमारे घरों में
और फुदकती रहती है हमारे
आस-पास
कौआ जो मुँडेर पर
बैठकर शुभ संदेश सुनाता है
और अतिथियों के आने की
सूचना देता है

सभी लू में झुलसकर
तड़प-तड़प कर अपनी जान दे देंगे
क्योंकि सोने के अंडे
देने वाली मुर्गी के समान
हलाल कर दिया लोगों ने
कल मेरे गाँव के
आखिरी उस बरगद को
और उसकी लकड़ियों से
कोयला बनाकर बेच दिया
शहर में।

शहरों की तरह अब हमारे गाँव में भी परिवर्तन दिखने लगा है। यहाँ भी एकल परिवार की प्रथा प्रारंभ हो गई है। संयुक्त परिवार टूटने लगे हैं, घरों के अन्दर एक नया घर बनने लगा है, एक नया चूल्हा जलने लगा है। यह विघटन घर के टूटने तक ही सीमित नहीं है। पहले घर टूटा, परिवार टूटा, जाति टूटी, और अब इस गाँव की सामाजिक समरसता भी टूटने लगी है। पूरे गाँव में एक पारिवारिक माहौल था। ऊँच-नीच, अमीर-गरीब, किसान, मजदूर, स्त्री-पुरुष, लड़के, लड़कियाँ, अपनी-अपनी उम्र के हिसाब से रिश्तों की डोर में बंधे थे। स्वर्गीय खिरू चाचा, जो एक मोची थे, वे मेरे घर में काम करते थे, उनकी एक बेटी 'रमिया' जो मुझे भैया कहती थी, और राखी भी बाँधती थी। मैं भी उसे एक छोटी बहन की तरह सम्मान देता था। इस तरह पूरा गाँव रिश्तों के स्नेह सूत्र में बंधा हुआ था। गाँव के इस सौहार्दपूर्ण व्यवस्था को असामाजिक तत्वों के साथ मिलकर राजनीतिक दलालों ने कभी धर्म के नाम पर, कभी जाति के नाम पर, कभी ऊँच-नीच के नाम पर विध्वंस कर डाला। घर के अन्दर जब एक नई दीवार खड़ी होती है और जब ग्रामीण मर्यादाएँ टूटती हैं, रिश्तों की हत्या की जाती है, समाज में छोटा-बड़ा, ऊँच-नीच का भेद-भाव फैलाया जाता है, तब लगता है गाँव अपनी अस्मिता खो रहा है और तब गाँव की आत्मा रो पड़ती है।

मुझे स्मरण है कि मेरे गाँव की गति कभी काफी तीव्र थी, लोगों के परिश्रम से पूरे गाँव में हरियाली ही हरियाली छायी रहती थी, लोग परिश्रम से कभी जी नहीं चुराते थे। किसान-मजदूर सभी अपना दायित्व समझकर काम करते थे। गाँव विहँसता और दौड़ता था। आज उसी गाँव की जिन्दगी किसी तरह रेंग रही है। केन्द्र तथा राज्य सरकार की विभिन्न योजनाओं के बावजूद यह अशिक्षा, बेरोजगारी तथा अन्धविश्वास से ग्रसित है। इतनी अधिक आबादी वाले गाँव में एक सरकारी अस्पताल तक नहीं है। बिजली के पोल गाड़ दिए गए हैं, पर बिजली नहीं है। खेत हैं पर सिंचाई के साधन नहीं हैं, बेरोजगार नौजवान शराब पीकर या तो ताश खेलते हैं, या बेरोजगारी अथवा उग्रवाद के भय से गाँव को छोड़कर शहर की ओर पलायन कर जाते हैं। गाँव में बच जाते हैं, उम्र से पहले अपनी जवानी गँवा बैठे जर्जर और शिकस्त बूढ़े।



प्रो. नंदकिशोर नवल : पाठ-केन्द्रित आलोचना के शिखर

○ कमलेश वर्मा

लिप्यंतरण : सुशांत कुमार

[यह वक्तव्य डॉ. कमलेश वर्मा के द्वारा प्रो. नंदकिशोर नवल के निधन के उपरांत उनके पुण्य स्मरण में दिया गया था जो जनशक्ति के फेसबुक पेज पर वीडियो रूप में उपलब्ध है।]

हमलोग जानते हैं कि प्रोफेसर नंदकिशोर नवल का देहावसान परसों रात (12 मई, 2020) बारह बजे हुआ! आदरणीय नवल जी हमलोगों में से बहुत से लोगों के गुरु रहे हैं और हमारे कई गुरुओं के भी गुरु रहे हैं! नवल जी ने एक लंबे समय तक अध्यापन का काम किया! वे पटना विश्वविद्यालय के दुर्लभ प्राध्यापकों में से एक थे! पटना विश्वविद्यालय में कुछ ऐसे प्राध्यापक हुए हैं जिनका व्यक्तित्व अखिल भारतीय रहा है! जिनके लिखे हुए को पूरे भारतवर्ष के स्तर पर पढ़ा जाता था! जैसे, हम सबसे पहले आचार्य नलिनविलोचन शर्मा का नाम लेते हैं, जिनके लिखे हुए को पूरे भारत में निर्णयात्मक माना जाता था! आचार्य नलिनविलोचन शर्मा के बाद हमलोग केसरी कुमार को याद करते हैं, केसरी कुमार नकनवाद के तीन कवियों में एक थे! इसी कड़ी में हमलोग आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा को भी जानते रहे हैं! हमलोग इनका नाम अखिल भारतीय व्यक्तित्व के रूप में लेते हैं! यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी कि प्रोफेसर नंदकिशोर नवल उस हिंदी विभाग के अंतिम प्राध्यापक थे जिनके लिखे हुए को अखिल भारत में पढ़ा जाता था! नवल जी के लिखे हुए में ऐसा क्या था जो उन्हें अखिल भारतीय व्यक्तित्व प्रदान करता था! मैं बहुत ज्यादा तो उनके करीब नहीं रहा, लेकिन मैंने उनके लिखे हुए एक बड़े हिस्से को पढ़ने की कोशिश की है !

मुझे 1995 में उनसे पढ़ने का मौका मिला था! 1995 से 96 के एम.ए. फर्स्ट ईयर के दौरान उनके क्लास में बैठने का मौका मिला! फिर 96 में मेरा एडमिशन जे.एन.यू. में हो गया तो मैं वहाँ चला गया! 97 में नवल जी ने अवकाश प्राप्त किया! काशीनाथ सिंह ने अपने गुरुओं को याद करते हुए अपने गुरु बच्चन सिंह को भी याद किया है! उन्होंने एक बात कही है बच्चन जी बड़े स्वस्थ थे, अद्यतन थे! उन्होंने मजाक करने की शैली में एक बात कही है कि बच्चन जी भरी जवानी में रिटायर हो गये थे! नवल जी को भी उस समय देखकर ऐसा लगता नहीं था कि रिटायरमेंट जैसी कोई उम्र उनके सामने है! गुरुदेव का व्यक्तित्व ऊपरी तौर पर ही नहीं भीतरी तौर पर भी महान था! उनका ऊपरी रूप था अच्छे कपड़े पहनना, अच्छा बोलना और अच्छा खाना! उनकी ये सारी चीजें भी काफी महत्वपूर्ण थीं! उन्हें देखकर ऐसा लगता नहीं था कि वे रिटायर हुए हैं और सचमुच वे रिटायर हुए नहीं थे! अवकाश प्राप्ति के तुरंत बाद 1999 के मई-अप्रैल से उन्होंने एक पत्रिका का संपादन किया! इस पत्रिका का नाम था 'कसौटी'!

हम सब जानते हैं कि उन्होंने पहले भी कई पत्रिकाओं का संपादन किया था! वे बहुत अनुभवी और मँजे हुए संपादक थे! नवल जी जितने बड़े लेखक थे, उतने ही बड़े संपादक और उतने ही बड़े अध्यापक थे! इन तीनों बातों के भीतर ही उनके व्यक्तित्व को समझा जा सकता है! 1999 में जब उन्होंने 'कसौटी' पत्रिका की शुरुआत की तो पहले ही अंक में अपना संकल्प प्रकट किया कि इस पत्रिका के कुल पंद्रह अंक निकलेंगे! अर्थात् सोलहवाँ अंक नहीं निकलेगा! याद कीजिये यह वह समय था जब 'आलोचना' जैसी पत्रिका लगभग बंद हो चुकी थी! मुझे जहाँ तक याद है कि 'आलोचना' पत्रिका उस समय नहीं छपती थी! इसकी कुछ समस्या रही होगी! 'कसौटी' ने आलोचना जैसी पत्रिका की कमी को न केवल पूरा किया था, बल्कि कई मामलों में आलोचना से बढ़कर इस पत्रिका ने काम किया था! किस अर्थ में यह कह रहा हूँ, देखिए 'आलोचना' पत्रिका बहुत लंबे समय से निकल रही थी! लगभग 1950 के आसपास से यह पत्रिका निकल रही थी और जाहिर है कि जिस पत्रिका की उम्र लंबी होती है उसमें अच्छा-बुरा समय सब आता है! आलोचना पत्रिका के साथ भी ऐसा ही हुआ! अच्छी टीम मिली होगी तो पत्रिका अच्छी निकली होगी और टीम का संयोजन अच्छा नहीं हुआ होगा तो पत्रिका अच्छी नहीं निकली होगी! एक ऐसे समय में जब हिंदी में आलोचना के क्षेत्र में एक सूनापन महसूस हो रहा था उस समय नवल जी की 'कसौटी' पत्रिका हमलोगों के सामने आयी! उन दिनों मैं एम.फिल का विद्यार्थी था, तब मुझे 'कसौटी' का पहला अंक प्राप्त हुआ था! उसके कुल पंद्रह अंक आए थे और उनमें उस जमाने के बड़े-बड़े लेखकों की रचनाएँ छपी थीं! 'कसौटी' के पहले अंक में ही नवल जी ने अपने समकालीन लेखन के प्रति जो प्रतिबद्धता दिखाई है वह बहुत सराहनीय है! वे स्थापित से लेकर नवोदित तक की रचनाओं पर अपना एक विचार रखते थे!

पहले अंक में प्रेम रंजन अनिमेष की और राजेश जोशी की भी कविताएँ हैं। नये और पुराने लेखक के रूप में उनकी कविताएँ यहाँ दिखती हैं! इसमें नागार्जुन की कविताएँ एक स्थापित कवि के रूप में रखी गयी हैं! इसमें बहस भी रखी गयी है, जिसमें सच्चिदानन्द, अशोक वाजपेयी और भीष्म साहनी के विचार कुछ प्रश्नों के इर्द-गिर्द रखे गए हैं! इस पहले ही अंक में नामवर जी का एक भाषण भी रखा गया है और अगर आज उस भाषण को पढ़िए तो उसमें सांस्कृतिक राष्ट्रवाद पर जिस तरह की बात नामवर जी आज से लगभग 21-22 साल पहले कर रहे हैं आज के परिप्रेक्ष्य को समझने में उससे बहुत सहायता मिलेगी! कहने का मतलब यह है कि नवल जी के पास एक अद्भुत संपादकीय दृष्टि थी! वे साहित्य में उत्पन्न अभाव को अच्छी तरह से समझते थे और उनकी क्षमता में जो कुछ था उससे वे उस अभाव की पूर्ति करना चाहते थे! जैसे जब आलोचना की कोई पत्रिका ढंग से नहीं आ रही थी तो उन्होंने 'कसौटी' जैसी पत्रिका को लॉन्च किया था, उन्होंने उसमें अपनी पूरी टीम के साथ जिसमें प्रोफेसर तरुण कुमार जी भी थे, अपूर्वानंद जी भी थे, राकेश रंजन जी भी थे, संजय शांडिल्य जी भी थे, भारत भारद्वाज जी भी थे! इन सब को लेकर उन्होंने उस पत्रिका का संपादन किया! जाहिर-सी बात है कि जो अनुशासन उनके व्यक्तित्व में था वह सारा अनुशासन उस पत्रिका में भी दिखाई पड़ता है! इस पत्रिका को पढ़ते हुए प्रूफ की गलतियाँ प्रायः नहीं पाएँगे! यह हो ही नहीं सकता था कि नवल जी काम कर रहे हों और उसमें कोई बड़ी गलती आप खोज दिखाएं! वे बहुत सावधान होकर अपना काम करते थे!

नवल जी ने 1982 के आप-पास 'निराला रचनावली' का संपादन पूरा किया था। मुझे लगता है कि 'निराला रचनावली' ने नवल जी को प्रतिष्ठित करने में एक बड़ी भूमिका निभाई थी! 'निराली रचनावली' ने निराला को पढ़ने में सुविधा दी तो इस रचनावली ने नवल जी को स्थापित करने में बड़ी भूमिका

निभाई! मैं ऐसा क्यों कह रहा हूँ? मुझे ऐसा क्यों लगता है? देखिए किसी एक काम से कोई स्थापित नहीं होता है, मैं इस बात को समझता हूँ। इसीलिए किसी के पूरे काम पर विचार होना चाहिए। लेकिन जिस कुशलता से उन्होंने 'निराला रचनावली' का संपादन किया था, वह कुशलता कम ही देखने को मिलती है। आप छायावाद के दूसरे कवियों की रचनावलियों को भी देख लीजिए; जैसे कि 'पंत ग्रन्थावली', 'महादेवी साहित्य' और 'जयशंकर प्रसाद ग्रन्थावली'। 'जयशंकर प्रसाद ग्रन्थावली' का सम्पादन डॉ. ओमप्रकाश सिंह ने किया है। इन चारों रचनावली को अपने सामने रखें तो लगेगा कि 'प्रसाद ग्रन्थावली' और 'निराला रचनावली' का संपादन जितनी बारीकी से हुआ है उतनी बारीकी से 'पंत ग्रन्थावली' और 'महादेवी साहित्य' का संपादन नहीं हुआ है।

नवल जी ने पूरी कोशिश की थी कि निराला की कविताओं के बारे में जितनी सूचनाएँ हो सकें उन सबको रचनावली में दे दिया जाए! प्रत्येक कविता के अंत में उन्होंने रचनाकाल, प्रकाशन काल, पत्रिका का नाम, पत्रिका जिस शहर से निकलती थी उस शहर का नाम, समय यहाँ तक कि विक्रम संवत् के हिसाब से उन कविताओं में जो तारीख दी जाती थी, उसे भी उन्होंने हुबहू रखा है! उनकी कोशिश रहती थी की लेखन की पारदर्शिता बनी रहे। वे अपनी तरफ से किसी सूचना को छोड़ना नहीं चाहते थे। उन्होंने रचनावली की भूमिका में प्रत्येक सूचना जैसे उन्होंने कविता कैसे प्राप्त की, किससे प्राप्त की और उस क्रम में क्या-क्या कठिनाइयाँ आईं इन सब के बारे में जो ब्योरा दिया है वह अपने आप में मिसाल की तरह है। निराला ने अपनी चिट्ठियों में अपनी रचनाओं के प्रकाशन के बारे में जो सूचनाएँ दी हैं, उनके साथ तारतम्य बैठाते हुए भी नवल जी ने वहाँ एक व्यवस्था दी है; जैसे, कुछ रचनाओं के बारे में सूचना मिलती है कि वे निराला की रचनाएँ थीं, लेकिन वास्तव में वह छपी नहीं! इसकी सूचना भी आपको भूमिका में मिलेगी! कभी-कभी ऐसा भी हुआ कि कोई रचना पहली बार प्रकाशित हुई, उसमें सत्य क्या है भ्रम क्या है? इस पर बहुत गौर करके नवल जी ने सूचनाओं को एकत्र किया है! कहने का मतलब मेरा यह है कि वे संपादन के काम को हल्का-फुल्का काम नहीं मानते थे! वे आब्जेक्टिविटी का बहुत ख्याल रखते थे और उन्हें मालूम था कि ठीक ढंग से संपादित की हुई रचनावली आगे के शोध कार्यों को प्रभावित करेगी! आने वाले समय में उनके द्वारा दी गई सूचनाओं से शोध छात्रों को, शोधार्थियों को क्या-क्या मदद मिलेगी उन्हें इसका अनुमान था।

नवल जी ने जिस समय 'निराला रचनावली' का संपादन किया था उस समय वे ऊर्जा से भरे हुए थे। वह समय उनके जीवन का बहुत ऊर्जावान समय था। मैंने जब 'निराला काव्य-कोश' की तैयारी शुरू की थी तो 'निराला रचनावली' के बिना यह काम नहीं हो सकता था। मैंने 2003 में यह काम शुरू किया था तो उस समय तक 'निराला रचनावली' के कई संस्करण आ चुके थे। और निराला के काव्य का शुद्ध पाठ, प्रूफ की न्यूनतम गलतियाँ, कहीं-कहीं एकाध जगह कुछ गलती मिलती हैं, नहीं तो प्रायः 'निराला रचनावली' की कविताओं में गलतियाँ नहीं मिलती हैं। ये नवल जी की महत्ता थी कि उनकी लिखी हुई चीजों पर आप भरोसा कर सकते हैं। आप यह दावा कर सकते हैं कि उन्होंने जो लिखा है वह बिल्कुल ठीक लिखा होगा। उन्होंने लेखक और संपादक के रूप में लगभग 70 पुस्तकें लिखी हैं। यह कोई छोटी संख्या नहीं है। लेकिन मैं आपके सामने उनकी सभी पुस्तकों के बारे में बात तो नहीं कर सकता, क्योंकि उनकी सभी पुस्तकों को उस तरह से पढ़ा नहीं है कि उस पर ज्यादा कुछ कह सकूँ। इसीलिए मैंने जिन पुस्तकों के बारे में पढ़ा है, देखा है, उन्हीं के बारे में बात कह रहा हूँ।

'निराला काव्य-कोश' बनाते हुए जैसे मेरा लगाव नवल जी से बढ़ता गया। मैं उनके एक सामान्य

विद्यार्थी की तरह हमेशा रहा। कभी भी उनसे मेरा कोई व्यक्तिगत गहरा रिश्ता नहीं रहा। यहाँ तक कि 'निराला काव्य-कोश' प्रकाशित होने पर जब अरुण नारायण जी उनके पास लेकर गए और उन्होंने नवल जी को यह बताया कि आपके विद्यार्थी की एक किताब है तो नवल जी मुझे पहचान नहीं पाए। फोन पर बात हुई तो उन्होंने इस बात को कहा कि देखिए मैं आपको पहचान नहीं पा रहा हूँ, उसका कारण यही था कि मेरे व्यक्तिगत रिश्ते नवल जी से उस तरह के नहीं थे। एक प्राध्यापक के तौर पर उन्होंने मुझे पढ़ाया था और मैंने उनकी लिखी हुई चीजों को अपनी जरूरत के हिसाब से पढ़ा था और कुछ शौक के हिसाब से। 'निराला काव्य-कोश' पर काम करते हुए मेरी आत्मीयता उनसे खूब बढ़ी। क्यों बढ़ी? उनकी कुछ किताबें इस काम में मेरी बहुत मदद करती थीं। जैसे उनकी एक किताब है 'निराला : कृति से साक्षात्कार'; इसी तरह से उनकी एक किताब है, 'निराला काव्य की छवियाँ'। इन किताबों में नवल जी ने निराला की कविताओं पर विचार किया है। एक अलग से उनकी एक किताब है 'चार लंबी कविताएँ', जिसमें निराला और मुक्तिबोध की दो-दो कविताएँ हैं। इसमें उन्होंने निराला की दो कविताएँ 'राम की शक्ति-पूजा' और 'सरोज-स्मृति' पर विचार किया है।

वैसे तो निराला की कविताओं पर विचार बहुत लोगों ने किया है, निराला के सबसे बड़े आलोचक रामविलास शर्मा माने जाते हैं और इसका कारण है उनकी किताब- 'निराला की साहित्य-साधना', भाग- एक, दो और तीन। लेकिन क्या फर्क है नवल जी के काम में और रामविलास जी के काम में? रामविलास जी की उन तीन पुस्तकों को आप पढ़ जाइए। हमने उनकी तीनों पुस्तकें पढ़ी हैं, तीसरी पुस्तक तो दूसरे ढंग की है, लेकिन पहली और दूसरी को अवश्य पढ़िए। जिनमें एक में जीवनी है दूसरी में आलोचना। आप रामविलास जी की इन पुस्तकों को पढ़कर यह तो जान सकते हैं निराला का परिवेश क्या था? निराला की कविताओं का विषय क्या था? निराला की काव्य-भाषा बनी कैसे थी? उनकी भाषा की विशेषताएँ क्या थीं? निराला की कविताओं की चिंता के दायरे क्या थे? किसी कठिन कवि के बारे में यह सब निर्धारित करना बहुत बड़ा काम होता है। इसीलिए रामविलास जी के योगदान को कभी भुलाया नहीं जा सकता। उन्होंने निराला को लेकर जो काम किया उसकी महत्ता अपनी जगह है।

लेकिन 'निराला काव्य-कोश' को तैयार करते समय जो मेरे सामने सबसे बड़ी कठिनाई थी, वह कठिनाई यह थी कि मुझे निराला की कविताओं का अर्थ जानना था। निराला की भाषा का एक बड़ा हिस्सा है जो मुश्किल है। मुश्किल होने की एक बड़ी वजह है कि उनकी भाषा न जाने कितने स्रोतों से जुड़ी हुई है। बंगला से, संस्कृत से, अवधी से, ये इनकी भाषा के तीन मुख्य स्रोत हैं और हिंदी कविता की जो अपनी परंपरा थी, ब्रज की परंपरा, उससे भी उनकी कविता जुड़ी हुई है। निराला के यहाँ अंग्रेजी से भी कुछ शब्द आए हैं, वे किस स्रोत से कितने शब्द लेंगे यह कहना मुश्किल था। मुझे कभी-कभी ये स्रोत परेशान करते थे। स्रोत स्पष्ट न हो तो अर्थ तक पहुँचने में परेशानी होती है। अगर शब्द संस्कृत स्रोत से आया हुआ हो तब आप उसी ढंग से जानने की कोशिश करेंगे। इसी प्रकार से मान लीजिए कि वह शब्द बंगला स्रोत से आया हो तो थोड़ा उस ढंग से सोचना होगा। कुल मिलाकर यह बात तो सभी लोग जानते हैं कि निराला की भाषा कठिनाई पैदा करती है। नवल जी ने इन दोनों पुस्तकों में बल्कि तीनों पुस्तकों में निराला की कविताओं की पंक्ति दर पंक्ति व्याख्या की है। यह व्याख्या केवल प्राध्यापकीय व्याख्या नहीं है। कुछ लोग नवल जी के महत्व को कम करने के लिए कह देते हैं कि नवल जी जीवन भर प्राध्यापकीय व्याख्या करते रहे और प्राध्यापकीय आलोचना लिखते रहे। एक तो इन शब्दों का कोई बहुत सार्थक मतलब नहीं है, खैर मैं उस बहस में नहीं जा रहा। किसी कवि की कविता

को पंक्ति दर पंक्ति समझना और समझाना कोई आसान काम नहीं है। निराला की पंक्तियों को जिस तरह नवल जी ने इन पुस्तकों में समझाया है, ऐसा कोई भी उदाहरण हिंदी के किसी दूसरे लेखक के यहाँ नहीं मिलता।

आप नंददुलारे वाजपेयी को निराला के लिए पढ़ें तो वहाँ आपको अवधारणात्मक बातें मिलेंगी। इसी प्रकार आप दूधनाथ सिंह को पढ़ें तो पायेंगे की वह ललित शैली में लिखी गई आलोचना है। उससे निराला के बारे में कुछ बातें समझ सकते हैं लेकिन अगर आपकी इच्छा है कि निराला की कविताओं को ठीक से पंक्ति दर पंक्ति समझें और उन बातों को चेक कर सकें जो अवधारणात्मक रूप में बताई जा रही हैं वे ठीक हैं कि नहीं, तो आपको उन पंक्तियों से गुजरना पड़ेगा। निराला की कविताओं की पंक्तियाँ इतनी संघनित हैं कि उनके रहस्यों को खोलना मेहनत का काम है, जानकारी का काम है, अध्यवसाय का काम है और यह काम नवल जी ने किया। मुझे नवल जी की इन किताबों से बहुत मदद मिली। अगर ये किताबें नहीं होतीं तो मुझे काम करने में बहुत कठिनाई होती। कठिनाई तो ऐसे भी हुई लेकिन इनकी अनुपस्थिति में कठिनाई और बढ़ जाती। उन्होंने जिन कविताओं के अर्थ पर विचार किया था उनके अर्थ को जानने में मुझे सुविधा हुई। लेकिन निराला की ढेर सारी कविताएँ ऐसी थीं जिनपर नवल जी ने विचार नहीं किया था, छोटी बड़ी कविताओं को मिलाकर निराला की लगभग 700 कविताएँ हैं। इसीलिए सभी कविताओं पर बात कैसे हो सकती थी? लेकिन कोश बनाते समय मुझे निराला की प्रत्येक कविताओं पर बात करनी थी, तो इस रूप में उनका एक उपकार मेरे ऊपर बना रहा और जीवन भर बना रहेगा।

लोग कहते हैं कि नवल जी रूखे स्वभाव के थे, वे विद्यार्थियों को डाँट देते थे। ऐसी डाँट मुझे भी विद्यार्थी जीवन में एक दो बार पड़ी थी। वे जल्दी किसी को लिपट नहीं देते थे, हो सकता है उनके साथ जिनके व्यक्तिगत संबंध होते होंगे उनके साथ उनके व्यवहार में कोमलता रहती होगी। लेकिन सामान्य रूप से उनमें एक तरह की रूखाई भी रहती थी। इसीलिए वे तुरंत नाराज हो जाते थे। जब अरुण नारायण 'निराला काव्य-कोश' लेकर उनके घर जा रहे थे तो मैं भीतर से डर रहा था। पता नहीं उन्हें यह किताब कैसी लगे? हो सकता है उन्हें यह किताब ठीक न लगे और वे नाराज हो जाएँ। कुछ कड़ी टिप्पणी कर दें। इन्हीं कारणों से मैं दुखी और चिंतित था। लेकिन उनके पास किताब को भेजना भी जरूरी था। 2016 में मेरी यह किताब आई थी और उस समय पूरे हिंदुस्तान में निराला की कविताओं का उनसे बड़ा जानकार कोई नहीं था इसलिए भेजना भी जरूरी था। अरुण नारायण ने यह किताब पहुँचायी और उन्होंने यह किताब देखी। फिर उनसे मेरी फोन पर बात हुई, तो वहाँ उनका दूसरा ही रूप था। फोन पर पर उन्होंने मुझे बहुत बधाई दी और सब बातें तो कहीं ही एक ऐसी बात भी कही थी जिसे कहते हुए मन थोड़ा भावुक भी हो जाता है, क्योंकि आज वे इस संसार में नहीं हैं। उन्होंने कहा था कि आपने जो यह काम किया है यह मैं नहीं कर सकता था। मैंने कहा, सर ऐसा न कहिए आपने बहुत बड़े-बड़े काम किए हैं, मेरा यह काम तो आपके उन कामों के सामने कुछ भी नहीं है। आप हमारे गुरु हैं, बिना आपके यह काम कैसे हो सकता था। उन्होंने कहा नहीं-नहीं देखिए मैं किसी से यूँ ही नहीं कुछ कहता हूँ।

खैर, मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि उनका एक यह रूप भी मेरे सामने आया जिसमें उन्होंने मेरे-जैसे एक मामूली विद्यार्थी के काम की सराहना की थी। यह सब बातें उनके व्यक्तित्व की सरलता, गुणग्राहकता, उदारता, विराटता और एक कठोरता को भी व्यक्त करने वाली हैं। एक जो मिश्रित और पूर्ण व्यक्तित्व होता है इस तरह का व्यक्तित्व उनके साथ था। एक संपादक की भूमिका पर उनके संबंध मैंने कुछ बातें आपलोगों से कही हैं। लेकिन उनका जो दूसरा पक्ष था वह लेखक का रूप था।

नवल जी ने अपने लेखन में इतना बड़ा दायरा समेटा कि वह एक बड़े लेखक से ही संभव था। आप यह देखिए कि अज्ञेय पर उनकी किताब बहुत बाद में आई, लगभग 2010 के बाद। अभी फेसबुक पर संजीव जी और आशुतोष जी बोल रहे थे। उनके वामपंथी होने पर भी बातें हो रही थीं। मेरे ख्याल से मार्क्सवादी आलोचना में अज्ञेय की जिस तरह अवहेलना हुई थी, उनपर लोग ढंग से विचार नहीं करते थे। लेकिन नवल जी की प्रतिबद्धता साहित्य के प्रति थी। यह ठीक है कि वे एक दौर में इस तरह के लेखक संघों से जुड़े थे। उन्होंने उससे बहुत कुछ सीखा भी और उन धाराओं को उन्होंने बहुत कुछ दिया भी। ‘मुक्तिबोध : ज्ञान और संवेदना’ किताब की पूरी बनावट मार्क्सवादी आलोचना के अनुसार ही है। यह सब अपनी जगह ठीक है लेकिन अंततः एक लेखक की आत्मस्वीकृति क्या है? हम अपनी दिशा कई बार बदलते हैं। यह बहुत सारे लेखकों के साथ हुआ है लेकिन अंततः हमारी आत्मस्वीकृति क्या है? यह एक महत्वपूर्ण बात होती है। एक बार मैं और मेरी पत्नी सुचिता वर्मा, दोनों साथ में उनके घर गए थे। और बातचीत के क्रम में ही सुचिता ने बताया कि मेरी पी-एच.डी. अज्ञेय के काव्य के सामाजिक अर्थ पर हो रही है। इस बात को सुनने के बाद उन्होंने पूछा कि तुम अज्ञेय को उठाने के लिए रिसर्च कर रही हो या उन्हें गिराने के लिए? उस समय हमलोग जवाब देने की स्थिति में तो थे नहीं। लेकिन अब जब मैं उनकी बात याद करता हूँ तो लगता है उनकी चिंता यही थी कि अज्ञेय पर जिस तरह से विचार होना चाहिए उन पर मार्क्सवादी परंपरा में उस तरह के विचार नहीं हुए हैं। प्रायः दुराग्रह से उनके बारे में सोचा जाता रहा है। शायद नवल जी को ऐसा लगा हो कि अज्ञेय पर काम होना चाहिए और उन्होंने अंतिम समय में अज्ञेय पर भी काम किया? नवल जी ने दिनकर की रचनावली का भी संपादन किया और उनके व्याख्यानों से आपको बार-बार ऐसा लगेगा कि वे दिनकर को बहुत पसंद करते थे। मैथिलीशरण गुप्त की काव्य की महत्ता पर वे क्लास में जरूरत पड़ने पर जरूर बताते थे। उन्होंने एक बार बिहारी की कविताएँ भी पढ़ाई थीं।

आप उनकी किताबों की केवल सूची देख लीजिए आपको यही लगेगा कि विविधता नवल जी में ढेर सारी है। यह विविधता कैसी विविधता है? वह भानुमति के कुनबे वाली विविधता नहीं है। साहित्य के प्रति उनकी यह प्रतिबद्धता उनसे यह सब कराती थी। उन्हें जब लगता था कि इस विषय पर बात नहीं हुई है और मैं कर सकता हूँ तो विषय पर मुझे बात करनी चाहिए। वे बात क्या करते थे, उनकी पूरी कोशिश होती थी कि लेखक का लिखा हुआ अपने साफ-सुथरे शब्दों में पाठकों को समझाया जाए। वे ऐसी कोशिश कभी नहीं करते थे कि आलोचना की भाषा कहीं से भी मायावी बन जाए। वे लंबी-चौड़ी बात करके अपनी बात नहीं कहते थे। ऐतिहासिक प्रसंगों को भी सरल तरीके से पकड़ना, विचारधाराओं को सरल भाषा में व्यक्त करना और साहित्यिक पाठ पर अपने को केंद्रित रखना यह उनके लेखन की बहुत बड़ी विशेषता थी। आप बिहारी पर उनका लिखा हुआ पढ़ें, मैथिलीशरण गुप्त पर उनका लिखा हुआ पढ़ें, अज्ञेय पर उनका लिखा हुआ पढ़ें, तो आप पाएँगे कि वे आलोचना की भाषा की कोई माया नहीं रचते हैं। वे कहीं से आपको ऐसा एहसास नहीं दिलाएँगे कि वे एक बड़े स्कालर हों। बल्कि आप उन्हें पढ़ते जाएँगे उनके लेखन में उतरते जाएँगे और आपको लगेगा हमने मैथिलीशरण गुप्त को कुछ समझा, हमने बिहारी को कुछ समझा, हमने अज्ञेय को कुछ समझा। हिंदी आलोचना में ऐसी ढेर सारी किताबें हैं जिन्हें आप पढ़ जाइए लेकिन आपको यह लगेगा कि हमने यह पढ़कर उस लेखक को तो समझा ही नहीं।

किताब रहेगी अज्ञेय पर, एक तो वे ऐसे ही कठिन कवि और उनपर लिखी गई आलोचना और भी

टेढ़ी-मेढ़ी। बहादुरी तो इस बात में होती है कि आलोचना को आप साहित्य को समझने का एक माध्यम बनाएँ। यह भी आलोचना का एक बड़ा पक्ष है, ठीक है कि वह साहित्य को दिशा भी दिखाती है, सीमाएँ भी बताती है; लेकिन, सबसे बड़ी जरूरत होती है कि वह साहित्य को समझने में साहाय्यता प्रदान करे। और जब हम समझते हैं तो उसकी सीमाओं को भी समझते हैं, उसके सामर्थ्य को भी समझते हैं। नवल जी इस शैली में अपनी बात को कहते थे। अब क्या होगा उस लेखन का? क्या अनुमान हमें लगाना चाहिए। मुझे लगता है कि नवल जी का लेखन टिकाऊ लेखन होगा, वह टिकेगा। न जाने कितनी सारी विचारधाराओं के बीच से हमारा साहित्य गुजरा है, लेकिन साहित्यिक पाठ को समझने की जरूरत हमेशा बनी रही है। अगर 'रामचरितमानस' का वह संस्करण जो गीता प्रेस से निकलता है वह न छपे, अगर 'पद्मावत' का वह संस्करण जो वासुदेव शरण अग्रवाल द्वारा बनाया गया है वह अर्थ सहित न छपे, अगर लाला भगवानदीन और जगन्नाथदास रत्नाकर के द्वारा बिहारी सतसई का संपादन किया गया अर्थ-भाष्य न छपे और अगर कालिदास की रचनाएँ मल्लिनाथ की टीका के बिना हों तो हम कितना समझ पाएँगे। स्तरीय भाष्य, स्तरीय टीका, स्तरीय चीजें समझने के लिए लिखना कोई आसान काम नहीं होता है। बल्कि यह चुनौती का काम होता है। हम भारत की साहित्यिक परंपरा को देखें तो हम सब जानते हैं की भरत के 'नाट्यशास्त्र' को अभिनवगुप्त की 'अभिनव भारती' के बिना नहीं समझा जा सकता था, आनन्दवर्धन के 'ध्वन्यालोक' को अभिनव गुप्त के 'ध्वन्यालोकलोचन' के बिना नहीं समझा जा सकता था। अभिनव गुप्त ने मौलिक पुस्तकें नहीं लिखी थीं, उन दोनों महान पुस्तकों पर टीका लिखी थी। पर अभिनव गुप्त का स्थान एक आचार्य का स्थान है।

नवल जी पर बहुत तरह के अटैक हुए। मुझसे भी कई लोगों ने कहा कि नवल जी आलोचक नहीं हैं। मैं क्या जवाब दूँगा, यह जवाब तो नामवर जी ने दिया था। जब नवल जी पचहत्तर वर्ष के हुए थे तो पटना में एक कार्यक्रम हुआ था। उसमें नामवर जी ने एक बात कही थी, मैं नामवर हूँ लेकिन 'कामवर' तो नवल जी हैं। अपने समय के युगपुरुष आलोचक द्वारा दिया गया यह एक खिताब था नवल जी को। यह कोई छोटी बात नहीं है। नामवर जी अपने समय के एक स्थापित आलोचक के बारे में यह कह रहे हैं कि काम की चीजें तो नवल जी ने ही लिखी हैं। और वे उनकी तुलना भी किससे कर रहे हैं, अपने आपसे। वे तुलना करते हुए एक संकेत छोड़ रहे हैं कि नवल जी का काम जिंदा रहेगा और नवल जी अपने काम के लिए याद किए जाते रहेंगे।

एक तीसरा पक्ष उनका है वह उनके प्राध्यापक के रूप का है। मुझे लगभग छह सात महीने उनके क्लास में बैठने का मौका मिला था। उन्होंने हमलोगों को निराला की छोटी कविताएँ पढ़ाई थीं। दो-तीन बातें उनकी प्राध्यापकीय शैली में महत्वपूर्ण थीं। उनलोगों को जो हममें से प्राध्यापक हैं और पढ़ाते हुए फक्र महसूस करते हैं। मतलब निराशा में डूबकर नहीं पढ़ाते हैं बल्कि फक्र के साथ अपने विद्यार्थियों के सामने जाते हैं कि मैं एक अध्यापक हूँ और अपने विद्यार्थियों को कुछ पढ़ाने आया हूँ। ऐसे अध्यापकों के लिए नवल जी बहुत प्रेरक व्यक्तित्व थे। पहली बात कि बिना तैयारी के नवल जी कभी भी क्लास में नहीं जाते थे। ऐसी तैयारी कम अध्यापकों में देखी जाती है। दिल्ली जाने पर मैंने ऐसी तैयारी प्रोफेसर मैनेजर पाण्डेय में देखी, प्रोफेसर वीर भारत तलवार में देखी और प्रोफेसर पुरुषोत्तम अग्रवाल में देखी। तैयारी करके क्लास में आना और आवश्यकता पड़े तो क्लास में नोट्स भी ले आना। नवल जी के पास जो 'अनामिका' थी वह बहुत पुरानी थी और शायद उसका पन्ना-पन्ना अलग हो गया था, वह इतनी पुरानी किताब थी। वे एक मोटे लिफाफे में उस किताब को डालकर ले आते थे। उस किताब पर शायद

समय-समय पर उन्होंने छोटी-छोटी टिप्पणियाँ लिखी थीं। वे पढ़ाते समय जरूरत पड़ने पर उनसे मदद लेते थे। हर बात तुरंत याद रहती नहीं है, लेकिन एक बात थी कि उन्हें पढ़ाते समय इस बात का हमेशा ख्याल रहता था कि कोई बात छूटने न जाए। एम.ए. के क्लास में उस कविता के बारे में जितनी बात बताई जानी चाहिए वे पूरी कोशिश करते थे कि एक-एक बात बता दी जाए। वे लापरवाही से कभी भी कविता के टेक्स्ट पर नहीं उतरते थे। विद्यार्थियों से कुछ सवाल पूछने पर जवाब नहीं मिलता था तब वे नाराज हो जाते थे। हमलोग उनसे डरते थे, तो जवाब देने में भी डर लगता था और मुँह से कुछ गलत जवाब निकल जाता था तो वे नाराज हो जाते थे। लेकिन थोड़ी ही देर में नवल जी शांत भाव से पढ़ाने की कोशिश करते थे। शायद वे इस बात को जानते थे कि मेरा विद्यार्थी उतना गंभीर नहीं है जितना होना चाहिए, फिर भी वे अपनी तरफ से कोई कमी नहीं छोड़ना नहीं चाहते थे।

आज जब मैं एक गाँव के कॉलेज में 19-20 साल से पढ़ा रहा हूँ तो हमारी छात्राएँ, क्योंकि लड़कियों का कॉलेज है, गाँव की लड़कियाँ हैं, उनकी पृष्ठभूमि कमजोर है, उनका पूरा का पूरा ओरिएंटेशन कमजोर है। इसीलिए उनसे सवाल पूछने पर इस तरह की परेशानी आती है कि वे सामान्य से सामान्य प्रश्नों के उत्तर नहीं दे पाती हैं। मुझे ऐसे समय में नवल जी याद आते हैं तो लगता है जवाब तो हम भी नहीं दे पाते थे। लेकिन उन्होंने पढ़ाने में कोई कमी नहीं छोड़ी थी। हमें भी इन्हें पढ़ाने में कोई कमी नहीं छोड़नी चाहिए और जितना बन सकता है हमलोग कोशिश करते हैं कि अपनी छात्राओं को उनके स्तर के अनुसार वह सब कुछ बताएँ जो हमें बताना चाहिए।

नवल जी को जो लोग जानते हैं उन्हें पता है कि अगर उनके जीवन में कोई महत्वाकांक्षा रही होगी, ऊपरी तौर पर मैं जितना समझ पाया मुझे लगा कि उनकी महत्वाकांक्षा लिखने-पढ़ने और पढ़ाने तक ही थी। मैंने कभी नहीं सुना कि उन्होंने इसके अलावा कुछ और पाने की कोशिश की हो। अब हो सकता है लोगों के अनुभव तरह-तरह के हों, मैं किसी के अनुभव को काट नहीं रहा हूँ। लेकिन जितना हमने समझा है तो यही पाया है कि वे एक लेखक, संपादक और एक अध्यापक थे। ये जो त्रिकोण है इसी त्रिकोण के भीतर नवल जी ने अपने जीवन को एक साधक की तरह व्यतीत किया।

आज गुरुदेव नहीं हैं और इसमें कोई ज्यादा दुख वाली बात इसलिए नहीं है कि उन्होंने भरपूर जीवन बिताया। तिरासी साल की उम्र उन्होंने पाई और उन्होंने एक सार्थक जीवन बिताया। लगभग उन्होंने सत्तर किताबें तैयार कीं। उन्होंने इज्जत पाई, एक से एक विद्यार्थी दिए और उन्होंने इतनी सारी पत्रिकाओं का संपादन किया। उनकी उपलब्धियाँ इतनी सारी हैं कि उनके जीवन को पूरी तरह से सार्थक कहा जा सकता है। उन्होंने हम जैसे लोगों को यह प्रेरणा दी कि काम करो, काम करना ही असली पहचान है। एक बार मैंने तरुण सर से बात की थी और उनसे कहा था कि सर अगर नवल जी दिल्ली में होते तो बहुत अच्छा होता। तरुण सर ने कहा कि नहीं, वे चले जाते तो केवल परेशान रहते, वे यहीं ठीक हैं। हमलोग जानते हैं कि गुलबी घाट के एक किराये के मकान में गुरुदेव ने पूरी जिंदगी बिताई। रिटायरमेंट के बाद वे अपने फ्लैट में गए। ऐसे लोगों को ही साधक कहते हैं, वह व्यक्ति जिसके भीतर दो रोटी खाकर पढ़ने-लिखने की इच्छा हो, पढ़े भी और पढ़ाए भी और उस पढ़ाई हुई चीज का दस्तावेजीकरण भी करे।

अब, जैसे विश्वनाथ त्रिपाठी की किताब को पढ़ते हुए बी.एच.यू. के कुछ पुराने उनके गुरुओं की बात उसमें पढ़ने को मिलती है। जैसे आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र रीतिकाल के मर्मज्ञ जानकार थे और बहुत अच्छा पढ़ाते थे। रीतिकाल की कविताओं का वे अद्भुत अर्थ निकालते थे। आज उस तरह के लोग

हमारे बीच नहीं है। वे क्या पढ़ाते थे? कैसे पढ़ाते थे यह जानने का कोई स्रोत हमारे पास नहीं है। अच्छा होता अगर उनमें से कुछ का दस्तावेजीकरण हो जाता। जैसे 'नामवर के नोट्स' नाम की किताब आई है, मधुप कुमार जी ने उसका संपादन किया है और भी दो लोग उसके संपादक हैं, शैलेश कुमार जी हैं और भी एक हैं। उसमें किया यही गया है कि नामवर जी ने क्लास में काव्यशास्त्र के बारे में जो पढ़ाया था उसका दस्तावेजीकरण किया गया है। हिंदी में ढेर सारे ऐसे अध्यापक हुए हैं जिन्होंने क्लास को ही अपनी 'रंगभूमि', अपनी 'कर्मभूमि' समझा है। 'रंगभूमि' इस अर्थ में कि वहीं उन्होंने अपना कला-कौशल दिखलाया है लेकिन उसका दस्तावेजीकरण नहीं हो पाया है। नवल जी इस मायने में दूसरों से भिन्न हैं कि उन्होंने पाठ पर जो काम किया उसका दस्तावेजीकरण भी किया।

अब अंतिम बात कि हिंदी आलोचना के इतिहास में नवल जी किस तरह याद किए जायेंगे। मुझे लगता है नवल जी उस तरह याद नहीं किए जाएंगे जिस तरह आचार्य शुक्ल, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, रामविलास शर्मा, नामवर सिंह और मैनेजर पाण्डेय याद किए जाएंगे। उन लोगों की आलोचना का ढंग दूसरा है, पाठ-केंद्रित आलोचना इनमें से किसी ने नहीं लिखी है। रामचंद्र शुक्ल ने पाठ-केंद्रित संपादन किया है। शुक्ल जी का फलक बहुत बड़ा है। लेकिन जिस तरह से कविता के पाठ पर नवल जी ने काम किया है ऐसा काम हिंदी आलोचना की परंपरा में इनसे बढ़कर किसी ने नहीं किया है। यह कहते हुए कोई संकोच करने की जरूरत नहीं है। आप किसी भी दूसरे आलोचक का नाम नहीं ले सकते जिन्होंने इतने बड़े पैमाने पर पाठ-केंद्रित आलोचना पर काम किया होगा। इस तरह का अगर कोई वर्गीकरण होगा, उसकी परंपरा की पड़ताल अगर की जाएगी तो मेरा विश्वास है कि आधुनिक काल में जो आलोचना चल रही है उसमें नवल जी का व्यक्तित्व सबसे बड़ा होगा, एक पाठ-केंद्रित आलोचक के रूप में। एक सवाल गजेंद्र जी पूछ रहे थे कि किसी एक पुस्तक के बारे में अगर पूछा जाए कि कौन-सी पुस्तक नवल जी की ऐसी है जो लंबे समय तक याद की जाएगी। तो पहली बात कि नवल जी की सभी पुस्तकों को आद्योपांत मैंने पढ़ा नहीं है इसलिए मैं दावे के साथ तो नहीं कह सकता, लेकिन मैंने जितना पढ़ा है उसके आधार पर कुछ निवेदन कर सकता हूँ। देखिए हर आलोचक की अपनी प्रकृति होती है। नवल जी की प्रकृति थी पाठ-केंद्रित करके अपनी बात कहना। ऐसा नहीं है कि वे पाठ के बाहर की बातों को जानते नहीं थे या वे पाठ को बाहर की बातों से जोड़ते नहीं हैं, वे सब करते हैं। लेकिन दूसरे आलोचकों से वे इस बात में भिन्न हैं कि वे बाहर की बातों को उतना ही रखते हैं जिससे पाठ खोलने में सुविधा हो।

मैं आपसे एक बात कहना चाहूँगा कि नामवर जी ने 'कविता के नए प्रतिमान' में मुक्तिबोध की कविता 'अंधेरे में' पर जो लिखा है उससे आप उस कविता के पाठ को नहीं समझ सकते हैं। उससे 'अंधेरे में' कविता के बारे में बहुत सारी चीजें तो मालूम हो जाएँगी लेकिन नामवर जी के उन लेखों से उस कविता के पाठ को नहीं समझा जा सकता है, तो एक सीमा हुई न उस आलोचना की। लेकिन नवल जी की लिखी हुई जो व्याख्या है उसे आप पढ़िए। एक-एक पंक्ति पर ठहर-ठहर कर नवल जी बात करते हैं। आप कविता सामने रखें और उनकी लिखी हुई आलोचना को सामने रखें, फिर पढ़ते जाएँ, धीरे-धीरे पूरी कविता आपके सामने खुल जाएगी। मेरा एक आग्रह है कि ढेर सारी आलोचना लिख दी जाए और पाठ पर बात न की जाए तो एक समय के बाद पाठ किसकी सहायता से समझा जाएगा। आज हम अध्यापकों के बीच कितने ऐसे लोग हैं जो मध्यकाल की कविताओं को बिना किसी सहायता के सीधे-सीधे पढ़ सकें? छायावादी कविताओं के भी लगभग 100 साल हो चुके हैं और धीरे-धीरे छायावादी

काव्य-भाषा के मुहावरे पुराने हो रहे हैं, कठिन हो रहे हैं और दुर्गम हो रहे हैं। एक ऐसा भी समय आ सकता है जब छायावादी काव्य-भाषा को उसी तरह नहीं समझा जा सकता है जिस तरह से वह काव्य-भाषा रची गई थी। इसीलिए यह बहुत जरूरी है कि पाठ-केंद्रित आलोचना भी लिखी जाए और स्तरीय लिखी जाए।

अब आप कह सकते हैं कि इस तरह की आलोचना तो कुंजी लिखने वाले लिखते हैं। देखिए किसी भी अच्छे काम को खराब भी किया जा सकता है। कविता लिखने वाले भी तो बहुत सारे हल्के-फुल्के लोग हैं। लेकिन उन हल्के-फुल्के लोगों की कविताओं के आधार पर गंभीर कवियों की कविताओं की अवहेलना करने लगें, यह ठीक बात नहीं है। हम कुमार विश्वास के स्रोताओं को झूमते देखकर आलोक धन्वा की कविताओं के बारे में नहीं समझ सकते; राजेश जोशी की कविताओं से अगर हम कुमार विश्वास की कविताओं की तुलना अगर हम करते हैं तो यह हमारी ना-समझी होगी। हमें इस बात का ख्याल करना चाहिए कि जो विश्लेषण किया गया है उसका स्तर क्या है? तो गजेंद्र जी ने जो सवाल पूछा है, मैं तो यही कहूँगा कि पाठ-आधारित उनकी जितनी आलोचनाएँ हैं ऐसी पुस्तकें हमेशा सार्थक रहेंगी। विद्यार्थियों, प्राध्यापकों और कविता के जो भी प्रेमी होंगे उनके लिए ये पुस्तकें हमेशा एक आकर्षण का केंद्र रहेंगी।

गुरुवर नंदकिशोर नवल ने मरणोत्तर आयु पाई है, मरणोत्तर आयु का मतलब जिसकी कृति होती है वह जिंदा रहता है, गुरुदेव भी इन पुस्तकों के माध्यम से रहेंगे और जब-जब इन्हें पढ़ेंगे, जब-जब कविता के पाठ को खोलने में कठिनाई आएगी तो हमारी कल्पना में गुरुदेव ही आएँगे। हमें उन चीजों को समझने के लिए उनके पास ही जाना होगा।

और, अंतिम बात यह कि उनकी एक इच्छा की चर्चा प्रोफेसर तरुण कुमार ने की थी। प्रोफेसर शरदेन्दु कुमार जी ने तरुण जी के पोस्ट के हवाले से अपने फेसबुक पोस्ट में लिखा भी था। उनकी इच्छा यही थी कि उनके पार्थिव शरीर को पटना विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग (दरभंगा हाउस) में जरूर ले जाया जाए। यह कैसी इच्छा थी? यह बहुत भावुक कर देनेवाली इच्छा है। यह होरी की गाय की इच्छा से भी ज्यादा बड़ी आध्यात्मिक इच्छा है, ज्यादा बड़ी सात्विक इच्छा है। वही दरभंगा हाउस, वही हिंदी विभाग उनके लिए 'कर्मभूमि' भी था, 'रंगभूमि' भी था और वे अपना 'गो-दान' भी उसी से करना चाहते थे। यह बहुत अच्छा हुआ कि उनकी इच्छा का सम्मान किया गया। और आज सुबह तरुण सर से बात हुई थी। उन्होंने कहा कि यह सब कुछ संपन्न किया गया। हमलोग हिंदी समाज के लोग, उनके विद्यार्थी, उनके चाहने वाले नवल जी के प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हैं। बहुत-बहुत धन्यवाद !



कोरोना काल की तीन व्यंग्य रचनाएँ

○ सजल प्रसाद

1. अथ कोरोना महाकथा !

रामायण-काल, महाभारत-काल अउर ई आया है कोरोना-काल ! अब ई बात तो सबै समझ लीजिए कि ये कोई त्रेता युग तो है नहीं कि भगवान श्रीराम पधारेंगे। द्वापर युग भी नहीं कि भगवान श्रीकृष्ण अवतरित होंगे।

अच्छी तरह बूझ लीजिए ... ! ई कलजुग है, घोर कलजुग ! तो, कोई रावण या कंस जैसा ही आवेगा न !

... नहीं-नहीं, उनसे भी भयंकर आवेगा। आवेगा क्या .. परदेस के बाद अपने देश में भी अइये गया है न, कोरोना महाराज ! ... बड़ा मायावी है। किसी को दिखाइये नहीं देता है ... वही, मिस्टर इंडिया टाइप !

लेकिन, बहुत कायरो है ई कोरोना। अरे भाई ! हमला करना है तो, सामने से करो या नहीं तो पीछे पर वार करो। ई क्या, कभी आदमी के जुतवे में सट जाते हो तो कभी सब्जी के थैले या दुधवा के पैकेटवा में लटक जाते हो !

ई कोनो अच्छी बात नहीं है, कोरोना भाई ! एगो बात कहते हैं तुमसे! खाली तुम ई सटना-लटकना वाला बिहेवियरवा बदल लो और हम आदमियन को तोहरे काट का एगो वैक्सिनवा बना लेने दो तो खूब जमेगी जब मिल बैठेंगे दीवाने दो ! अरे ! और कौन ? तुम और हम !

उधर, ट्रम्प चाचा भी तोहरा फेस देखने के लिए बेचैन होले हैं। उ तो तोहरा नामकरण भी कर दिये हैं, चाइना वायरस ! ई नाम पसंद ना हो तो कहियो ! ऊहो तोहरा से जाम टकराए खातिर ढेर उपाय करवा रहे हैं ! सब साइंटीस्टवा को जोतले हैं !

अउर इधर, अपने मोदी जी तो तोहरा से लुका-छिपी का खेल हम सबनी के सीखा रहे हैं ! हे कोरोना भाई ! सच कह रहे हैं हम, मोदी जी लोकडौन करके तुमको चकमा देने की जुगत में लगल हैं। लोकडौन वन, टू, श्री अउर अब फोर की तरफ कदम बढ़ाए की तैयारी में हैं। बड्ड खिलाड़ी हैं। बिहार-यूपी के गमछवा की महिमा भी ठीक से समझा गए हैं।

ई मोदी जी भी एक तीर से दूगो-तीनगो शिकार करे में शुरू से माहिर न हैं ! लोकडौन कराके लोगवन के घर में घुसा दिए अउर तोहरा से मुकाबला करे के खातिर डागदर, नरस के लिए प्लास्टिक

के ड्रेस... अरे, उही पीपीई सिलवाने लगे, मस्कवा भी .. ! लगे हाथ वॉटिलेटरवा का भी आर्डर दे दिए .. रेलवा के बोगियो को भी रिजर्व करवा दिए। माने तुमरा हमला हुआ तो तैयारी रहे ! एकरे बीच में तोहरा डर भगाने के लिए थाली पिटवा दिए, दीवाली मनवा दिए !

पर, हे कोरोना भाई ! ई न समझना कि हमरे गरीब-गुरबा मजदूर भाई-बहिन तोहरा डर से पैदल अउर साइकिल से गाँव लौट रहे हैं ... उ तो फैक्टरवा के मालिकन सब के ऐन बखत में मुँह मोड़ लेवे के बाद अउर सरकार के रवैये के बाद भूख से बच्चा लोग जब बिलबिलाए रहे तो इहे देख के मजदूर भाई लोग मजबूर हो गइलन।

हाँ ! कान खोल के सुन लो ओ कोरोना भाई ! महानगरवा में हमरे गाँव-जवार के मजदूर इतना धूल-सीमेंट-केमिकल फाँक लिए हैं अउर गंदवा नाला के बगल वाला झोपड़पट्टी में रह लिए हैं कि उनके इम्युनिटी सिस्टमवा ढेर मजबूत है। उनकर पेट के अन्दर तू जइब त'अ पेटवे में मुआ जइब'अ

फेर, अपन भारत में तो तू जानत ही हो कि अदरख, लहसुन, हल्दी, तुलसी पत्ता जइसन चीज घर-घर रहत है और भारतवंशी इन सब चीज के रोजे सेवन ढेर करत हैं त'अ ऑफिस में काम करे वाला क्लर्क अउर अफसर के इम्यून सिस्टम भी ठीकठाक रहत है। सोमरस के पान करे वाले के तो बाते जुदा बा!

पर, कोरोना भाई ! तोहरा आए के बाद सब मेहरारू शुकुगुजार हैं। काहे ? अरे, शहरवा के सूट-बूट वाले सब मरदवा अपने मेहरारू के काम में खूब हाथ बंट रहे हैं। झाड़ूपोंछा, बरतन, रसोई, कपड़ा धुलाई ... सब काम में ई लोग अब 'आत्मनिर्भर' हो गइल हैं। एकरे साथ मरद लोग भी बड़ खुश हैं। मेहरारू के शॉपिंग बंद है, लिपिस्टिक के खर्चा अलग बच गइल है !

लेकिन, कोरोना भाई ! सबसे इंटेरेस्टिंग बात ई है कि जब मोदी जी लोकडौन कराए त'अ अपने बड़का अम्बानी भाई ... अरे, उही मुकेश भैया अपन 11 हजार करोड़ के लागतवा से बनायल गइल गगनचुम्बी एंटीलिया के पहली बार कोना-कोना देख लेलस ! सो, ओकरो तरफ से तोहरा के खास मुबारकबाद !

2. 20 हजार टका मैं फोटु बिकलौं !

'गे परबतिया के माय ! सुन लैंह ... ! हमरा सब क 'रो पेटो म' भात नै रेलहो रहौं, लेकिन फोटु बिकलौं 20 हजार टका मैं' - फारबिसगंज के क्वारंटाइन सेंटर में कल से ही कैद कैला आश्चर्यमिश्रित भाव से अपनी पत्नी को जोर की हांक लगाकर बता रहा था।

दिल्ली के नजफगढ़ में मजदूरी करके अपना और अपनी पत्नी व दो बच्चों का परिवार चलाने वाला कैला कोरोना महामारी के डर से पैदल ही परिवार व अपना 'कीमती' माल-असबाब की गठरी माथे पर लाद कर फारबिसगंज के लिए 10 दिन पहले रवाना दे दिया था।

फोटु बिकने वाली कैला की बातें सुनकर पत्नी और क्वारंटाइन सेंटर में पहले से रह रहे अन्य लोग भी चौंके थे।

'जान लैंह नै ! ... याद करैं ... जब हमरा सब गाजियाबाद बोर्डर टप लैंह त' एक ठों चार चक्का गाड़ी रुकलौ ' - कैला अपनी पत्नी को जैसे याद कराने की कोशिश कर रहा था।

“हाँ .. हाँ ! याद एलौकोनो परेस-मैडिया के गाड़ी रहै !” – कैला की पत्नी जैसे अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय दे रही थी।

“हाँ ठीके बुझ लैह छैं तों ... बढिया याद आबि गेलौं तोहरा” – कैला पत्नी की याददाश्त का जैसे कायल हुआ। तबतक इन दोनों पति-पत्नी को घेर कर सब लोग खड़े हो गए थे।

क्वार्टाइन सेंटर में लोगों के घेरे के बीच सेंटर में खड़ा कैला कह रहा था – “अरे, की बतइयोह भइया ! उहे परेस-मैडिया क'रो गाड़ी सैं 'हथियार जइसा कैमरा लेकै एक ठों फोटुगिराफर उतरलौ आर दनादन-दनादन हमरौ आर हमरौ परिवार क'रो फोटु खिचेलकौ !”

“तब हमैं पैदल चलते-चलते ही दुधमुंही परबतिया कै अपनो आँग क'रो दूध पीलैतो छलौं” – कैला की बीबी चमक कर बोलने लगी।

“अरे! उही फोटु खिचेलकौं आर उ फोटुगिराफर तोहरों फोटु 20 हजार टका मैं' बेचि दैलकौह !!” – काँख से आज के ताजा अखबार का फ्रंट पेज निकालकर कैला अपनी पत्नी को दिखाते हुए वहीं जमीन पर माथा पकड़कर बैठ गया था और उसकी पत्नी किंकर्तव्यविमूढ़ वहीं मूर्तिवत-सी खड़ी रह गई थी।

क्वार्टाइन सेंटर में बंद एक युवक अन्य लोगों को बता रहा था कि अखबार और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में कैला की पत्नी की तस्वीर आने के बाद सोशल मीडिया में भी फोटो वायरल हो गई थी और एक लोकल न्यूज पोर्टल वाले ने यह पर्दाफाश किया कि उस फोटोग्राफर ने 20 हजार रुपये में एक बड़े अखबार मालिक के हाथ यह फोटो बेचा था। फिर, उस अखबार मालिक ने कई मीडिया हाउस के साथ इस फोटो का सौदा कर पैसा बनाया।

3. वूमेन एम्पावरमेंट (व्यंग्य)

‘अरे यार ! गजब हो गया आज तो !’ – अपने दोस्त अरुण के यह कहने पर थोड़ा चौंककर अनवर ने उसकी तरफ देखते हुए पूछा – ‘क्यूँ, क्या हुआ ?’

19-20 साल की उम्र के ये दोनों लड़के अपने गाँव कदवा में नहर किनारे बतिया रहे थे।

‘अबे ! बता ना !’ अनवर की जिज्ञासा बढ़ गई थी।

इधर अरुण सोच रहा था कि कहाँ से बात शुरू की जाय।

‘देख अनवर, अब हर लड़की से प्यार-मुहब्बत का खेल खेलना बंद करना होगा।’ – अरुण थोड़ा सजग होकर जैसे स्वयं को और अपने दोस्त को चेता रहा था।

‘अबे ! कुछ बकेगा भी कि नहीं !’ – अनवर झल्लाने लगा था। उसे आश्चर्य हो रहा था कि उसके साथ गांजा भरा चिलम उड़ाने वाला अरुण आज संत-मुनि क्यों बन रहा है ?

इधर, सचमुच अरुण की मुद्रा और चेहरे की भाव-भंगिमा ऐसी हो गई थी जैसे कि आज उसे दिव्य ज्ञान प्राप्त हो गया हो !

वह अपने मोबाइल से अपने गाँव और आसपास के गाँवों की लड़कियों के साथ व्हाट्सएप्प और

मैसेंजर पर हुई चैटिंग को डिलीट करने में जुटा था।

यह देखकर अनवर और भड़क गया - 'तू बताएगा या नहीं !' यह कहते हुए उसने अरुण से मोबाइल फोन छीन लिया।

'अब जल्दी बता, क्या हुआ ?' - अनवर ने अरुण की पीठ पर एक धौल जमाया।

'तूने सुना नहीं ... न्यूज पोर्टल नहीं देखा ?' अरुण ने पूछा।

'नहीं, आज मेरे मोबाइल की बैटरी डिस्चार्ज हो गई थी।' यह कहकर अनवर अपने दोस्त का मुँह ताकने लगा।

'जानते हो, ये लड़कियाँ अब हम लड़कों से चार कदम आगे बढ़ गई हैं।' - अरुण अबतक असली मुद्दे पर नहीं आया था और इधर अनवर की बेसब्री बढ़ती जा रही थी।

'आज अपने कदवा में एक लड़की खंभों में ऊँचाई पर लगे ट्रांसफॉर्मर पर शोले फिल्म वाले धर्मेन्द्र स्टाइल में चढ़ गई थी।' - अरुण अब जैसे रहस्य से पर्दा उठा रहा था।

'फिर क्या हुआ ?'- आश्चर्य भाव से अनवर ने पूछा।

'बिजली ट्रांसफॉर्मर पर चढ़ी उस लड़की की डिमांड यही थी कि चूँकि उसका प्रेमी उससे शादी करना नहीं चाहता है, इसलिए गाँव वाले उसकी शादी उसके प्रेमी से करा दें, नहीं तो वह बिजली के नंगे तार से सट कर जान दे देगी।' - अरुण की बातें सुनकर अब अनवर भी भौंचक्का हुआ।

उसे भी याद आया कि कम से कम एक दर्जन लड़कियों से वह भी मुहब्बत का इजहार कर चुका है। ...एक पल उसने सोचा कि कहीं सभी लड़कियाँ ट्रांसफॉर्मर पर चढ़ जाएँ और निकाह करने की डिमांड करने लगे तो वह क्या करेगा ! अधिक से अधिक चार लड़कियों से ही न वह निकाह बना पाएगा . .. और, बाकी आठ ? सोचकर ही अनवर की छुरछुरी छूटने लगी।

'गाँव वालों ने क्या किया ?' - अनवर ने धीमे स्वर में पूछा।

'गाँव वालों ने मकई के खेत में छुपे उसके प्रेमी को ढूँढ़ निकाला और उसे पकड़कर लड़की के सामने ले आए।' - बताते हुए अरुण की आवाज भी मद्धिम हो गई थी।

फिर, कुछ यादकर वह मुस्कुराते हुए कहने लगा - 'वह लड़की भी धर्मेन्द्र स्टाइल में कह रही थी कि अब उसका प्रेमी शादी के लिए तैयार है, इसलिए मरना कैसिल ! ... और, गाँव के मंदिर में दोनों की शादी करा दी गई।'

'अरे यार ! कुछ दिनों पहले मैंने भी कहीं पढ़ा था कि आलमनगर में एक प्रेमिका अपने गाँव के मुस्टंडों के साथ अपने प्रेमी के शादी मंडप पर पहुँच गई जहाँ प्रेमी किसी और लड़की से शादी रचाने के लिए बैठा था यह देखकर दुल्हन के परिवार वाले पीछे हट गए और लड़की के साथ आए मुस्टंडों ने उसी मंडप पर दूल्हा बने प्रेमी के साथ लड़की की शादी करवा दी।' - अनवर का ज्ञान चक्षु अब खुलने लगा था।

'अरे हाँ ! मुझे भी याद आया छपरा में एक लड़की तो बाजे-गाजे के साथ सीधे अपने प्रेमी के घर धमक गई तो मुहल्ले वालों ने लड़के के साथ जबरन फेरे लगवा दिए।' - अरुण भी अपनी जानकारी

शेयर कर रहा था।

इसी बीच अपने बागीचे की तरफ जाने के लिए नहर से गुजर रहे सलमान की नजर इन दोनों पर पड़ी। सलमान भी दोनों का लंगोटिया यार था और दिल्ली में पढ़ाई करता था। इन दिनों लॉक-डॉउन में वह गाँव आ गया था। उसने सवाल किया – ‘तुम दोनों गाँव से बाहर यहाँ क्या गुटुर-गूँ कर रहे हो?’

दो से तीन भले। अरुण ने पास आकर बैठे सलमान को सारी बातें बतायीं। सलमान थोड़ा समझदार था। उसने कहा – ‘अरे यार ! आजकल की लड़कियाँ हों या औरतें, हम लड़कों और मर्दों पर भारी पड़ने लगी हैं।’

‘आज की ताजा खबर सुन।’ – सलमान शुरू हुआ। अरुण और अनवर उसके पास सरक आए।

‘मुरादाबाद में एक बुर्कानशीं बीवी ने दिन दहाड़े अपने शौहर की दूसरी बीवी यानी अपनी सौतन की छाती पर 9 एमएम पिस्टल की गोलियाँ उतार दीं ... खुल्लमखुल्ला मर्डर।’ – सलमान चालू था।

‘पिस्टल चलाने की मॉक ट्रेनिंग उसने कई हफ्ते तक यू ट्यूब देखकर ली थी ... यानी उस पहली बीवी ने वेल प्लांड मर्डर किया था।’ – सलमान किसी न्यूज चैनल के एंकर की तरह बता रहा था।

‘गोली मारने के बाद वह भागी नहीं बल्कि किसी शातिर शूटर की तरह लोगों को डराने के लिए हवा में पिस्टल लहराने लगी ... वीडियो में बड़ी दबंग लग रही थी वो।’ – सलमान की बातें सुनकर अरुण और अनवर खामोश हो गए थे।

‘एक किस्सा और सुनाता हूँ ... मेरा एक पंजाबी दोस्त, जो एक बड़े पैसे वाले बाप का बेटा है, दिल्ली में पीजी हॉस्टल में रहकर पढ़ाई करता है ... उसके क्लास की एक लड़की, जो गर्ल्स हॉस्टल में रहती थी, तीन दिनों की छुट्टियों में अपना बैग समेट कर मेरे उस पंजाबी दोस्त के साथ खुद को दूर के रिश्ते में बहन बताते हुए जबरन रहने आ गई ... वो तो पीजी वाली आँटी की नजरें तेज थीं, इसलिए उन्होंने इजाजत नहीं दी।’ – सलमान की बातें सुनकर दोनों उभचुभ हो रहे थे।

‘बेटा ! ये वूमेन एम्पॉवरमेंट का दौर है ... यूँ तो मर्दों को बुराइयों की खान पहले से ही माना जाता रहा है, लेकिन मर्दों की बराबरी के चक्कर में औरतें भी उन्हीं बुराइयों को अपनाने लगी हैं इसलिए बच के रहना !’ – सलमान ज्ञान बाँच रहा था और ज्ञान की बातें सुनकर अरुण और अनवर हामी में सिर हिला रहे थे। इधर, स्लुइस गेट खोल दिए जाने से नहर में साफ पानी का बहाव तेज हो गया था।

[नोट : कुछ सत्य घटनाओं में कल्पना की चाशनी घुली है।]



छः लघुकथाएँ

○ जगमोहन सिंह

महुआ

महुआ जंगल में अकेली महुआ बीन रही थी। आज महुआ बीनते हुए उसके मुखमंडल में तेज व्याप्त था। उसे देखकर सहज ही अनुमान लगाया जा सकता था कि उसकी कोई साध पूरी होने वाली है।

दरअसल बात यह थी कि कल शाम की अंधड़ ने जमीन पर बहुत अधिक महुआ बिखेर दिया था। ढेर के ढेर बिखरे महुआ को देखकर वह आनंद से झूम उठी। यही नहीं महुआ बीनते हुए लोक-गीत भी गुनगुनाने लगी। उसके द्वारा गाए गए लोक-गीत की ध्वनि से चारों ओर का शांत वातावरण गुंजायमान हो उठा। तभी एक कड़कती हुई गूंज उसके कान में पड़ी। उस गूंज की ओर मुख उठाकर देखने पर वह एक अनजाने भय से कांप उठी। सामने पुलिस का अधिकारी चार दारोगा के साथ भौंहे टेढ़ी कर उसे घूर रहा था। इसी बीच अधिकारी ने कड़कते स्वर में कहा, 'आज हमें बहुत दिनों बाद शिकार मिला है। हम कई दिनों से मतिभंग कर रहे इंसान को ढूंढ रहे थे। हम समझ नहीं पा रहे थे कि पूरा का पूरा गांव कैसे अमली होता जा रहा है ? नशे का व्यापार करता कौन है ? आज हम साक्षात् उस व्यापारी को अपने समक्ष पा रहे हैं। बसअब और नहीं ! अब तुम कानून के चंगुल से नहीं बच सकती। बहुत पैसे जोड़ लिए हैं तुमने ! अब तुम्हें अपने किए का भोग करना होगा। चलो थाने हमारे साथ।' पुलिस की कड़कती गूंज ने महुआ के आनंद को पल भर में उड़ा दिया। वह कुछ समझ नहीं पाई कि करे तो क्या करे ? ऐसा भी नहीं था कि महुआ कुछ जानती ना हो ! उसे जीवन का एक लंबा अनुभव प्राप्त था। कहें कि इस कड़कते स्वर को सुनने का उसे अभ्यास था। उसने अपने आप को संभालते हुए कहा, 'बाबूजीमेरा अपराध क्या है? मैं इन बिखरे हुए महुए को बीन रही हूँ। जंगल में रहती हूँ। प्रकृति की दी हुई भेंट ही स्वीकार करती हूँ। प्रकृति हमारे देवता हैं। वे जो दान में देते हैं। हम उसे आनंद के साथ स्वीकार करते हैं। रही बात पूरे गांव को अमली करने की तो इसमें महुआ का कोई दोष नहीं है। क्या आप नहीं जानते कि जंगल से सटे पक्की सड़क में एक विशाल ठेके की दुकान खुल गई है? वहां बड़े-बड़े अपराधी आते हैं। वे नशा कर बुरी दृष्टि हमारे गांव के ऊपर डालते हैं। आए दिन उनका तांडव हमारे ऊपर चलता रहता है। हमारी बात बाहर तक नहीं पहुंच पाती। जंगल में ही दब जाती है। अब इस जंगल में बूढ़ी और बच्चियां भी सुरक्षित नहीं है। यही नहीं जब उन अपराधियों को कुछ नहीं मिलता तो वे छोटे-छोटे बच्चों को ही उठा ले जाते हैं। क्या आप उन बच्चों के चीत्कार के स्वर नहीं सुन पाते? आप यह जंगल पूरा घूम लीजिएआपको ना जाने कितने भयानक दृश्य दिख पड़ेंगे। कहीं सिसकियां, कहीं चित्कार और कहीं सड़ रहे लोथड़ों की तीखी महक। यही इस जंगल का दृश्य है। आप उस ठेके

वाले से कुछ क्यों नहीं कहते ? पैसों पर वह खेल रहा है। हम गरीबों को दो जून की रोटी मिल जाए यही बहुत है। यदि आप नहीं चाहते कि हमें दो जून की रोटी भी मिले तोठीक हैआज से मैं महुआ नहीं बीनूंगी। मैं यह समझ लूंगी की बिखरे हुए महुए पर भी मेरा अधिकार नहीं है। अब प्रकृति की कोई चीज हमारी नहीं है। उस पर डाका पड़ चुका है..... डाका। लुटेरों का है सब कुछ !’ यह कहते हुए महुआ ने भरी हुई टोकरी उलझ दी और पलक झपकते ही तीर की तरह निकल गई। पुलिस और दरोगा इससे पहले कि कुछ समझ पाते महुआ घने जंगलों में अदृश्य हो गई। अब वहां बिखरा हुआ महुआ और निस्तब्ध खड़ा महुआ का पेड़ भय से उन सभी को देख रहा था। □

जंगल की भाषा

विद्यालय में तर्क-वितर्क का माहौल गर्म था। सभी एक दूसरे पर दोष प्रत्यारोप कर रहे थे। कोई किसी से अपने आप को कमतर आंकना नहीं चाहता था। विद्यार्थी एक दूसरे पर भारी पड़ रहे थे। उसी भीड़ में किस्कू चुप-चाप बैठा सबकी बात सुन रहा था। उसके हृदय में भी भावों का उद्वेग उठ रहा था, किन्तु यहां अपने आप को शांत रखना ही वह उचित समझ रहा था। वह जानता था कि यह व्यर्थ की चर्चा है। समय काटने के लिए किया गया उपक्रम मात्र है। इससे किसी को कोई लाभ नहीं होने वाला है। इसी बीच किस्कू को शांत बैठा देख समीर ने हल्ला बोल दिया। समीर उस पर व्यंग्य वापों की बरसात करते हुए कहने लगा, ‘किस्कूतुम जंगल की भाषा क्यों नहीं बोलते हो ? तुम्हारी भाषा में इतनी सादगी क्यों है? हमें कभी-कभी तुमसे ईर्ष्या होने लगती है ! तुम हमसे भी कहीं अधिक अच्छी हिंदी बोलते हो ! भाषा पर तुम्हारी पकड़ अद्भुत है। परन्तु तुम इस सुधरी भाषा का प्रयोग अपने घर में कहां कर पाते होगे ? वहां तुम जंगली भाषा का ही प्रयोग करते होगे और किटिर-पिटिर न जाने क्या बोलते होगे ? एक बात तय है कि तुम जितना भी प्रयास कर लोअपनी पहचान नहीं छिपा सकते! कुछ बोलने के पहले ही तुम्हारा रंग-रूप चित्कार कर तुम्हारी पहचान व्यक्त कर देता है। कब तक अपने आप से बचोगे ? सत्य कभी छिपता नहीं !’ यह कहकर सभी सहपाठी समीर के साथ ही ठहाका मार उठे। किस्कू ने अब शांत रहना उचित नहीं समझा। उसने पलटवार करते हुए कहा, ‘यह मेरा सौभाग्य है कि मुझे देखकर मेरी पहचान झलकती है। अन्यथा लोगों को देखकर कुछ भी अनुमान लगाना असंभव है। मैं अपनी पहचान नहीं छिपाना चाहता। यही पहचान मेरा अस्तित्व है। मेरी यही पहचान मेरी कथा और व्यथा को प्रकट करने में भी सक्षम है ...और....ये जंगल की भाषा क्या होती है? हमारी एक अपनी संस्कृति है। अपनी सभ्यता है। हमारी एक समृद्ध भाषा है। जैसे तुम सभी अपनी भाषा को लेकर फूले नहीं समाते। वैसे ही हम भी अपनी भाषा को लेकर गंभीर हैं। तुम शायद यह भूल रहे हो कि अब तुम्हारी भाषा पर संकट के बादल मंडरा रहे हैं। यह स्थिति तुम सभी ने मिलकर ही उत्पन्न की है। दूसरी ओर हम अपनी भाषा को लेकर सचेष्ट हैं। उसे नित्य मांजने और परिष्कृत करने का प्रयास कर रहे हैं। हम दूसरी भाषा को हृदय से सीखते हैं। उसमें अथक परिश्रम लगता है, किन्तु तुम दूसरी भाषा के प्रति हीन दृष्टि रखते हो। तुम्हें अपनी भाषा भी ठीक से नहीं आती। इसी कारण तुम्हें ईर्ष्या होती रहती है। इसी ईर्ष्या ने तुम्हारी अपनी भाषा की जड़ों को हिला कर रख दिया है। मैं अपने घर में, अपने परिवार के बीच अपनी भाषा में बात कर आत्मसंतुष्टि पाता हूँ। वह कोई किटिर-पिटिर नहीं है। वह हमारी सहज अभिव्यक्ति है। अपनी भाषा के प्रति प्रेम का भाव है। हमारी भाषा कोई जंगल की भाषा नहीं है।’ किस्कू की बात सुनकर सभी

छात्र स्तब्ध रह गए। उन्होंने स्वप्न में भी नहीं सोचा था कि शांत रहने वाला इतनी तीखी बात कह सकता है। दूसरी ओर समीर के मुखमंडल का रंग उड़ गया था। माहौल को गंभीर होता देख किस्कू ने कहा, 'चलो बाहर टहल आते हैं, अन्यथा मिस पद्मावती आ जाएगी और हमें देव-लोक का भ्रमण कराने लगेगी।' उसकी बात सुनकर एक बार फिर ठहाकों से कक्षा गूंज उठा। □

कच्चा घड़ा

कुएं से पानी भरकर लाते समय आंगन में घड़ा फिसल कर धम्म से गिर गया। मां पाखी को झिड़क कर कहने लगी, 'कर दिया ना सत्यानाश ! कच्चा घड़ा तोड़ दिया ! ब्याह योग्य हो गई है, किन्तु ना जाने क्या सोचती रहती है? ओ महारानी..... कहां खोई रहती हो? इस भरी गर्मी में मैं कहां कुम्हार को ढूँढ़ते रहूंगी ? यह घड़ा दुबारा जुड़ भी तो नहीं सकता ? कच्चा घड़ा था गिरकर चूर-चूर हो गया। अब ऐसा ही घड़ा कुम्हार बनाने से रहा ! ना जाने दिन-दिन इसे होता क्या जा रहा है ? इसीलिए मैं इसे अतिशीघ्र ससुराल भेज देना चाहती हूं। ताकि अतिशीघ्र अपनी जिम्मेदारियों को समझ ले। कम से कम यू कूदती फांदती नहीं घूमेगी। इसे देख-देख मेरे हृदय में हूक उठने लगती है। कहीं कोई ऊंच-नीच ना हो जाए ? अन्यथा मैं कहीं की नहीं रहूंगी। अपने ससुराल चली जाए। वहां जो मन वो करे ! मैं मुक्त हो जाऊंगी ! जा अबखड़ी क्या है? टुकुर-टुकुर क्या ताक रही है?' पाखी, मां की तीखी बात सुनकर वहीं ठिठक गई। उसके पांव जैसे जड़वत हो गए। वह समझ नहीं पाई कि उसने कौन सा अपराध किया है ? रामलाल पाखी की अवस्था देख समझ गए। उन्होंने अपनी बेटी को पुचकारते हुए कहा, 'जाओ बेटी भीतरकुछ पढ़ लिख लो ! परीक्षा समीप है ना ! जाओ !' पिता की बात सुन पाखी कूदती हुई घर के भीतर चली गई। पाखी के भीतर जाते ही रामलाल पत्नी पर बरस पड़े। कहने लगे, 'क्या करती होभगवान ! युवा होती बेटी को कोई भला बात-बात में झिड़कता है ? घड़ा ही ना टूटा है ! मैं आज ही तुम्हें एक नया घड़ा ला कर दे देता हूं। तुम प्रत्येक दिन विवाह, ससुराल की बात को क्यों ले आती हो ? मैंने तुम्हें कितनी बार कहा है कि अभी पाखी की आयु विवाह योग्य नहीं है। अभी उसके खेलने-कूदने के दिन हैं। अभी उसका मस्तिष्क कच्चा है। वह ससुराल का भार नहीं वहन कर सकती। लेकिन मेरी बात का तुम्हारे ऊपर कोई प्रभाव ही नहीं पड़ता है। प्रत्येक दिन किसी ना किसी बात पर उसे झिड़क देती हो। मुझे ऐसा लग रहा है कि तुम्हें पाखी भार स्वरूप लगने लगी है। तुम भूल रही हो कि तुमने ही परिवार में बेटी के आने पर मंगल-पाठ करवाया था। आस-पड़ोस में निमंत्रण दिया था। बेटी तुम्हारे लिए घर के प्रकाश के समान थी। तुम इस टूटे घड़े को देखकर भी नहीं समझ पा रही हो? देख रही हो ना कि यह कच्चा घड़ा तनिक आघात पाकर किस तरह चूर-चूर हो गया। क्या अब इसे पुनः जोड़ा जा सकता है ? नहीं ना ! इसी तरह कच्चा मस्तिष्क और कच्चा शरीर भार वहन नहीं कर सकता है। इसे परिपक्व होने का पूर्ण अवसर मिलना चाहिए। बेटी हमारी घर की ज्योति है। समय आने पर हम उसे उसकी जिम्मेदारियों से अवश्य ही अवगत कराएंगे। तुम व्यर्थ की उंच-नीच की भावना को त्यागो। उसे अभी खेलने कूदने दो।' रामलाल की बात पत्नी टकटकी लगाकर सुन रही थी। हठात् वह उठकर टूटे घड़े के पास चली गई। इसके बाद एक-एक टूटे टुकड़े को उठाने लगी और उसे ध्यान से देखकर बड़े ही जतन से आंचल में रखने लगी। कुछ समय पश्चात उसकी आंखें नम हो गईं। आंचल के कोर से नम आंखों को पोछकर रामलाल की ओर देखते हुए वह मुसका दी।

उपासना गृह

ताई थाल में सजाकर फूल-पत्र ले आई और मंदिर के बाहर से ही उसे चढ़ाकर चली गई। ऐसा वह प्रत्येक दिन ही करती। मंदिर के बाहर से ही आंख मूंदकर प्रार्थना करने के बाद लौट जाती। ऐसा करते समय उसकी अथक दृष्टि मंदिर के कपाट की ओर ही लगी रहती। आज भी ताई अपना वही पुराना क्रम दोहराने लगी। वह जाने लगी, तब सिद्धार्थ ने उसे टोकते हुए कहा, 'आइए ना ताईउपासना गृह के भीतर चलते हैं। मैंने आपको कई बार देखा है कि आप मंदिर के प्रांगण से ही लौट जाती हैं। आपकी उत्सुक दृष्टि की प्रतीक्षा को मैं भली भांति समझता हूं। आप उपासना गृह में क्यों नहीं प्रवेश करती हैं? वहां आपके प्रवेश करने से कौन सा अनर्थ हो जाएगा ? सभी प्रवेश करते हैं। आप भी उसी तरह जाएंगी। मैं आज आपको उपासना गृह के भीतर के दर्शन कराके ही लौटने दूंगा।' ताई, सिद्धार्थ को सशक्तित दृष्टि से देखते हुए कहने लगी, 'काहे पाप का भागी बनते हो बेटा ! मैं उपासना गृह में प्रवेश नहीं कर सकती। यदि मैंने ऐसा कियानहीं नहींअनर्थ हो जाएगा। यह पृथ्वी डोल पड़ेगी। भूचाल आ जाएगा। क्या तुम नहीं जानते कि उपासना गृह में प्रवेश करने की अनुमति स्त्रियों को नहीं है ? कोई भी स्त्री उपासना गृह तक नहीं पहुंच सकती है। मंदिर के कपाट पर खड़े उन वेशधारी पहरेदारों को देख रहे हो ना ! वे मुझे उपासना गृह में प्रवेश नहीं करने देंगे। उनकी दृष्टि गिद्ध की है। तनिक आहत होने से ही उनकी आंखें गोल-गोल घुमने लगती हैं। सभी उपासना गृह में जाते हैं, किन्तु क्या तुमने कभी किसी स्त्री को वहां जाते देखा है ? मैं साहस करके यहां तक आ जाती हूं, किन्तु अन्य स्त्रियां यह साहस नहीं कर पाती हैं। ये वेशधारी पहरेदार मेरे ऊपर भी संदेह करते हैं। अभी तुमसे बात कर रही हूंवे सोचेंगे मैं अवश्य ही कोई षडयंत्र रच रही हूं।किन्तु मैं समझ नहीं पाती कि ईश्वर के द्वार में कौन षडयंत्र रच सकता है। मेरी उत्सुक दृष्टि बाहर से ही ईश्वर को प्रणाम कर अपने जन्म का भाग्य सुधार ले रही है। बेटा स्मरण रखना आने वाली पीढ़ी इस तरह के कई मंदिरों में प्रवेश करेगी। कब तक कोई किसी के प्रवेश में बाधा डाल सकता है। उस समय देखना भूचाल आ जायेगा और कई कुछ अरअरा कर टूट पड़ेगा। यह मनमानी अधिक दिनों तक नहीं चल सकती।' ताई की सत्य एवं कटु बात सिद्धार्थ के हृदय को भेद गई। वह वस्तुस्थिति को जनता था, किन्तु पाप लगने की बात से भड़क उठा। उसने आवेश में आकर कहा, 'किसने कहा कि आपके यहां प्रवेश करने से पाप लगेगा ? यहां प्रवेश कौन करेगा और कौन नहीं? ...ऐसा नियम किसने बनाया है ? विभेद की दृष्टि को किसने इस मंदिर में प्राश्रय दिया है? आप जानती हैं ना कि इस मंदिर के भीतर स्वयं एक देवी प्रतिष्ठित है। अर्थात् वह भी एक स्त्री है। यह कैसा न्याय हैएक देवी की उपासना एक स्त्री नहीं कर सकती। एक देवी के दर्शन से दूसरे देवी को कैसा पाप लगेगा? मैं समझ नहीं पा रहा हूं कि अभी तक ऐसी कुत्सित प्रवृत्ति क्यों विद्यमान है? कहीं यह कोई षडयंत्र तो नहीं? मैं अतिशीघ्र इस षडयंत्र का भांडा फोड़कर रहूंगा। आप निश्चित रहें। मंदिर के बाहर के संदेह को मैं मंदिर के भीतर से उजागर करूंगा।' सिद्धार्थ की ओजपूर्ण बात सुनकर ताई ने कोई प्रतिक्रिया नहीं दी। वह भय से कहने लगी, 'जाती हूं। देख रहे होवह दोनों वेशधारी हमारी ओर ही आ रहे हैं।' यह कहते हुए ताई वहां से चली गई। सिद्धार्थ ताई को जाता और वेशधरियों को अपनी ओर आता देखने लगा। उसके मस्तिष्क को उपासना गृह में जल रही धूप की सुगंध विचलित कर रही थी। उसने मन ही मन निर्णय ले लिया था कि कुछ ना कुछ अवश्य करना होगा। □

नाम

ससुराल में आकर कमलजीत दोहरी पीड़ा का भोग करने लगी। नई जगह और एक नया नाम। उसे ऐसा लगने लगा जैसे उसका अपना कुछ नहीं है। यही नहीं एक नए नाम के साथ वह प्रत्येक दिन घुटने लगी। दिन प्रतिदिन उसका अपना नाम ना जाने कहा विलीन होने लगा। इस तरह धीरे-धीरे उसके हृदय का द्वंद भी बढ़ने लगा। कमलजीत इस नए नाम को स्वीकार नहीं कर पा रही थी। वह अनमनी अवस्था में काम करते रहती। उसके इस आचरण को देखकर एक दिन विप्लव ने क्षुब्ध होकर कहा, 'तुम्हें घर के लोग इतना पुकारते हैं, किन्तु तुम कोई उत्तर क्यों नहीं देती हो ? मुझे लग रहा है कि तुम बहरी होती जा रही हो। आजकल कहां खोई रहती हो ? कुछ सुध भी है कि नहीं। यहां तुम्हारी अलग दुनिया है। तुम्हें हमने एक अलग नाम दिया है। तुम्हें इस बात को गांठ बांध लेनी चाहिए। तुम्हारे मायके का नाम इस घर में नहीं चल सकता। तुम्हारा हित इसी में है कि तुम पुरानी बातों को भूल जाओ। ना जाने कैसा नाम था?...कमल.....जीत ? यह नाम हमारे गले नहीं उतरता। इस नाम में कहीं कोई सुर भी नहीं मिलता। नई-नई दुल्हन होअभी से घर वालों के प्रति तुम्हारा ऐसा व्यवहार हैआगे क्या होगा? मर्यादा का ध्यान रखो। इसी में तुम्हारी ओर हम सबकी भलाई है।' विप्लव ने यह सब एक ही सुर में कह दिया। यह सुन कमलजीत भीतर तक कांप उठी। आज उसका स्त्री-मन जाग उठा। अभी तक वह सब कुछ चुप-चाप देख, सुन रही थी, किन्तु अब वह समझ गई कि जितना ही चुप रहेगीघरवालों की मनमानी उतनी ही बढ़ती जाएगी। यह विचार कर उसने अपनी तीखी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा, 'मर्यादा की बात आप मुझसे ना ही कीजिए। मैं अपनी सीमाओं को अच्छी तरह से जानती हूं। मर्यादा का यह अर्थ नहीं है कि मुझे जैसा कहा जाएगा..... मैं चुप-चाप करती जाऊंगी। मैं यदि मर्यादा का पालन करती हूं तो अन्य भी अपनी मर्यादा में रहेंगे। आप मेरे ऊपर कुछ भी बलपूर्वक नहीं थोप सकते हैं। एक स्त्री कब तक सब कुछ सहती रहे। उसे तोड़ने-मरोड़ने की कु-प्रवृत्ति से अब सभी को बाहर आना होगा, क्योंकि स्त्री जब मुंह खोलती है तब अच्छे-अच्छों की बोलती बंद हो जाती है। ये नीलूनी....लू...क्या है ? कौन है यह नी....लू....? मैं किसी नीलू को नहीं जानती। मैं कमलजीत हूं। कल भी मेरा यही नाम था और आज भी यही नाम है। किसी पर बलात कुछ भी थोपने की जो प्रवृत्ति है, उसमें एक सड़ी हुई मानसिकता की बू आती है। आप जानते भी हैं कि जब घरवाले मुझे नी....लू...कहकर पुकारते हैं तब मुझे कैसा लगता है? मुझे ऐसा लगता है कि जैसे किसी ने सौ-सौ विष के डंक मेरे शरीर में चुभो दिए हों। मैं गुस्से से अपने आप से बाहर हो जाती हूं। सब कुछ तोड़ने-मड़ोरने का मन करता है। कभी-कभी आप तेज बर्तनों के गिरने का स्वर सुनते हैं ना....वह कुछ और नहीं मेरी भड़ास होती है। मुझे ऐसा लगता है कि ऐसा कहने वालों का गला घोट दूं....किन्तु आप सभी इन बातों से अनभिज्ञ होकर आनंद में झूमते रहते हो। आपके आनंद के समक्ष दूसरों का आनंद कोई महत्व नहीं रखता। किन्तु मैं अब और आप सभी के आनंद के लिए अपना गला नहीं घोट सकती। अब तक आप सभी बहुत आनंद में झूमते रहे हो !.बस.....अब..... और नहीं ! यदि आप सभी अपने किए का पश्चाताप नहीं करेंगे ...तब मुझे कोई अन्य व्यवस्था करनी होगी। मैं अपने नाम के साथ और कोई खिलवाड़ नहीं करने दूंगी। आप इसे मेरी व्यथा या धमकी कुछ भी समझ सकते हैं।' कमलजीत की तीखी बात सुनकर विप्लव की आंखें फटी की फटी रह गईं। उसने स्वप्न में भी ऐसी कल्पना नहीं की थी। वह समझ नहीं पाया कि इसमें इतनी शक्ति कहां से आ गई। वह उसे घूरने लगा। शायद आगे की कोई रणनीति बना रहा हो, किन्तु भीतर उसके

कहीं कमलजीत की बात गहरे धस गई थी।

कुदाल

हल्कू ने जैसे ही मेड़ की मिट्टी को काटने के लिए कुदाल उठाया वैसे ही कुदाल के दो टुकड़े हो गए। यह देखकर हल्कू वहीं माथे पर हाथ धरकर बैठ गया। उसे समझ नहीं आया कि अब क्या करे? उसे देखकर अनुमान लगाया जा सकता था कि उसकी अवस्था कितनी करुण हो गई है। दोपहर होने को आया, किन्तु हल्कू उसी अवस्था में बैठा रहा। रधिया भोजन लेकर आई और टूटे हुए कुदाल को देखकर सब समझ गई। तुनक कर कहने लगी, 'मैं कई बार कह चुकी हूं कि इस कुदाल को बदल डालो, किन्तु मेरी सुनता कौन है ? इस कुदाल की किस्मत भी हमारी तरह ही है। यह ...चला गया अपनी जगहअब हमारी बारी है। मैं लाख बार कह चुकी हूं कि इस कुदाल में अब प्राण नहीं है, किन्तु नहीं क्या कह रहे थे ? इससे वर्षों का लगाव है ! इसे मझधार में कैसे छोड़ दूं ? आजीवन हमारा साथ देता रहेगा। लो दे दिया ना साथ ! हमें मझधार में छोड़कर चला गया ना! एक बात सुन लीजिएयहां कोई किसी का साथ नहीं देता। सब दिखावा है दिखावा। अनावश्यक दिखावे का ढोंग करते हैं सब! जिससे स्वार्थ सधता है उसी की जय-जयकार होती है। अब हम इस भरे बरसात में क्या करेंगे ? कैसे चलेगा हमारा काम ? हम खेती कैसे करेंगे ? इतने रुपए कहां है कि एक नया कुदाल ले आए ? यही एकमात्र आश्रय था। इस समय कोई हमारी सहायता भी नहीं करेगा।' यह कहकर रधिया भी टूटे कुदाल के सामने बैठ गई। कुछ समय पश्चात कुदाल के एक टुकड़े को उठाकर वह अपना दुःख प्रकट करने लगी। उसकी यह अवस्था देख हल्कू उसे समझाते हुए कहने लगा, 'तू चिंता क्यों करती है ? मैं कोई उपाय करता हूं ! इतना दिन हमारा काम सध गया है..... आगे भी सध जाएगा। हाथ पर हाथ धरे हम बैठे नहीं रह सकते ना! खेतों में पानी लबालब भरा हुआ है। इन्द्र देवता इस बार खुलकर बरस रहे हैं। हम अपने खेत को यू ही खाली नहीं छोड़ेंगे। एक काम करते हैंजमींदार के पास चलते हैं। वे अवश्य कोई ना कोई व्यवस्था कर देंगे। उनकी बड़ी कृपा है हमारे ऊपर। आगे भी कृपा बनाए रखेंगे। यह मैं जानता हूं।' यह सुनना था कि रधिया का माथा ठनक गया। वह टूटी कुदाल को फेंकते हुए कहने लगी, 'नहीं चाहिए हमें उनसे भीख ! बहुत लूटा है उसने अभी तक ! पूरे गांव को लूटता रहता है। छटांक देकर सब कुछ लूटने की मनमानी उसने बहुत कर ली। अब उसकी कोई मनमानी नहीं चलेगी। अब तक धीरे-धीरे हमारी पूरी जमीन हड़प गया है। इस बचे हुए जमीन के अंतिम टुकड़े को अब मैं नहीं दे सकती। अब मैं सब कुछ समझती हूं। तुम कोई दूसरा उपाय करो। रधिया की बात सुनकर हल्कू की चिंता और बढ़ गई। उदास होकर कहने लगा, 'दूसरा उपाय क्या है ? जमींदार की सहायता लेनी ही होगी! उनकी सहायता ना लिए हमारा काम सध नहीं सकता। ऐसी विपत्ति में कौन हमारी सहायता करेगा ? एक काम करते हैं। इस बार हम उनसे उधार रुपए ना लेकर कुदाल लेंगे और किसी कागज में अंगूठा भी नहीं लगाएंगे।' यह कहकर हल्कू ने रधिया की ओर आस भरी दृष्टि से देखा। रधिया क्या कहती? टूटे हुए कुदाल के टुकड़े को उठाते हुए कहने लगी, 'चलो चलते हैं !' दोनों धीरे-धीरे जमींदार के पास जाने लगे। उन्हें देखकर ऐसा लग रहा था कि जैसे हृदय के दो फाड़ हो गए हों। जैसे-जैसे जमींदार का घर समीप आ रहा था वैसे-वैसे उनकी व्यथा कुदाल की व्यथा के साथ मिलकर और बढ़ती जा रही थी। □

बिहार में बालश्रम : समस्या एवं समाधान

○ सुनीति कुमारी

आम तौर पर यह बात हर जगह स्वीकार की जाती है कि बच्चे देश के भविष्य हैं। यदि ऐसा है तो हमें बच्चों पर विशेष ध्यान देने की परंपरा का सूत्रपात करना चाहिए था, या करनी चाहिए। अगर हम ऐसा नहीं कर पाते हैं तो इसका सीधा-सा अर्थ है कि हमें देश के भविष्य की कोई चिंता नहीं है। भारतीय संदर्भ में यही बात यथार्थ के निकट है। इसका दुष्परिणाम ये हुआ है कि हमारी श्रमशक्ति और श्रमगुणवत्ता का स्तर विश्व के उन चंद देशों की सूची में शामिल है जिनकी गिनती सबसे पीछे होती है। पूरे विश्व में करीब 15.2 करोड़ बच्चे बालश्रमिक के रूप में पहचाने गए हैं जिनमें अकेले भारत से सवा करोड़ बच्चे हैं; और उसमें भी केवल बिहार से 22 लाख बच्चे बालश्रमिक हैं। बिहार में चल रहे कारखानों में एक बड़ी संख्या बाल मजदूरों पर निर्भर करती है। वे बच्चे अपने जीवन और परिवार की बुनियादी जरूरतों को पूरा करने के लिए न्यूनतम दरों पर बारह से चौदह घंटे काम करते हैं। लेकिन उनकी जरूरतें पूरी नहीं हो पातीं। केवल जिंदा रहने भर के संसाधनों पर आश्रित रहकर बालश्रमिक धीरे-धीरे बीमार और कमजोर होते जाते हैं। उनकी कार्यक्षमता घटने लगती है और वयस्क होते-होते लाचारी के उस बवंडर में फंस जाते हैं, जहाँ उन्हें केवल मौत ही बाहर निकालती है। बालश्रम की समस्या एक सुंदर, कोमल, ऊर्जावान और आकर्षक मानवीय जीवन की क्रमशः हत्या का उपक्रम है जो भारतीय समाज में अपेक्षाकृत बहुत पहले से होता आ रहा है। बिहार इस उपक्रम को अंजाम देने में कई कदम आगे है। एक संवेदनशील और मानवीय समाज के लिए यह अत्यंत अशोभनीय है। अतः इस समस्या को समझना और उसका समाधान खोजना हमारी अव्वल प्राथमिकताओं में से एक होना चाहिए। प्रस्तुत शोधालेख का यही उद्देश्य है। यह शोध सरकारी एवं गैर सरकारी शोध संस्थाओं द्वारा प्राप्त कराए गए आँकड़ों के विश्लेषण पर आधारित है। निष्कर्ष के रूप में विश्लेषक का मानना है कि बिहार के संदर्भ में बालश्रम की समस्या अत्यंत गंभीर है और परिस्थितियाँ भी अनुकूल नहीं हैं; इसके बावजूद शिक्षा, जागरूकता और करुणा का प्रसार इस समस्या का बुनियादी उपाय है। कानूनी प्रावधानों को गंभीरता से व्यावहारिक रूप देने के साथ-साथ बालश्रमिकों की शैक्षणिक, आर्थिक और सामाजिक अवस्थिति को नजरअंदाज करते हुए समाज में उनके प्रति एक सहज मानवीय सहानुभूति का विकास सबसे बेहतर समाधान है।

बीज शब्द : बालश्रम, रूढ़िवादिता, भाग्यवाद, आर्थिक असमानता ।

परिचय : बालश्रम अविकसित शारीरिक अवस्था में किया जानेवाला श्रम है जिसके अनेक दुष्परिणाम होते हैं। अव्वल तो श्रमिक का शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य निम्नतम स्तर को प्राप्त कर लेता है जिससे समाज में रुग्ण एवं लाचार लोगों की संख्या बढ़ती चली जाती है जो अंततः पूरे समाज के विकास और स्वास्थ्य को प्रभावित करता है। निश्चित रूप से वह प्रभाव नकारात्मक ही होता है। जिस समाज में रुग्ण

शरीर और मानस वाले लोग जितनी ज्यादा होंगे, उस समाज में भ्रष्टाचार, अव्यवस्था और अमानवीयता उतनी ज्यादा होगी। भारत में, खासकर बिहार में, जो व्यापक समस्याएँ हमारे समक्ष मौजूद हैं और जिनका निदान हम नहीं खोज पा रहे हैं उसका एक तार अमानवीय स्तर को प्राप्त बालश्रम से भी जाकर जुड़ता है। सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक भ्रष्टाचार अगर बालश्रम के लिए जिम्मेदार हैं तो बालश्रम भी ऐसे भ्रष्टाचार को पोषित करता है। बालश्रम पर पूंजीवादी अर्थतंत्र का एक बड़ा नेटवर्क आधारित है जिसके मुनाफे से राजनीतिक भ्रष्टाचार, सामाजिक, पारिवारिक व नैतिक व्यभिचार के अतिरिक्त सांप्रदायिक राजनीति को भी पोषित किया जाता है। इतना ही नहीं बालश्रम की परिणति वेश्यावृत्ति, मानव तस्करी, नशेबाजी जैसी चीजों में भी होती है जिससे एक अमानवीय समाज को बल मिलता है। कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि किसी देश व प्रदेश में भ्रष्टाचार, शोषण, सामाजिक असमानता और अनैतिकताओं के महाजाल से बालश्रम का गहरा संबंध है। अतः बालश्रम को हल्के में लेना किसी भी देश के लिए खतरनाक है।

जैसा कि कहा जा चुका है कि सामाजिक, राजनीतिक, शैक्षणिक और आर्थिक समस्याओं से बालश्रम का गहरा जुड़ाव है। समाज में जो अंतर्विरोध होते हैं उसे राजनीति सुलझाती है, शिक्षा उसमें महत्वपूर्ण भूमिका निभाती है और आर्थिक संसाधन उस प्रयास को आसान बनाते हैं। बिहार के संदर्भ में ये सारी शक्तियाँ बालश्रम के लिए जिम्मेदार हैं। बिहारी समाज का अंतर्विरोध अन्य प्रदेशों की अपेक्षा अधिक गंभीर है। यहाँ का समाज जातीय संरचना के अनुदिश काम करता है। सदियों से चली आ रही जातीय संरचना में विश्वास बिहारी समाज की सबसे बड़ी कमजोरी है जिसके कारण निचले तबके के लोगों को एक सीमित दायरे में विकास करने की छूट है, उस दायरे का अतिक्रमण उनके अस्तित्व के लिए प्रायः खतरा बन जाया करता है। परिणामतः उसकी आर्थिक अवस्थिति में कोई परिवर्तन नहीं आता। उसके जीवन से भूख गरीबी का कभी अंत नहीं होता। अतः निचले पायदान पर खड़ा समाज अपने लिए कोई सम्मानजनक सपना नहीं संजोता। दो जून की रोटी मिल जाय, वही काफी है। इस मानसिकता के कारण उनके लिए शिक्षा का कोई महत्व नहीं रह जाता। वे रोजी रोटी को चरम महत्व देते हुए अपने बच्चों को वयस्क होने से पहले ही काम पर लगा देते हैं। काम भी पहले से तय है, मजदूरी का। इस तरह निचले तबके में पैदा होने वाले बच्चे एक परंपरा के तहत मजदूरी को अपना नसीब बना लेते हैं। बालश्रमिक बनने की यात्रा यहीं से शुरू हो जाती है। इसे निचले तबके के भाग्यवादी होने का परिणाम भी कहा जा सकता है। वस्तुतः हमारे समाज की जो पारंपरिक सामाजिक व्यवस्था रही रही है वह सामंती है। इस व्यवस्था में श्रम करने वाले को जिंदा रहने भर के लिए अति आवश्यक चीजें दयापूर्वक दे दी जाती हैं। उन अति आवश्यक चीजों को देकर दाता दयावान और धर्मात्मा होने का सुख पाता है और लेने वाला उसे प्रभु का प्रसाद समझता है, उसे ही अपना भाग्य मानता है। यह भाग्यवाद और उस भाग्यवाद में विश्वास करने वाला हमारा रूढ़िवादी समाज एक रोग को जाने-अजाने पोषित करता है।

निचले तबके की पारंपरिक मानसिकता और आर्थिक तंगी के कारण अगर बच्चों के बालश्रमिक बनने की प्रक्रिया शुरू होती है तो ऊँची जाति की मानसिकता के कारण उनके शोषण की प्रक्रिया शुरू होती है। विदित है कि बिहार में चलने वाले तमाम कारखानों के मालिक अगड़ी अथवा समृद्ध जाति से ही आते हैं और वे सभी मनुवादी विधान के तहत निचली जाति के लोगों से घृणा करना धार्मिक कृत्य समझते हैं। इसलिए कोई ठोस कारण न हो तब भी वे धर्मपालन हेतु श्रमिक बालक से अभद्र व्यवहार करते हैं, उसके साथ सख्ती बरतते हैं, उसके साथ अमानवीय व अनैतिक व्यवहार करते हुए उसका

आर्थिक, मानसिक व शारीरिक शोषण करने के लिए तत्पर रहते हैं। इसे आप प्रमुख न भी मानें तो भी यह एक महत्वपूर्ण कारण तो है ही।

बालश्रम के पल्लवन और पुष्पन में अगली भूमिका बिहार में आर्थिक संरचना की है। बिहार की आर्थिक संरचना पर भी सामाजिक संरचना का प्रबल प्रभाव है। मुख्य रूप से यह किसानों की व्यवस्था पर आधारित है। इसे किसानों की व्यवस्था न कहकर महाजनी सभ्यता पर आधारित आर्थिक संरचना कहना ज्यादा तर्कसंगत होगा; क्योंकि किसानों की व्यवस्था में सूद और ब्याज का ऐसा मकड़जाल परिव्याप्त है कि जो छोटा किसान होगा, उसे अंततः मजदूर बनना पड़ता है और ब्याज की रकम चुकाने के लिए उस किसान बनाम मजदूर की अगली पीढ़ी स्वतः मजदूर बनकर पैदा होती है। संतान अगर कन्या हुई तो बेच दी जाएगी अथवा दाई बनकर कर्ज देने वाले की सेवा करेगी और संतान अगर पुत्र हुआ तो बाल मजदूर बनकर जैसे तैसे आजीविका कमाते हुए, अपना शरीर गलाते हुए, आधी जवानी में मौत को न्योता देते हुए पिता द्वारा ली गई कर्ज-राशि का जीवन भर सूद चुकाएगा। इस तरह बालमजदूरी विरासत में मिलने वाली चीज ही ज्यादा लगती है।

बालश्रम को अंजाम देने वाला सर्वप्रमुख तत्व अशिक्षा है। शिक्षा के अभाव में बालश्रमिक को अगर मौका भी मिले तो वह अपनी स्थिति सुधारने की स्थिति में नहीं होता। शिक्षा की शक्ति से लैस हुए बगैर बालश्रम से निपटना कपोल कल्पना से ज्यादा कुछ नहीं। इसलिए पूंजीवादी शक्तियाँ हमेशा से इस प्रयास में रहती हैं कि जनसामान्य तक शिक्षा पहुँचे ही नहीं। और, अगर पहुँच भी जाय तो वह इतने निम्न स्तर का हो कि उससे किसी परिवर्तन की कामना बेमानी हो जाय। बिहार में राजनीति और पूंजीवाद ने इस संदर्भ में कमाल का काम किया है। दोनों के गठजोड़ से जनसामान्य को मिलने वाली शिक्षा इतनी निम्नस्तरीय हो गई है कि वह बालश्रमिकों की बात तो छोड़ दीजिए मध्यवर्गीय परिवारों के शिक्षितों का नसीब भी नहीं बदल पा रही है। संभव है वे भी बालमजदूरों के समकक्ष बैठने की स्थिति में आ जाएं।

इस प्रकार जातिवादी समाज, भ्रष्ट राजनीति, अशिक्षा, महाजनी व पूंजीवादी आर्थिक संरचना और रूढ़िवादिता ने बिहार में बालश्रम के अभिशाप को अपेक्षाकृत अधिक प्रभावशाली बना दिया है।

समस्या : बालश्रम वर्तमान बिहार की सबसे बड़ी चुनौती है। बिहार के लिए यह सबसे बड़ी समस्या है। बिहार केवल बालश्रम की समस्या का भोक्ता ही नहीं रह गया है वह इस समस्या का उत्पादक प्रदेश भी बन गया है। आज समूचे विश्व में बिहार के श्रमिकों का फैलाव तेजी से हो रहा है। आदिवासी, दलित, अति पिछड़े वर्ग के बच्चे व बच्चियाँ अपने परिवार की बदहाली से शिकस्त हो काम की तलाश में बिहार से बाहर पलायन कर रहे हैं। बिहार के बाहर अन्य प्रदेशों में काम करने वाले बालश्रमिकों में बहुसंख्यक बच्चों का संबंध बिहार से है। वे अत्यंत खतरनाक कारखानों में बिना किसी सुरक्षा व्यवस्था के काम करते हैं। वहाँ उन्हें कम मजदूरी तो मिलती ही है उसके साथ-साथ कई प्रकार की मानसिक, शारीरिक व भावनात्मक त्रासदी का भी सामना करना पड़ता है। उनकी यही स्थिति बिहार में भी है। 14 वर्ष से कम आयु के बालश्रमिक आम तौर पर होटलों अथवा रेस्तरांटों में मेजों की गंदगी साफ करने, गंदे बर्तनों को साफ करने, कल-कारखानों के दूषित वायुमंडल में खतरनाक मशीनों पर काम करने अथवा मालिकों एवं संयोजकों की झिड़कियाँ सुनने को मजबूर होते हैं। ऐसे मजबूर बच्चे अपने भविष्य का सुनहरा स्वप्न नहीं देख सकते। और, हमारी विडंबना ये है कि हम इन्हें देश का भविष्य कहने में कोई संकोच नहीं करते। या तो इन्हें देश का भविष्य मत कहिए; और, यदि कहना चाहते हैं तो अपने देश के भविष्य को इतना मजबूर मत बनाइए।

समाधान : मजबूर बच्चे देश को मजबूर ही बनाएंगे। अगर हम चाहते हैं कि हमारा देश व प्रदेश अपने पिछड़ेपन की मजबूरी का रोना न रोए तो सबसे पहले हमें अपने देश व प्रदेश से बालश्रम को जड़ से खत्म करना होगा। इसके लिए निम्नलिखित बातों पर अमल करना समीचीन होगा -

1. चूँकि, बालश्रम का सीधा संबंध आर्थिक एवं सामाजिक संरचना से है अतः हमें अपने समाज को एक व्यापक शिक्षा-कार्यक्रम से जोड़ना होगा। बिहार में एक ऐसी शिक्षा प्रणाली विकसित करनी होगी जिसमें सभी जाति के बच्चे एक साथ एक जैसी शिक्षा पाएं। शिक्षा में भेद-भाव नितांत अनुचित है। इसलिए सरकार को निजी शिक्षालयों को अपने अनुशासन में रखकर उपभोक्तावादी शिक्षा देने पर पाबंदी लगानी चाहिए। संभव हो तो प्रदेश के सभी निजी शिक्षालयों को अपने नियंत्रण में लेकर सरकारी और गैर सरकारी का फर्क मिटा देना चाहिए ताकि समाज के हर तबके से आने वाले बच्चे समानता महसूस कर सकें, उनमें आत्मविश्वास का विकास हो और हर तबके के बच्चों के साथ रहने से एक प्रकार की करुणा का उदय भी हो सके। ऐसा अक्सर देखा गया है कि एक ही कक्षा में पढ़ने वाले बच्चे एक दूसरे के इतना निकट आ जाते हैं कि उनके बीच के सारे फासले मिट जाते हैं, उनका जातीय विद्वेष समाप्त हो जाता है और भविष्य में वे एक दूसरे की मदद करते हुए सामाजिक समानता, भाई-बंधुत्व की भावना के संरक्षक बनते हैं।

2. बालश्रम भूख और गरीबी का दुष्परिणाम है। अतः पूरे प्रांत में रोजगार के अवसर का होना अति आवश्यक है। छोटे-छोटे उद्योग खोलकर गरीब परिवार के प्रौढ़ सदस्यों को रोजगार देने से बालमजदूरों की संख्या में कमी तो आएगी ही, पूँजीवादी शक्तियों की ताकत भी खंडित होगी। उस परिस्थिति में उनका शोषण तंत्र टूटेगा और मजदूरों को सम्मानजनक शर्तों पर काम मिलेगा।

3. हमारे समाज का पूरा ढाँचा महाजनी सभ्यता पर आधारित आर्थिकी का पर्याय है। अतः यह सोचना ठीक नहीं है कि हम सांस्कृतिक समाज में रहते हैं। हमारा समाज मूलतः यथार्थवादी है। अतः समाज का वास्तविक यथार्थ गरीब और निचले तबके को बताते हुए उन्हें जागरूक करना होगा; साथ ही उन्हें शिक्षित होने की प्रेरणा देनी होगी ताकि वे भाग्यावाद और रूढ़िवाद से मुक्त होकर शिक्षा की शक्ति को समझें तथा उसका उपयोग कर सकें।

3. उक्त उपायों के अतिरिक्त सरकार ने कुछ कानून बनाए हैं जिसका शिद्दत से पालन हो तो अच्छा है। परंतु यह तबतक संभव नहीं जबतक हमारे समाज में जागृति नहीं आती है। अतः ज्यादा ध्यान इस बात पर देना चाहिए कि हम पूरे समाज को बालश्रमिकों की त्रासद स्थिति से कुछ इस तरह अवगत कराएँ कि समाज बालमजदूरों के प्रति करुणा को स्वतः महसूस करे। करुणा सच्चे विवेक का जनक है इसके बगैर शोषण को स्थायी रूप से खत्म नहीं किया जा सकता।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि हम लाख कानून बना लें फिर भी बालश्रम को बिहार से खत्म नहीं कर सकते हैं। इसके लिए जागृति, शिक्षा, रोजगार और करुणा के विकास पर अधिक जोर देना होगा।

संदर्भ:

1. चाइल्ड केयर इन इंडिया, उषा शर्मा, मितल पब्लिकेशंस, नई दिल्ली, 2006.
2. 'मानवता के नाम पर कलंक', अर्चना श्रीवास्तव, योजना, अंक 52, 2008, पृ. 21-23.



Humanistic Approach and Celebration of 'Self' in Walt Whitman's 'Song of Myself'

● ANJANI KUMAR SHARMA

Walt Whitman is a great American poet of 19th Century. He is well known for his style of writing which was instantly recognisable. He emphasised more on the individuality of a being, that is, individual self. He was very much inclined towards using free verse in his works which added a stylistic beauty to his poems. Whitman belonged to the transcendental age so the effect of this period was seen profusely in the works written by him. He touched the hearts of his readers by fusing the partiality and truth of life with nature and humanity. This gave a special touch to his poems and he was understood more. He believed that soul is very important in a human being and thus it's the soul which makes a man human. He often applied the theory of democracy to the self and thus equalised body and soul. He said that if an individual self is democracy then everything or rather every part of the individual should be equal and important. Therefore, the body and soul are equivalent to each other.

"Song of Myself" is a very important piece of work composed by Walt Whitman. It is part of the collection of "Leaves of Grass". It was among the 12 original pieces of composition of Waltman which was published in the 'Leaves of Grass', in the year 1885. However, like many other Whitman's poem "Song of Myself" was too revised extensively and was given a final touch that appeared in the year 1881 after publication. "Song of Myself is a vivid combination of sermons and poetic meditation. It has intensive biographic touch too.

As the name suggests "Song of myself" gives importance to oneself, that is, the poet himself as this poem presents a series of references and implications from the life of Walt Whitman and his disoriented identity and fragmented self. Whitman portrays himself in both humanistic as well as a universal context for it presents and relates to all the other human beings' personal life condition. The readers could identify themselves and related their life with the poet's condition in the poem so it became relatable and interesting for the readers. Whitman not only worked on the humanistic approach for this poem but also gave importance to psychoanalytical side of the human beings. The

poem sheds light on the poetic anticipation as well as shadows the current hard situations of individual that cause a lot of fragmentation, uncertainty, disappointment, depression and sorrows in the lives of general human being. Whitman believe that in the life of a human being there is a lot of uncertainty and thus they are not stable selves and this instability causes a lot of hindrance in their lives resulting in loss of hopes and a huge confusion. This life condition brings a lot of disintegration and leads to an unidentified identity for the human beings therefore this poem highlights the fusion of self and identity and a sense of identification is seen in the poet's self with other people individuality who are in search of stability, social and psychological mobility and uniqueness in their lives. The poem "Song of Myself" presents a modernized vision of a powerful American poet which shows the universal self and relate it to the individual identity of the people of America. Basically, the poet the poetic identity and self that are presented in the poem is a fresh condense discourse which directly relates to the realities of the Americans.

Poetically speaking the poet has captured the site and soul of the Cosmopolitan self and has metaphorically depicted the people of United Nation of America as his own self by referring to daily life ideas and rituals using a new and vivid surprising poetic mode. The word "song" in the title of the poem shows the poetic adaptation or motive rather metamorphosis by using the nature imagery and societies as the two important driving force for this transformation. The poem is humanistic in approach for it depicts a close relation of self-expression and human soul in relation to the modern human being in various aspects of life. It can be inferred that these words shown in the poem present the prominent feature of Whitman's poetics for example free verse, musicality, open form and prose like language that are derived from the language of everyday speech of the people.

Whitman composes 'song' in the light of his anxieties and dreams within the cultural, political, sociological and humanistic context of the age. The poet has tried to reconcile his own inner self with the contemporary modern, social and political individual thoughts of the societies. He has tried to build up his autonomous self, inspired by the modern individual self in order to bring the touch of realism in the poem.

Automatically there is a poetic Persona which has biographical overtones with Whitman's own lifewho stands metaphorically for a more universal context that is, the life of all the individuals of America during that period. The poet has tried to bring forward the conflict between the mind and the soul and has given importance to the soul.

In the poem Whitman celebrates the self, which he says is individualistic and collective as well. He talks about three types of selves in his poem. The first being the individual self, second, the self in relation to others and third how it relates to elements

in nature and universe. Whitman says that though every individual is a particular self, which is a spiritual entity which interacts with others elements in the universe, yet it maintains a particular aura, that shows the individuals spiritual, intellectual and artistic being.

This poem is a celebration of self and individuality, in particular American individuality. He has universalized the concept of "I", to include all the elements in universe, their experiences and their contributions. Whitman proposes the view that each individual being on this earth has significance, and a role to play, whether it's dead or alive, it plays a role. Whitman celebrates the mystic union of his self and his soul. He used varieties of symbols and imageries to represent the equation. The poem was without a title when it was first published in his collection "Leaves of Grass". It was called 'A Poem of Walt Whitman, an American' until he changed its name to "Song of Myself" in 1881, implicating a border sense.

He begins the poem by talking about its subject himself. He says that he celebrates himself and as well as other selves that is, the other peoples, who too are like him, and he is like them. He uses symbols like 'perfumes' for individual's uses and 'rooms for civilization', and 'the atmosphere for the universal'.

"The atmosphere is not a perfume, it has no taste of distillation, it is odourless."

These symbols join him with nature and its energy and its effects on the self. Whitman's idea of writing about the self emanated from his personal experiences as a nurse in American civil war and particularly Abraham Lincoln's assassination on 1865.

Whitman further goes on to describe an encounter between his body and soul in the poem. He tells his 'soul to loaf with him on the grass, to tell him with its valued voice, to settle upon him, to undress him and reach inside him until the soul feels his feet, which will give him peace, which is the gift of God that allows people to become his brothers and sisters'.

Relating self to natural elements again, Whitman talks about grass as a metaphor for the flag of his disposition handkerchief of the lord and also a symbol for all humanity. He uses symbol to describe the democratic self. The theme of individuality and collectiveness is seen throughout the poem and to show this theme he has put several examples in the poem.

In this poem Whitman's identity becomes a metaphor for it constitutes the life of all the other individual of America during that time. Whitman has tried to mirror his own self which is fragmented and unstable through the lives of other individual beings. He has tried to showcase the parallel relationship between the lives of general human beings or individuals with his life of the protagonist in the poem so as to show the general problems and identity crisis at that time. During Whitman's age the Americans had almost lost the vision of the 'idea of individualism' because of which there erupted

a phenomenological concept of racism, segregation, Marxism, equality, community, sexism etc. Whitman has tried to draw a parallel relationship between the human individual self and their relationship with the society. Apparently, Whitman has tried to bring forward the macrocosm through microcosm. Here the poet's concept of 'self' has a double structure meaning which contains body and soul on microcosmic and macroscopic level. He has tried to show the basic concept of self by displacing it with preceding images with new poetic modes and relating it to the Nature and its aspects.

References:

- Greenspan, Ezra. ed. (2005). Walt Whitman's 'Song of Myself': A Sourcebook and Critical Edition. NY: Routledge.
- Hermansen, Andy. (2010). I Am the Poet of the Body and I Am the Poet of the Soul: Whitman and the 'New Bible' of Leaves of Grass. Retrieved April 18, 2013, from <http://teachthislit.wordpress.com>
- Bloom, Harold ed. Ralph Waldo Emerson. New York: Chelsea House, 2007. Print.
- Kaplan, Justin. Walt Whitman. New York: Simon and Schuster, 1980. Print.
- Merleau-Ponty, Maurice. Phenomenology of Perception. New York: Routledge, 2014. Print.
- Marki, Ivan. "Leaves of Grass, 1855 edition." Walt Whitman: An Encyclopedia. J.R. LeMaster and Donald D. Kummings, eds., New York: Garland Publishing, 1998.



लेखक परिचय एवं संपर्क :

- दिनेश राम : सहायक प्राध्यापक, हिंदी विभाग, शहीद भगत सिंह कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय; मो. 9868701556.
- आशुतोष पार्थेश्वर : एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी एवं आधुनिक भारतीय भाषा विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, प्रयागराज; मो. 9934260232.
- सुरेश चंद्र : प्राध्यापक एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, दक्षिण बिहार केन्द्रीय विश्वविद्यालय, पंचानपुर रोड, गया, बिहार। मो. 9612826588
- जीनत ज़्या : शोधप्रज्ञ, हिंदी विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।
- देवचंद्र भारती 'प्रखर' : हिंदी प्रवक्ता : हरिनंदन स्नातकोत्तर महाविद्यालय, चंदौली (उत्तर प्रदेश); मो० : 9454199538
- चंदन साव : 36/2, एस.बी.एम. रोड, चंपदानी, वैद्यबटी, भद्रेश्वर, हूगली, पं. बंगाल; मो. 7980306709.
- कुमार भास्कर : अस्सिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभाग, शहीद भगत सिंह कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली।
- जितेन्द्र कुमार यादव : सहायक प्राध्यापक, मोतीलाल नेहरू कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय, पटना; मो. 9968124622.
- आशुतोष मिश्र : अध्यापक, ज्ञान निकेतन गर्ल्स स्कूल दीघा, वीर कुँवर सिंह चौक, केसरी नगर, पटना; मो. 9931824865.
- मुकुल : सहायक शिक्षक, उड़ेहन, ना. उ. विद्यालय, बिहटा; संपर्क : मस्जिद गली के निकट, बिहटा, पटना; पिन : 801103; मो. 9835891709.
- कविता विकास : प्रतिष्ठित साहित्यकार, डी. - 15, सेक्टर - 9, पी. ओ. - कोयलानगर, जिला - धनबाद, पिन : 826005, झारखण्ड; Mobile : 09431320288
- एस. एन. वर्मा : एसोसिएट प्रोफेसर, इतिहास, राजकीय महाविद्यालय, सेवापुरी; मो. 8115705206.
- डी. एन. यादव : वरिष्ठ प्रवक्ता (हिंदी), मेरठ; मो. 9412834040.
- अंजय कुमार : प्रशिक्षित स्नातकोत्तर शिक्षक, हिंदी, राज्य संपोषित +2 विद्यालय, पतरातू, रामगढ़, झारखंड; मो. 8877034820

- केदार सिंह : विनोबा भावे विश्वविद्यालय, हजारीबाग, झारखंड- 825 301, मो- 09431797335
- कमलेश वर्मा : एसोसिएट प्रोफेसर, हिंदी; संपर्क : ए-20, संधिनी, त्रिदेव कॉलोनी, चौदपुर, वाराणसी; मो. 9415256226.
- सुशांत कुमार : शोधप्रज्ञ, हिंदी विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना; मो. 8873975622
- सजल प्रसाद : एसोसिएट प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिंदी विभाग, मारवाड़ी कॉलेज, किशनगंज। मो. 9113432820, 9431288631.
- जगमोहन सिंह : सहायक प्रवक्ता, हिंदी रानीगंज महिला (गर्ल्स कॉलेज) महाविद्यालय, पश्चिम बंगाल; मो. 8967477761.
- सुनीति कुमारी : पी-एच.डी. (गृहविज्ञान), गृहविज्ञान विभाग, एल. एम.एन.यू., दरभंगा।
- अंजनी कुमार शर्मा : सहायक शिक्षक, अंग्रेजी, टी.पी.सीनियर सेकेंडरी हाई स्कूल, बिहटा।



SATRAACHEE
Research Journal of Social Sciences and Humanities

Membership Form

Dear Editor,

I wish to be a Five year Member / Life Member of "Satraachee."

*Name (In Block letters):**

Date of Birth:

*Mailing Address:**

.....

.....

.....

*Pin :**

*Mob :**

Institution / Address:

.....

*Email :**

Academic Qualification :*.....

Profession :

Field of Research :.....

Nature of Membership (Five Year / Life time) :*

Fee for membership : Rs. -

Place / Date :


satraachee

Signature

अकर्ता

तुम तो
जब कुछ रचोगे
तब बचोगे

में नाश की संभावना से रहित
आकाश की तरह
असंदिग्ध बैठा हूँ!

— भवानीप्रसाद मिश्र

